साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द-कोश

साहित्यशास्त्र का

पारिभाषिक शब्द-कोष

[रस, रीति, गुण, दोष, अलंकार, ध्वनि, शब्द-शक्ति, औचित्य, वृत्ति, वक्रोक्ति, साहित्यालोचन, साहित्यवाद, काव्यांग, नाट्कशास्त्र और छन्दःशास्त्र आदि का पारिभाषिक शब्द-कोष.]

लेखक

राजेन्द्र द्विवेदी

एम. ए., शास्त्री, साहित्यरत्न

१९५५

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

काश्मीरी गेट,

दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६
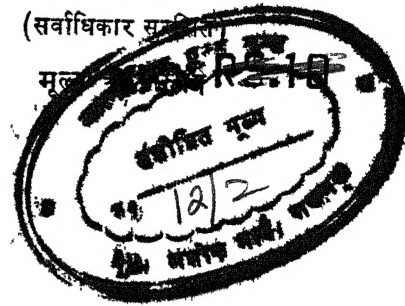
मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

निवेदन

व्यापक अर्थ में विचारों की शब्दात्मिका अभिव्यक्ति मात्र को साहित्य कह दिया जाय, परन्तु सीमित अर्थ में अपेक्षतया परिष्कृत और कलात्मक कृतियाँ[1] (सर्वश्रेष्ठ विचारों की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति)[2] और उनका आलोचनात्मक परिशीलन ही साहित्य कहा जाता है। "साहित्य को भी अपने आपको सुन्दर रूप में अभिव्यक्त करना पड़ता है। उसे अलंकारों का, छन्दों का और इंगितों का सहारा लेना पड़ता है, दर्शन और विज्ञान के समान निरलंकृत होने से उसका निर्वाह नहीं हो सकता।"[3] यहीं साहित्यशास्त्र[4] का प्रवेश होता है। साहित्यशास्त्र काव्यशास्त्र[5] और अलंकार-शास्त्र प्रायः पर्यायवाची रहे हैं, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र शब्द को अपेक्षतया कुछ व्यापक अर्थ में लिया गया है, काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के सांगोपांग विवेचन के साथ ही छन्दःशास्त्र का भी उसमें अन्तर्भाव लेखक को अभीष्ट रहा है।

साहित्यशास्त्र की मीमांसा का सूत्रपात आज से सहस्राब्दियों पूर्व हो चुका

---

1. Literature in the widest sense is the expression, representation or manifestation of thought by means of alphabetical symbols called letters--the products being considered as a collective body without special regard to the excellence and beauty of the form of expression. But in a restricted and usually preferred sense only the more polished or artistic class of such products together with the critical knowledge and appreciation of them may be called literature.
—*Encyclopœdia Americana.*

2. Literature—A general term which in default of precise definition may stand for the best expression of the best thoughts reduced to writing.—*Encyclopœdia Brittanica.*

३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : साहित्य पृ० ४।

४. जिस शास्त्र से काव्य का तत्व, रहस्य, मर्म, मूल रूप तथा उसके अवान्तर अंग सब परस्पर व्यूढ़ रूप से जान पड़ें और जिससे कविता के गुण-दोष के विवेक की शक्ति जागे तथा अच्छी कविता करने में सहायता मिले, वह साहित्यशास्त्र है।

—डा० भगवानदास : द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ—रसमीमांसा लेख; पृष्ठ ३।

५. 'राजशेखर के समय इस शब्द (साहित्यशास्त्र) का प्रयोग काव्यशास्त्र के अर्थ में होने लगा था।'—अलंकार-पीयूष उत्तरार्द्ध पृ० ६।

था। प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में ही 'द्वा सुपर्णा' आदि मनोरम उपमाएँ दृष्टि-गोचर होती हैं। अथर्ववेद विश्वकर्त्ता को 'स्वयं रस से तृप्त, कहीं से किसी प्रकार से न्यून नहीं'[1] बताता है। भरत से भी पूर्ववर्ती आचार्यों के अप्रत्यक्ष उल्लेख मिले हैं।[2] यास्क अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य का उपमा का लक्षण देकर ऋग्वेद के उदाहरण देते हैं। पाणिनि भी पूर्ववर्ती कृशाश्व और शिलालि के नटसूत्रों का उल्लेख करते हैं। वाल्मीकि की स्वस्थ उपमाएँ भी कम प्राचीन नहीं हैं। इसी प्रकार बोसेनके ने ग्रीक-साहित्य की आद्य-विभूति 'इलियड' (होमर) के ढाल पर उत्कीर्ण सुवर्ण-हल और जुती हुई श्यामल-भूमि के वर्णन का उल्लेख किया है। जार्ज सेंट्सबरी सोफिस्ट को पहला आलंकारिक मानते हैं और एम्पीडाकिल्स को उसका आविर्भावक मानने वाली अनुश्रुति का उल्लेख करते हैं। काव्यशास्त्र (पोइटिक्स) के अमर प्रणेता अरस्तू भी ईसापूर्व चौथी शताब्दी में हुए थे। भरत का समय पी० वी० काने ख्रिष्टाब्द के आस-पास मानते हैं और डा० एस० के० दे उससे दो सौ वर्ष तक पूर्व या पश्चात्। अरस्तू के बाद ग्रीक काव्यशास्त्रियों में 'आन दि सब्लाइम' के प्रणेता लांजाइनस का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है। जार्ज सेंट्सबरी ने लैटिन काव्यशास्त्रियों में 'डे आर्टे पोइटिका' के लेखक होरेस और 'वल्गरी एलोकुओ' के लेखक दांते के नाम विशेष आदर के साथ लिये हैं। संस्कृत में भरत के बाद रुद्रदामन् के शिलालेख (द्वितीय शताब्दी ईसवी) से तत्कालीन काव्यशास्त्र के विकास पर प्रकाश पड़ता है। अग्निपुराण के प्राचीनतम अंश भी बहुत पुराने हैं। इसके पश्चात् छठी शताब्दी में भामह; सातवीं मे दंडी; आठवीं में वामन और उद्भट; नवीं में रुद्रट और आनन्दवर्धन; दसवीं मे राज-शेखर, अभिनवगुप्त और धनंजय; ग्यारहवीं में भोजराज, मम्मट और क्षेमेन्द्र; बारहवीं में रुय्यक, हेमचन्द्र और वाग्भट्ट; तेरहवीं में शारदातनय; चौदहवीं में विश्वनाथ तथा सत्रहवीं में पण्डितराज जगन्नाथ के दर्शन होते हैं, और इनके टीकाकारों की परम्परा तो आज बीसवीं शताब्दी में भी जीवित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य परवर्ती अनेक समीक्षाकारों ने इस प्राचीन भारतीय समीक्षा पर एक नई दृष्टि से प्रकाश डालकर उसे आज के लिए भी उपादेय बना दिया है।

इस कोष का लक्ष्य साहित्य के सामान्य पाठक के निकट इस विशाल साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का एक हस्तामलकवत् तत्काल-निर्देश प्रस्तुत करना है और उसी में इसकी कृतकार्यता है। साहित्यशास्त्र के इस विशाल क्षेत्र में—उसकी शाखा-प्रशाखा-उपशाखाओं में—प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द-भाण्डार का एकत्र

---

१. रसेन तृप्तो न कुतश्चनो न :—अथर्ववेद १०।८।४४।

२. डा० भगीरथ मिश्र—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ८।

संचय करते समय बहुत सम्भव है कि परिपूर्णता न आ सके। यहाँ महात्मा बुद्ध और लेनिन दोनों ही एकमत हैं कि सभी क्षणिक है (सब्बं क्षणिकम्) और कुछ भी अंतिम नहीं कहा जा सकता। सम्भव है अनेक महत्त्वहीन शब्द आ गये हों या कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द रह गये हों। इस प्रसंग में लोकसभा में पंचवर्षीय योजना को पुरःस्थापित करते समय पण्डित नेहरू के ये शब्द सहसा याद आ जाते हैं कि "स्वभावतः यह परिपूर्ण नहीं है। मैं परिपूर्णता का दावा नहीं करता। परिपूर्णता बड़ी बात है। यह दिखा देना बहुत सरल है कि इसमें यहाँ पर त्रुटि है, या यह वहाँ पर ठीक नहीं है या इतना और हो सकता था...पर इसे केवल आलोचना की ही दृष्टि से नहीं, बल्कि इस विस्तृत प्रसंग में देखें कि यह भारत में वह पहला प्रयास है, जो देश के सर्वांगीण चित्र को—कृषि सम्बन्धी, औद्योगिक, सामाजिक, आर्थिक आदि-आदि पहलुओं को एक विचार-सूत्र में बाँधता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है और मैं कहता हूँ कि इसमें इधर-उधर कुछ त्रुटियाँ भी हों, तब भी वह एक बृहत् प्रयास के पूर्ण होने की कहानी है।" यद्यपि पंचवर्षीय योजना से इसकी तुलना अतिशयोक्ति या गर्वोक्ति ही नहीं, दुःसाहसपूर्ण भी है, तथापि रस, रीति, गुण, दोष, अलंकार, ध्वनि, शब्द-शक्ति, औचित्य, वृत्ति, वक्रोक्ति नाटयशास्त्र, छन्दःशास्त्र, साहित्य-वाद और साहित्यालोचन आदि की बिखरी हुई विशाल सामग्री का एकत्र एक छोटे से निर्देश-ग्रन्थ में संकलन भगीरथ प्रयत्न नहीं तो कम से कम एक महान् प्रयत्न अवश्य है और कम से कम इसी दृष्टि से इसका स्वागत किया जायगा। हिन्दी में ऐसे निर्देश-ग्रन्थों का अभाव सुविदित है और इस दिशा में पुरोगामिता के नाते भी इसका महत्त्व है।

स्वभावतः यह विविध ग्रन्थ रत्नों में बिखरी हुई विशाल सामग्री का एक संकलन ग्रन्थ—एक मधु-संचय है और ऐसे ग्रन्थ में मौलिकता का विशेष दावा नहीं किया जा सकता। यों तो जैसा श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' का कथन है, "प्रत्येक बात के लिए मनुष्य अपने विवेक से उत्पन्न विचार प्रकट नहीं करता। संस्कार या परम्परा से प्राप्त विचारों में ही अपनी बातें मिला देता है।"[१] पर विशेषतः इस प्रकार के ग्रन्थों में तो पूर्व ग्रन्थों का ऋण और भी अधिक होता है—इनका तो अस्तित्व ही उनके ऊपर निर्भर होता है। सामग्री की विशद सारिणी परिशिष्ट के रूप में ही जा रही है। लेखक उन सभी का ऋणी है। इस संकुचित स्थान पर प्रत्येक ग्रन्थकार का आभार स्वीकृत करना असम्भव भी है। फिर भी साहित्यदर्पण (शालग्राम शास्त्री) भारतीय साहित्यशास्त्र (बलदेव उपध्याय), काव्यप्रकाश (हरिमंगल मिश्र), ध्वन्यालोक (आचार्य विश्वेश्वर) साहित्य-पारिजात (मिश्रबन्धु), साहित्यालोचन (श्यामसुन्दर

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त (१९५०), पृ० ३३।

दास), काव्यशिक्षा (श्रीधरानन्द), छन्द प्रभाकर (भानु) पिंगल-पीयूष (परमानन्द शास्त्री), हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास (डा० भगीरथ मिश्र), साहित्य-मीमांसा (सूर्यकान्त शास्त्री), वक्रोक्ति और अभिव्यंजना (रामनरेश वर्मा), काव्यालोक (रामदहिन मिश्र), चिन्तामणि, इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल), हैंडबुक ऑफ़ लिटरेरी टर्म्स (येलैण्ड, जोन्स, ईस्टन) और मेकिंग ऑफ़ लिटरेचर (स्काट, जेम्स) आदि कतिपय ग्रन्थ तो विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं, और लेखक उन सभी महानुभावों का मुक्त कण्ठ से आभारी है। आचार्य-तुल्य डा० नगेन्द्र, श्री सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी और अग्रज-तुल्य सर्वश्री प्रभाकर माचवे, डा० कृष्णदत्त भारद्वाज और डॉ० रामधन शास्त्री के अमूल्य परामर्शों से तो लेखक ने लाभ उठाया ही है, साथ ही बन्धु प्रो० विजयेन्द्र स्नातक के निःस्वार्थ निःस्पृह सहयोग के बिना तो इसका प्रस्तुत रूप प्राप्त करना भी सर्वथा असम्भव था। आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, के उदारमना अधिष्ठाता श्री रामलाल पुरी का सौजन्य आज उत्तर भारत के प्रकाशकों का स्पृहणीय हो रहा है और लेखक पर तो उनकी विशेष कृपा रही है। बन्धुवर विष्णुदत्त 'विकल', भीमसेन विद्यालंकार, नवीनचन्द्र आर्य, श्यामसुन्दर गर्ग और मोहनलाल बर्मन को इसके मुद्रण-प्रकाशन आदि के लिए श्रेय दिये बिना मैं अपने कर्त्तव्य से उऋण नहीं हो सकता।

राजेन्द्र द्विवेदी

साहित्यशास्त्र का
पारिभाषिक शब्द-कोष

अ

अंक (१)—रूपक के दस भेदों में एक भेद। यह करुण रस प्रधान एकांकी है। साधारण पुरुष नायक होते हैं। स्त्रियों का विलाप बहुत होता है। कहानी इतिहासप्रसिद्ध होती है, जिसे कवि अपनी कल्पना से अतिरंजित करके कहता है। इसमें भाण (दे० यथा०) के समान भारती (कहीं कैशिकी) वृत्ति, मुख और निर्वहण संधियाँ (दे० यथा०) और दसों लास्यांग (दे० यथा०) होते हैं। जय-पराजय, वाक्कलह और निर्वेद का भी विस्तृत वर्णन होता है। नाटक के प्रमुख विभाग अंक से इसे भिन्न दिखाने के लिए कुछ आचार्य इसे उत्सृष्टिकांक कहकर पुकारते हैं, दूसरों के मत से यहाँ सृष्टि उत्क्रान्त (विपरीत) रहने से इसे उत्सृष्टिकांक कहते हैं। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण शर्मिष्ठाययाति बताते हैं।

उत्सृष्टिकांक एकांको नेतारः प्राकृताः नराः।
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम्।
प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्धया प्रपंचयेत्
भाणवत्संधिवृत्यंगान्यस्मिञ्जयपराजयौ।
युद्धं च वाचा कर्त्तव्यं निर्वेदवचनं बहु।—साहित्य-दर्पण

अंक (२)—नाटक के प्रमुख विभाग को अंक कहते हैं। पुराने ग्रीक और संस्कृत नाटकों में इनकी संख्या पाँच से आठ तक रहती थी पर उन्नीसवीं शताब्दी से यह तीन ही रह गई है। हिन्दी में भारतेन्दु-काल तक पाँच अंक चलते रहे, जिनका आधार आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की पाँच सीढियाँ थीं। इब्सन ने अंक संख्या चार की थी, जो पीछे तीन ही रह गई। श्री जयशंकरप्रसाद ने भी तीन अंक वाला विभाजन अपनाया है। अब कुछ नये नाटककारों ने अंकों का विभाजन मानने से इनकार कर दिया है, और अंग्रेज़ी में ड्रिंकवाटर और गाल्सवर्दी ने केवल दृश्यों और घटनाओं में ही विभाजन के कुछ प्रयोग किये हैं। अकों में वस्तु विन्यास सम्यक रीति से होना चाहिए। कुछ विद्वान् केवल एक दिन और कुछ एक वर्ष तक की घटनाओं का समावेश अंक में मानते हैं। दशरूपककार ने कहा है—

"अङ्क इति रूढ़ि शब्दो, भावैश्चरसैः प्ररोहयत्यर्थान्।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः।"

नाटकलक्षण राजकेशकार ने कहा है—

"एकदिवसप्रवृत्तः कार्योऽङ्कः सप्रयोगमधिकृत्य।"

संस्कृत आचार्यों के अनुसार अंक में नायक का चरित्र प्रत्यक्ष होना चाहिए। वह रस-भाव-युक्त हो और शब्द गूढ़ न हों। गद्य सरल हो। अवांतर कार्य पूरा हो जाए पर प्रधान कथा नहीं। पद्य कम हों। नायक निकट ही रहे और तीन चार पात्र हों। अनेक दिनों की कथा एक अंक में न हो। संध्या आदि के समय का उल्लंघन न हो।

दूर से बुलाना, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मल-त्याग, मृत्यु, रमण, दंतक्षत, नखक्षत, शयन, चंदन-लेप आदि क्रियाएँ अंक में मंच पर न दिखाई जाएं; ऐसा विश्वनाथ का मत है, जो भरत मुनि की सूची में एक-दो बातें ही जोड़ देते हैं। अंग्रेजी नाटकों में अङ्क के लिए एक्ट शब्द का प्रयोग होता है।

अंकमुख—नाटक में संसूच्य कथावस्तु की सूचना देने वाले पाँच साधनों में से एक। अंकमुख में एक ही अंक में नाटक के सारे अंकों की सूचना दी जाती है। विशेष दे० अर्थोपक्षेपक।

अंकावतार—नाटक में संसूच्य कथावस्तु की सूचना देने वाले पाँच साधनों में से एक। अंकावतार में अगले अंक की कथा का अवतरण पहले अंक के अन्त में उसी के पात्रों द्वारा सूचित वस्तु के रूप में कर दिया जाता है। विशेष दे० अर्थोपक्षेपक।

अंकास्य—अंकमुख नामक अर्थोपक्षेपक का ही पर्यायवाची शब्द। विशेष दे० अर्थोपक्षेपक।

अंगासौष्ठव—कामातुरों की दस चेष्टाओं में से एक। विशेष दे० कामदशा।

अंतःपुर-सहाय—नायक राजा की अंतःपुर में सहायता करने वाले पात्र। विशेष दे० अवरोध-सहाय।

अंतस्थ स्वगत-भाषण—पात्रों के विचारों को प्रत्यक्ष रूप से न बताकर वस्तुतः उनके मन में चलने वाली असम्बद्ध चिन्तन-प्रणाली को यथावत् सविवरण प्रस्तुत कर देना। आधुनिक उपन्यासकारों, विशेषतः जेम्स जायस ने अपने यूलिसिस नामक उपन्यास में ब्लूम और डेडालस के १८ घंटे के मस्तिष्क व्यापार को बड़े आकार के ७-८ सौ पृष्ठों में अंकित कर इस प्रभाववादी शैली का व्यापक रीति से प्रयोग किया है।

अक्रमत्व—एक पद के पीछे जिस पद का आना आवश्यक हो उसके न आने से उत्पन्न काव्य-दोष। क्रम से कही बात का उसी क्रम से निर्वाह क्रम या यथासंख्य (दे० यथा०) अलंकार बन जाता है। यदि यही क्रम तोड़ दिया जाए तो यह अक्रमत्व

दोष हो जायगा, क्योंकि वैसा करने से अन्वय करने में कठिनाई पैदा हो जायगी। यह वाक्य दोष (दे० यथा०) है।

अक्रमातिशयोक्ति—अतिशयोक्ति नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० अतिशयोक्ति।

अक्षमा—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले तेतीस नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

अक्षरसंघात—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

अगूढ़—गुणीभूत व्यंग नामक मध्यम काव्य के आठ भेदों में से एक। विशेष दे० गुणीभूत व्यंग्य।

अजहत्स्वार्था—लक्षणा नामक शब्दशक्ति का एक भेद। विशेष दे० लक्षणा।

अतद्गुण—**तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः।**—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार जो हेतु होने पर भी दूसरी वस्तु के गुण ग्रहण न करने पर होता है। जैसे—(१)हे राजहंस, चाहे तुम गंगा के उजले पानी में नहाओ या जमुना के श्यामल पानी में तुम्हारी शुभ्रता वैसी ही रहती है, न घटती है, न बढ़ती है।

(२) **सिव सरजा की जगत में, राजति कीरति नौल।**
अरि तिय दृग अंजन हरै, तऊ धौल की धौल॥—भूषण

अतिकृति—२५ वर्गों वाले वार्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

अतिजगती—१५ वर्गों वाले वार्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तिजाति।

अतिधृति—१६ वर्णों वाले वार्णिक छंदों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

अतिबरवै—विषमनि रवि अतिवरवै, सम निधि कल जंत; १२-६ पर यति वाली २१ मात्राओं और अंत में जगण से बनने वाला अर्द्धसम मात्रा छन्द।

अतिशक्वरी—१५ वर्णों वाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

अतिशयोक्ति—**सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते**—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें अध्यवसाय (उपमेय का निगरण कर उपमान का अभेदज्ञान) को सिद्ध रखा जाता है। यही अध्यवसाय उत्प्रेक्षा में उपमेय के अनिश्चित कथन के कारण साध्य रहता है। वस्तुतः कुछ गिनी-चुनी प्रणालियों से इसमें अतिशय

(बढ़ा-चढ़ाकर) उक्ति की जाती है। ये प्रणालियाँ निम्न भेदों के सोदाहरण विवेचन से स्पष्ट हो जायँगी—

(१) रूपकातिशयोक्ति—उपमेय का निगरण (निगलना) कर केवल उपमान का उपादान, जैसे—

कनकलतानि इंदु, इंदु माँहि अरविन्द, झरें अरविन्द तें बुंद मकरंद के।

यहां कनकलता उपमान में कामिनी के देह उपमेय का, इंदु में मुख का, अरविंद में नेत्रों का और मकरन्द बुंद में आंसुओं का निगरण किया है।

(२) भेदकातिशयोक्ति—भेद न होने पर भी 'अन्य' और 'आदि' द्वारा उपमेय की अलौकिकता के लिए भेद बताना, जैसे

वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान

यहाँ औरै शब्द द्वारा अभेद में भेद बताया गया है। दर्पणकार उपर्युक्त रूपकातिशयोक्ति को भी भेद होने पर भी अभेद बताने वाली भेदकातिशयोक्ति में ही समेटते हैं, जैसे उक्त उदाहरण में कामिनी और कनकलता आदि में भेद होने पर भी उपमेय का निगरण कर अभेद बताया गया है।

(३) सम्बन्धातिशयोक्ति—असम्बन्ध में सम्बन्ध और सम्बन्ध में असम्बन्ध का वर्णन, जैसे—

(क) फवि फहरें अति उच्च निसाना।
जिन मँह अटकहिं विवुध विमाना॥

यहां विमानों के अटकने का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध बताया गया है।

(ख) जो सुख भो सिय मातु मन, देखि राम वर-वेस।
सो न सकहिं कहि कल्प सत, सहस सारदा सेस॥

यहां शेष-शारदा से कथनीय बात असंभव बताकर सम्बन्ध में असम्बन्ध का वर्णन है।

शेष ३ अतिशयोक्तियां कार्य और हेतु के पौर्वापर्य के भंग होने पर होती हैं।

(४) अक्रमातिशयोक्ति—कारण और कार्य में क्रम का निर्वाह न होकर उनका बिना व्यवधान हो जाना, जैसे—

संधानेउ प्रभु विसिख कराला।
उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला॥

यहाँ दोनों कार्य—बाणसंधान और उदधि-उर में ज्वाला उठना—साथ-साथ हुए हैं।

(५) चपलातिशयोक्ति—कारण के देखने-सुनने से ही कार्य हो जाना, जैसे—

आयो आयो कहत ही सिव सरजा तुव नाँव।
बैरिनारि दृगजलन तें बूड़ि जात अरि गाँव।

यहाँ हेतु के कथन मात्र से ही कार्य हो गया है।

(६) अत्यंतातिशयोक्ति–कारण से पहले ही कार्य हो जाना, जैसे—

प्रान छुटे प्रथमै रिपु के रघुनायक सहायक छूटि न पाये।

यहां कारण (बाण छूटे) से पहले कार्य (प्राण छूटना) हो गया है।

अतुकांत–वह पद्य जिसमें पदांत की तुक (दे० यथा०) न हो। संस्कृत के विशाल अतुकांत पद्य-भांडार की पृष्ठभूमि के होते हुए भी हिन्दी कविता सतुक पद्यों की ही ओर अग्रसर हुई और तुक इतनी श्रुतिप्रिय हो गई कि पीछे चलकर सहसा उसको छोड़ देना कठिन हो गया। स्वच्छन्द कविता के युग में श्रीधर पाठक और श्री हरिऔध का ध्यान इस ओर गया। हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' महाकाव्य ही संस्कृत के अतुकांत छंदों में लिखा। पीछे मुक्तक छन्दों (दे० यथा०) में तो पद्य के रहे-सहे नियम भी शिथिल होते गये। पर अब भी तुकान्त कविता का साम्राज्य पूर्ण रूप से उठा नहीं है क्योंकि तुक एक श्रुति-मधुर लहरी और संगीत की सृष्टि करके कविता में अनूटे तत्त्व की स्थापना करती है।

अत्यंततिरस्कृत वाच्य—कहीं-कहीं पर वाच्यार्थ के उपयुक्त न होने के कारण उसका अत्यंत तिरस्कृत हो जाना। जैसे कोई अपने अपकारी से कहे—'भई, बड़ी सुजनता-पूर्वक आपने मेरा बड़ा उपकार किया। आप ऐसा करते हुए सैकड़ों वर्ष जियँ,' यहाँ प्रसंगानुसार अपकारी के प्रति यह कथन उचित न होकर लक्षणा द्वारा विपरीत अर्थ देता है। यह लक्षणामूलक ध्वनि का एक भेद है।

अत्यंतातिशयोक्ति—देखिये अतिशयोक्ति। कार्य का कारण से पहले हो जाना।

अत्यष्टि—१७ वर्णों वाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

अत्युक्त—२ वर्णों वाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

अत्युक्ति—(१) गौड़ मार्ग वालों द्वारा लोकप्रचलित अर्थ का उल्लंघन कर अन्य अर्थ का अपनाया जाना। पर प्राचीन कांति गुण का विपर्यय है। विशेष दे० कांति।

अत्युक्ति—(२) एक अर्थालंकार, जिसमें अत्यद्भुत वर्णन होता है। जैसे—

ते सिरजा सिवराज दए कविराजन को गजराज गरूरे।
मुंडन सो पहिले जिन सोखि के फेरि महामद सो नद पूरे॥—भूषण

यहाँ शिवाजी के हाथियों का अत्युद्ध त वर्णन है। नदी को सूँड से पी जाना और फिर मद से भर देना अत्युक्ति है।

अद्भुत—**अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः,**
पीतवर्णो, वस्तु लोकातिगयालंबनं मतम्।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः,
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचगद्गदस्वर संभ्रमः।
तथा नेत्रविकासाद्याअनुभावाः प्रकीर्तिताः,
वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्याः व्यभिचारिणः॥—साहित्यदर्पण।

विस्मय स्थायी भाव, पीत वर्ण और गन्धर्व देवता वाला रस। आलबन—लोकातिग (अलौकिक) वस्तु; उद्दीपन—उसके गुणों की महिमा का वर्णन; अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, गद्गद् भाषण, घबराहट, नेत्रों का विकसित होना आदि; संचारी भाव–वितर्क, आवेग, भ्राति, हर्ष आदि।

उदाहरण—

अखिल भुवन चर अचर सब,हरि मुख में लखि मातु।
चकित भई गदगद वचन, बिकसित दृग पुलकातु॥—काव्यकल्पद्रुम

यहाँ भगवान् का मुख आलम्बन; मुख में भवनों का दीखना उद्दीपन; नेत्र-विकास, गद्गद् वचन, रोमांच, चकित हो जाना आदि अनुभाव; त्रास, भ्रान्ति, हर्ष आदि संचारी भाव और विस्मय स्थायी भाव है।

अधम काव्य—वह निम्न कोटि का काव्य, जिसमें ध्वनि को महत्त्व न देकर केवल शब्दार्थ पर ही ध्यान दिया जाता है। विशेष दे० चित्रकाव्य, गुणीभूत व्यग्य।

अधिक—एक अर्थालंकार,जिसमें आधार (आश्रय) और आधेय (आश्रित) में एक की चमत्कृत अधिकता बताई जाती है। जैसे—(१) **समुद्र की बड़ाई और क्या करें, जहाँ स्वयं हरि अपनी कोख में त्रिभुवन समेट सोते हैं।** यहां आधार की अधिकता है।

(२) **बाढो चरन सामानो नाँहि चौदह भुवन में।**—दूलह

अधिक अभेद—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

अधिक तद्रूप—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

अधिकपदत्व—आवश्यकता से अधिक शब्दों के प्रयोग से होने वाला वाक्य दोष (दे० यथा०)। बाबू गुलाबराय जी उदाहरण देते हैं—**'लपटी पुहुप पराग पट'**, यहाँ पराग कह देने से फिर पुहुप कहने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि पराग तो फूल का ही होता है। यह काव्यदोष (दे० यथा०) है।

अधिबल—(१) गर्भ नामक नाटकसंधि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

अधिबल—(२) वीथी नामक रूपक का एक अंग। विशेष दे० वीथी।

अधीरा-प्रगल्भा—क्रुद्ध होने पर नायक का तर्जन और ताड़न करने वाली प्रगल्भा नायिका।

अधीरा-मध्या—क्रुद्ध होने पर परुष भाषण द्वारा नायक को खिन्न करने वाली मध्या नायिका।

अधृति—कामातुरों की दस चेष्टाओं में से एक। विशेष दे० कामदशा।

अध्यवसाय—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

अध्यांतरिक-काव्य-गीति—गीतिकाव्य की प्रेरणा-शक्ति कवि को अंतस्तल से मिलने के कारण यह गीति-काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भेद है। इसमें कवि के व्यक्तिगत भावावेशों को प्रधानता दी जाती है। यह कवि की अंतः प्रवृत्ति और आन्तरिक चित्तवृत्ति का ही काव्य है। अपने इष्टदेव के मिलन पर अपने भावों का निवेदन मस्ती में अचानक गा उठना, अपने अंतस की भावनाओं का चित्रण, आदि ही इस आत्माभिव्यंजना में निभाया जाता है। कभी किसी विशिष्ट वस्तु को देख स्मृति और कल्पना के बल पर कौतूहलपूर्ण सृष्टि खड़ी की जाती है। अंग्रेज़ी काव्यशास्त्र में इस कोटि के गीतिकाव्य 'सब्जेक्टिव टाइप ऑफ़ लिरिक पोइट्री' कहते हैं।

अनंगक्रीडा—पूर्वार्द्ध (प्रथम-द्वितीय चरण) में १६ गुरु और उत्तरार्द्ध (तृतीय-चतुर्थ चरण) में ३२ लघु से बनने वाला विषम वृत्तछंद। इसे सौम्यशिखा भी कहते हैं।

अनंद—ज रा ज रा लगा कहें अनंद छंद को; जगण, रगण, जगण, रगण, लघु और गुरु से बनने वाला शक्वरी जाति का समवृत्त छंद।

अनन्वय—**उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः।**—साहित्यदर्पण

एक साम्यमूलक अर्थालंकार जिसमें एक वाक्य में एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय बनाया जाता है। उदाहरण—

गगन सदृश है गगन ही, जलधि-जलधि सम जान।
है रण रावण राम को, रावण राम समान॥—काव्यकल्पद्रुम

अनवीकृतत्व—बार-बार उसी पद के उसी अर्थ वाले पर्याय पद रखने के कारण नवीनता उत्पन्न न होने से उत्पन्न अर्थदोष (दे० यथा०) जैसे—'सूर्य सदा निकलता है, हवा सदा चलती है, शेष सदा धरती को धारण करता है और धीर सदा अपनी प्रशंसा नहीं करता है, यहाँ 'सदा' के बार-बार आने से नवीनता न रही और यह दोष हो गया। यहां सदा के पर्याय रख देने पर भी यह दोष बना रहेगा, यही इसका कथितपदत्व से भेद है।

अनालंबनता—कामातुरों की दस चेष्टाओं में एक। विशेष दे० कामदशा।

अनियम में नियम—नियम अभिप्रेत न होने पर भी नियम बनाकर बात

कहने से उत्पन्न अर्थदोष (दे० यथा०) जैसे--'तुम्हारी नाभि भंवर ही है, नेत्र नील कमल हैं, वलय लहरें हैं इसलिए तुम लावण्य की बावड़ी हो', यहां 'भंवर ही है' में 'ही' यह नियम वाच्य न था। इसी प्रकार वाच्यनियम के न कहने पर भी यह दोष होता है।

अनुकर्त्ता—नाटक में अभिनेता। रस से सम्बन्धित चार व्यक्तियों में एक। विशेष दे० रस।

अनुकूल--**अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबंधि चेत्** ।—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें प्रतिकूलता ही अनुकूलता का काम करती है। जैसे— "हे तन्वि, यदि तू कुपित है, तो इस (नायक) की देह में नखक्षत कर इसे भुजपाशों में सुदृढ़ रूप में बाँध दे।" विलक्षण चमत्कार के कारण इसे अलग अर्थालंकार माना गया है।

अनुकूल--**अनुकूल एकनिरतः** ।—साहित्यदर्पण

जो नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहे उसे अनुकूल नायक कहते हैं। इस प्रकार के नायक की सर्वश्रेष्ठता सदैव मान्य रही है, यद्यपि वह श्रृंगार रस का आलंबन उतना अच्छा नहीं बन पाता है, जितने अन्य प्रकार के नायक।

अनुकूला--भा त न गा गा कहि अनुकूला; भगण, तगण, नगण और दो गुरू से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द।

अनुक्तसिद्ध—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

अनुगुण—एक अर्थालंकार, जिसमें निकटता के कारण किसी के स्वाभाविक गुण में वृद्धि होती है, जैसे—

मज्जन फल देखिय ततकाला।
काक होंहि पिक बकहु मराला॥

पर इसमें गुण-वृद्धि हो जाने से 'उल्लास' अलंकार भी आ जाता है।

अनुचितार्थत्व—अनुचित अर्थ बताने वाले शब्दों के प्रयोग से होने वाला दोष (दे० यथा०)। जैसे-'रणयज्ञ में पशुभूत लोग अमरता पाते हैं', यहाँ 'पशु' में शूरों की कातरता की व्यंजना होने से यह दोष है।

अनुज्ञा—एक अर्थालंकार, जिसमें दोष रूप से प्रसिद्ध किसी पदार्थ की भी किसी चमत्कारपूर्ण गुण-विशेष के कारण उपादेयता बताई जाती है। जैसे—

(१) **दुख से भी जाऊँ मुझे उससे है ममता।**
बढ़ती है जिससे सहानुभूति समता॥—मै० श० गुप्त

यहाँ सहानुभूति, समत्व आदि गुणों के कारण दुःख को भी उपादेय कहा गया है।

(२) **विपति परे पै नर भजत है भगवाने,**
संपदा चहैं न संत बिपदा सदा चहैं।—दूलह

अनुनय—नाटक में रसपोष के प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

अनुप्रास—**अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।**—साहित्यदर्पण।

एक शब्दालंकार, जिसमें स्वरों की विषमता होने पर भी, स्वरों की समानता न होने पर भी, वर्णों (अर्थात् व्यंजनों) की समानता होती है। इसमें (अनु+प्र+आस द्वारा) व्यंजनो का रस-भावादि से अनुगत प्रकर्षन्यास (प्रतिष्ठापन) किया जाता है। इसके पाँच भेद होते हैं—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अंत्यानुप्रास और लाटानुप्रास।

(१) **छेको व्यंजनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा।**—साहित्यदर्पण।

अनेक व्यंजनों की स्वरूप और क्रम से एक बार आवृत्ति होने पर छेकानुप्रास होता है, जैसे—

राधा के वर बैन सुनि चीनी चकित सुभाय।
दाख दुरी मिसरी मुरी सुधा रही सकुचाय॥

यहाँ ब, च, द, म, और स की एक बार आवृत्ति है। छेक का अर्थ विदग्ध होने से उसके द्वारा प्रयुक्त होने वाला यह छेकानुप्रास है।

(२) **अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा,**
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते।—साहित्यदर्पण

अनेक व्यंजनों की एक ही प्रकार से (केवल स्वरूप से ही, क्रम से नहीं, समानता होने पर या अनेक व्यंजनों की अनेक बार समता होने पर या अनेक प्रकार (स्वरूप-क्रम दोनों) से अनेक बार अनेक अक्षरों की आवृत्ति होने पर, या एक ही वर्ण की अनेकबार आवृत्ति होने पर वृत्यनुप्रास होता है। यह परुषा, उपनागरिका और कोमला वृत्तियों (दे० यथा०) के अनुसार होने पर रुचिर होता है। दिङ्मात्र उदाहरण--चौगुनों चैन चवाइन के चित चाव चढ़ो है चवाव मचो है।'

यहाँ 'च' की अनेक बार आवृत्ति है।

(३) **उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके,**
सादृश्यं व्यंजनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।—साहित्यदर्पण

कण्ठ-तालु आदि एक ही स्थान से बोले जाने वाले अक्षरों की (व्यंजनों की ही) समता श्रुत्यनुप्रास कही जाती है। जैसे—

'सत्य सनेह सील सुख सागर ।'

यहाँ 'स' 'त' 'न' और 'ल' सभी व्यंजन दन्त्य हैं ।

(४) **व्यंजनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु,**

आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ।—साहित्यदर्पण

पहले के स्वर के साथ व्यंजन की यथारूप आवृत्तिहोने से अंत्यानुप्रास होता है । पादांत में इसे तुक भी कहते हैं । जैसे—

राम कथा सुन्दर करतारी ।

संशय विहग उड़ावनहारी ।।

यहां 'तारी' और 'हारी' में आद्यस्वर आ समेत री की आवृत्ति है ।

(५) **शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रत, लाटानुप्रास इत्युक्तो ।**

—साहित्यदर्पण

जहाँ समानार्थक शब्दों की आवृत्ति हो, पर अन्वय करते ही भेद प्रतीत हो, वहाँ लाटानुप्रास होता है । जैसे—

पूत कपूत तो क्यों धन संचय ।

पूत सपूत तो क्यों धन संचय ।

यहाँ शब्दार्थ दोनों की ही आवृत्ति है, पर सपूत और कपूत के कारण अन्वय-भेद से तात्पर्य-भेद हो जाता है ।

अनुप्रास जाति—व्यंजन समता (स्वरों के सम न होने पर भी शब्द साम्य) को अनुप्रास कहते हैं । उद्भट ने वृत्ति-अनुप्रास वर्णन में अनुप्रास की तीन प्रकार की वृत्तियों का वर्णन किया है । इनको ही अनुप्रास जाति कहा जाता है । वैसे तो परुषा, उपनागरिका तथा कोमला (ग्राम्य) ये तीन भेद भामह के बाद ही मिलते हैं, किन्तु भोज ने वृत्तियों के गंभीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मित्रा, परुषा, ललिता और मिता ये बारह नाम दिये हैं । भोज को इतने से ही संतोष नहीं हुआ, उन्होंने बाणवासिका, द्राविणी, माथुर, मात्सी, मागधी, ताम्रलिपिता, औड्री मौंडी, कर्णाली, कौंतली, कंकी और कोंकणी—ये बारह भौगोलिक अनुप्रास जातियाँ या वृत्तियाँ और मानी हैं । यद्यपि वे रंचमात्र भी प्रचलित नहीं हुईं ।

अनुप्रासवृत्ति—अनुप्रास जाति का ही अन्य नाम विशेष । दे० अनुप्रास जाति ।

अनुभाव—**उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।**

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्योः ।।—साहित्यदर्पण

सीता आदि आलंबन तथा चन्द्र आदि उद्दीपनों के कारण राम आदि के हृदय

में उद्बुद्ध रति आदि भावों का अनुभव, अनु अर्थात् पीछे जाग्रत होने वाले भाव। लोक में जो कार्य कहे जाते हैं, काव्य-नाटक में वही अनुभाव होते हैं। प्रत्येक रस के अलग-अलग अनुभाव होते हैं। इनके ४ भेद होते हैं—कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक।

(१) कायिक (कटाक्ष आदि कृत्रिम आंगिक चेष्टाएँ।

बहुरि बदन बिधु अंचल ढांकी।
प्रिय तन चितै भौंह करि बांकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयनन।
निज पति कहेहु तिनहिं सिय सयनन॥

(२) मानसिक (अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न मोद आदि)—

देखि सीय सोभा सुख पावा।
हृदय सराहत बचन न आवा॥

(३) आहार्य (आरोपित या कृत्रिम वेष रचना)—

काक पत्र सिर सोहत नीके।
गुच्छा बिच बिच कुसुम कली के॥

(४) सात्विक—शरीर के अकृत्रिम अंगविकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं—

'थके नयन रघुपति छवि देखी।
पलकन हू परिहरी निमेखी॥ —तुलसी

इस प्रकार रति आदि स्थायी भावों से सारी चेष्टाएँ अनुभाव की कोटि में आती हैं। स्त्रियों के अयत्नज, स्वभावज और अंगज अलंकार (दे० नायिकालंकार) तथा पुरुषों के सात्विक-गुण (दे० यथा०) भी इसी में गिने जाते हैं।

अनुमान—गर्भनामक नाटक संधि का एक अंग। इसमें ऊहा द्वारा कथन होता है—विशेष दे० गर्भ।

अनुमान(१)—**अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्**—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें साधन (हेतु) के द्वारा साध्य के चमत्कृत ज्ञान की प्रतीति लगाई जाती है। जैसे—

'जहाँ कामिनियों की दृष्टि पड़ती है वहीं कामदेव के पैने बाण बरसने लगते हैं। प्रतीत होता है कि इनके आगे-आगे कामदेव बाण चढ़ाये दौड़ता रहता है।' यहाँ कवि प्रौढोक्ति सिद्ध काम और बाण के कारण चमत्कार की प्रतीति की गई है। यह प्रतीति कभी-कभी रूपक के सहारे भी की जाती है। उत्प्रेक्षा में अनिश्चित रूप से प्रतीति होती है, यहाँ निश्चित रूप से प्रतीति होती है।

(२) और देखिए—

दच्छिन दृग फरकन लगो, कोकिल बोलत बाम।
कुंजन तातें राधिका अब मिलि है अभिराम॥—देवकीनंदन

अनुमान (२)—न्यायशास्त्र में प्रयुक्त द्वितीय कोटि का प्रमाण। जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान।

अनुमितिवाद—रस की व्याख्या के चार संप्रदायों में से एक। विशेष दे० रस संप्रदाय।

अनुवाद—मूल साहित्यिक कृत्ति का दूसरी भाषा में पुनर्लेखन। अनातोले फ्रांस की यह उक्ति ठीक ही है कि जिस प्रकार इत्र को एक शीशी से दूसरी में उँड़ेलते समय कुछ गन्ध उड़ जाती है, अनुवाद में भी दोनों भाषाओं के मुहाविरों में अन्तर रहने के कारण वही सौन्दर्य नहीं आ पाता और बहुत कुछ अनुवादक के व्यक्तित्व पर निर्भर रहता है, पर विदेशी महान् ग्रंथों को अपनी भाषा में लाने का यह कार्य अत्यन्त उपादेय और महत्त्वपूर्ण है।

अनुवादायुक्तत्व—अनुवाद्य अर्थ में अयुक्तता आ जाने से उत्पन्न होने वाला अर्थदोष (दे० यथा०) जैसे—

विरही की चन्द्र से यह उक्ति कि 'हे शिव के चूड़ामणि, अन्धकार दूर करने वाले और विरहियों के प्राण हरने वाले चन्द्र, मुझे वृथा परेशान न कर।' यहाँ विरहियों के प्राण हरने वाले ये विशेषण स्वयं विरही की उक्ति में अनुवाद्य नहीं है।

अनुवृत्ति—(नाटक में रस-पोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक विशेष (दे० नाट्यालंकार)।

अनुष्टुप—८ वर्णों वाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष देखिए वृत्त जाति।

अन्याय वृत्ति—वृत्ति के आचार्यों ने सीता में रावण की रति को अन्यायवृत्ति संज्ञा दी है। विशेष दे० वृत्ति।

अन्योन्य—अन्योन्मुभयोरेक क्रियायाः करणं मिथः—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें दो एक ही क्रिया को परस्पर करते हैं। जैसे—

(१) तुमसे वह रमणी शोभित होती है और तुम उससे। रात चन्द्रमा से शोभित होती है और चन्द्रमा रात से।

अन्विताभिधानवाद—वाक्य के तात्पर्यार्थ के निरूपण के लिए प्रभाकर भट्ट मतानुयायी मीमांसकों द्वारा अपनाया गया मत। अभिहितान्वयवादियों के विपरीत इनका विचार है कि पदों के वाच्यार्थों से ही वाक्यार्थ का बोध होता है, अतः उनसे भिन्न किसी विशेष रूप, अर्थ या तात्पर्यार्थ स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अपकर्ष—एक निश्चयात्मक बिंदु तक वस्तु के उत्थान के बाद उसका अवरोह। विशेष दे० प्रकर्ष।

अपरांग—गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम काव्य के आठ भेदों में से एक। विशेष दे० गुणीभूतव्यंग्य।

अपवाद—विमर्श नामक नाटक संधि का एक अंग। इसमें दोष का फैलना ही कथा का विस्तार करता है। विशेष दे० विमर्श।

अपवारित—अपवार्य कथन का ही अन्य नाम। विशेष दे० नाट्योक्ति, अपवार्यकथन।

अपवार्य कथन—पुराने नाटककार पात्र के चरित्र और उसके अभिप्राय को प्रकट करने के लिए स्वगत कथन का प्रयोग तो करते ही थे, जिसमें वक्ता मंच के अन्य व्यक्तियों से छिपाकर केवल श्रोताओं से ही अपनी बात कहता था, साथ ही जो बात मंच पर ही शेष पात्रों से छिपाकर केवल एक पात्र से ही कही जाती थी, उसे अपवार्य कथन कहते थे। चरित्र-चित्रण का यह पुराना साधन इब्सन के प्रभाव में लुप्त हो गया। स्वगत कथन की भाँति अपवार्य-कथन की अस्वाभाविकता भी स्पष्ट ही है। कितना अस्वाभाविक है कि दूर बैठे श्रोता तो वह बात सुन लें और पास ही अन्य पात्र न सुन पावें। दे० नाट्योक्ति।

अति-हसित—हास्य का एक भेद। विशेष देखिए हास्य।

अपस्मार—**मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः**
भूपातकंपप्रस्वेदफेनलालादिकारकः—साहित्यदर्पण

ग्रहों तथा भूतों के आवेश आदि के कारण होने वाला चित्त का विक्षेप, मिर्गी। इसमें भूपात, कम्प, स्वेद, मुँह में झाग-लार आदि दिखाई देते हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

पीरी ह्वै भू पर पड़ी काँपत होय अचेत।—काव्यालोक

अपस्वर—कठोर अक्षरों का चयन। यह वीर, रौद्र में गुण होता है, पर कभी-कभी लेखक की अकुशलता से दोष बन जाता है। (देखिए वृत्त्यनुप्रास, परुषावृत्ति)

अपहसित—हास्य का एक भेद। विशेष दे० हास्य।

अपन्हुति—**प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य स्थापनं स्यादपन्हुतिः।**—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें अभेद के कारण प्रकृत (उपमेय) का प्रतिषेध कर अन्य (उपमान) का आरोप या स्थापन किया जाता है। इसके दो सामान्य प्रकार हैं—(१) निषेध करके आरोप करने वाली शुद्धापन्हुति और (२) आरोप करने के बाद कैतव, छल आदि द्वारा, निषेध करने वाली कैतवापन्हुति शैली के भेद के कारण शुद्धापन्हुति के अपने

शुद्ध निषेध वाले अस्तित्व के सिवा हेतु, पर्यस्त और छेक, तीन प्रकार की और हो जाती हैं। इस प्रकार यह कुल पाँच प्रकार की होती है।

(१) **शुद्धापन्हुति**—(सीधा निषेध) प्र त का निषेध करके अप्रकृत का स्थापन, इसे आर्थी-अपन्हुति भी कहते हैं। जैसे—

बंधु न होय मोर यह काला ।

यहाँ बंधु का निषेध कर 'काल' का आरोप है।

(२) **हेतु-अपन्हुति**—(शुद्धनिषेध में हेतु भी बताया जाए), जैसे—

सिव सरजा के कर लसै, सो न होय किरवान ।
भुज भुजगेस भुजंगिनी, भखति पौन अरि प्रान ॥

तलवार नहीं, नागिन है क्योंकि शत्रु के प्राण-वायु का भोजन करती है—यह कारण भी दे दिया गया है।

(३) **पर्यस्तापन्हुति**—(एक धर्म को एक स्थान पर निषेध कर फिर उसे पर्यस्त फेंककर—उसको दूसरे धर्म में आरोपित किया जाए) जैसे—

है न सुधा यह है सुधा वास्तव में सत्संग ।

यहाँ सुधा सुधात्व का निषेध कर सत्संग में उसका आरोप किया गया है।

(४) **छेकापन्हुति**—गोपनीय के प्रकट होने पर छेक या चतुराई से निषेधपूर्वक छिपाया जाए, जैसे—

शोभा सदा बढ़ावन हारा । आँखन ते छिन करूं न न्यारा ॥
आठ पहर मेरा मन रंजन । क्यों सखि ! साजन ना सखि अंजन ॥—खुसरो

प्रिय के रहस्य के प्रकट होने को विदग्धता से अंजन के बहाने छिपाया गया है। इसे मुकरी भी कहते हैं। खुसरो की मुकरियां प्रसिद्ध हैं।

(५) **कैतवापन्हुति**—छल या बहाने आदि से निषेध, जैसे—

न जाने सौरभ के मिस कौन ? संदेशा मुझे भेजता मौन ।—पंत

यहाँ सौरभ नहीं बल्कि उसके बहाने भेजा गया संदेशा बताकर उसमें संदेश का आरोप है।

अपुष्टत्व—किसी पदार्थ के मुख्य अर्थ के उपकारी न बनने से उत्पन्न दोष जैसे—विस्तृत आकाश में चाँद खिला देख अब मान छोड़ दो।'

इसमें जिस प्रकार चन्द्रोदय मानत्याग का हेतु है, 'विस्तृत' वैसा उपयोगी नहीं। अधिकपदत्व में आवश्यकता से अधिक पद का ज्ञान अन्वय करते ही हो जाता है और इसमें उसके बाद।

अप्रकृत—उपमान का एक पर्यायवायी नाम। विशेष दे० उपमान।

अप्रतीतत्व—किसी शास्त्र विशेष के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से रचना को

सहज प्रतीत न होने योग्य बना देने वाला काव्यदोष (दे० यथा०)। पारिभाषिक अर्थ का ज्ञान न होने से लोग साधारण अर्थ लगा लेते हैं, और अर्थ में भूल हो जाती है। जैसे—

आशय भंग ज्ञान जो करई।

इसमें आशय योगशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। सामान्य आशय स्पष्ट नहीं।

अप्रयुक्तता—व्याकरण सम्मत होने पर भी यदि कोई शब्द कवि-समुदाय में अनादृत रहे, तो उसका प्रयोग अप्रयुक्तता दोष (दे० यथा०) का उदाहरण बनता है। यथा—

राजकुल भिक्षाचरण से, लगा भरने पेट।

इस पद में भिक्षाटन के स्थान पर चरण शब्द व्याकरण सम्मत होने पर भी अप्रयुक्त है।

अप्रस्तुत–(उपमान का एक पर्यायवाची नाम। विशेष देखिए उपमान)

अप्रस्तुत प्रशंसा — **क्वचिद्विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः।**
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते पंचधा ततः। अप्रस्तुतप्रशंसास्यात्

—साहित्यदर्पण

एक अलंकार, जिसमें अप्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत अर्थ को सूचित किया जाता है। यह पाँच प्रकार की होती है—

(१) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति;
(२) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की प्रतीति;
(३) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की प्रतीति;
(४) अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति; और
(५) सदृश अप्रस्तुत से सदृश प्रस्तुत की प्रतीति।

क्रमशः उदाहरण—

(१) **मान सहित विष खाय के संभु भये जगदीस।**
बिन आदर अमृत भख्यो, राहु कटायो सीस॥

यहां अप्रस्तुत विशेष शिव के विषपान और राहु के अमृत-पान से बिना मान अमृत पीना और मान सहित विष पीना सामान्य का वर्णन है।

(२) **सहि अपमान जु रहत चुप, ता नर सों वर धूरि।**
जो पादाहत झट उठत, चढ़त हतक-सिर भूरि॥—काव्य शिक्षा

यहाँ 'पादाहत धूलं का सिर चढ़ना' सामान्य अप्रस्तुत द्वारा 'अपमान सहित चुप बैठने वाले पुरुष से अच्छी' इस प्रस्तुत विशेष का वर्णन है।

(३) सीता के आगे चन्द्रमा काजल से पोता हुआ-सा और हरिणियों के नेत्र जड़ीभूत-से लगते हैं।

यहाँ चन्द्रमा में काजल पुतने और हरिणी नेत्रों के जड़ होने की संभावनारूप अप्रस्तुत कार्यों से प्रस्तुत मुख और नेत्रों का सौन्दर्य रूपी कारण प्रतीत हो जाता है।

(४) मेरे जाने के प्रस्ताव पर नायिका ने मृगछौने से कहा—'तू अब मुझे प्रेम करना छोड़, मेरी सखियों से प्रेम कर।' यह सुन मैं न जा सका।

यहां मृगछौने से कही गई बात 'में व्यंग्य मरण रूपी अप्रस्तुत कारण से नायक के अप्रस्थान रूप प्रस्तुत कार्य की प्रतीति होती है।

(५) स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा देखु विहंग विचार।
बाज पराये पानि पर तू पच्छीहिं न मारि॥

यहाँ सदृश अप्रस्तुत बाज से सदृश प्रस्तुत (मुसलमानों के संकेत पर हिन्दुओं से लड़ने वाले) राजा जयसिंह की प्रतीति हो जाती है।

इस अंतिम अप्रस्तुत प्रशंसा को अन्योक्ति भी कहते हैं, जो दीनदयालगिरि आदि द्वारा अपनायी गइ रहस्यवादियों की एक विशेष पद्धति ही बन गयी है।

अभवन्मतसम्बन्धत्व—कवि के अभिमत सम्बन्ध (अन्वय) के न बन सकने से उत्पन्न दोष। दे० यथा०। जैसे—

जो कटाक्ष मारती हो, तब मदन धनुर्धर सिद्ध होता है।

यहाँ 'जो' और 'तब' में सम्बन्ध न होने से कवि का अभिप्रेत अन्वय नहीं निकलता।

अभिधा—संकेतित या साधारण बोलचाल में प्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने वाली पहली शब्द शक्ति। अभिधा द्वारा बोधित अर्थ को वाच्यार्थ, मुख्यार्थ या अभिधेयार्थ कहते हैं। गाय लाओ, यह बात सुन चार पैर, पूँछ, सास्नावाले पशु को लाया जाता देख छोटा बच्चा समझने लगता है कि 'गाय' का और लाओ का क्या अर्थ है। इस संकेत का जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया से ग्रहण होता है, और इस शक्ति-ज्ञान के व्याकरण, कोष, आप्तवाक्य और व्यवहार आदि कई उपाय हैं। एकार्थक शब्दों का ज्ञान तो इन उपायों के सहारे हो जाता है, पर अनेकार्थक शब्दों के अर्थज्ञान के लिए कुछ अन्य साधन अपनाने पड़ते हैं, वे १२ हैं—

संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, प्रयोजन, प्रकरण, चिह्न, अन्य शब्द का संनिधान, सामर्थ्य, औचिती, देश और काल। इन के सहारे नानार्थ शब्दों के स्थल विशेष पर अभिप्रेत अर्थ का पता लिया जाता है। (दे० शब्द शक्ति)

अभिधामूल-ध्वनि—(कुछ आचार्यों के नाम से विवक्षितान्य परवाच्य का ही अन्य नाम। विशेष दे० ध्वनि)

अभिधेयार्थ—अभिधा शक्ति द्वारा निरूपित अर्थ। विशेष दे० अभिधा।

अभिनय—अवस्था का अनुकरण। राम आदि पात्रों की अवस्था, स्वरूप और कार्य आदि का जो अनुकरण नट या अभिनेता करता है, उसे अभिनय कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है —

(१) आंगिक—यानी शरीर-चेष्टा आदि का अनुकरण;

(२) वाचिक—बातचीत का अनुकरण;

(३) आहार्य—भूषण, वस्त्र आदि का अनुकरण; और

(४) सात्विक—स्तंभ आदि सात्विक भावों द्वारा किया गया अनुकरण।

अभिनयौचित्य—दर्शकों के हृदयों पर प्रभाव डालने के लिए अभिनयौचित्य का अत्यन्त महत्त्व है। वस्तु के अनुरूप अभिनेताओं का चुनाव सबसे पहली बात है, जिस के द्वारा अभिनयौचित्य की सिद्धि हो सकती है। अभिनेता चाहे कितना कुशल क्यों न हो किन्तु अनेक स्थितियों में उसका व्यक्तित्व उसके विरुद्ध खड़ा हो जाता है और वह सफल नहीं हो सकता।

उदाहरणतः विशेष स्थूलकाय व्यक्ति विदूषक का अभिनय तो अच्छा कर सकता है, किन्तु एक उदात्त चरित्र का नहीं।

अभिनेय तथा संसूच्य वस्तुओं का उचित विभाजन भी अभिनयौचित्य की सिद्धि करता है, इस बात पर पाश्चात्य विद्वान् होरेस तथा प्राच्य पण्डित क्षेमचन्द्र एकमत हैं। जो वस्तु नीरस तथा अनुचित है, उसका अभिनय कभी उचित नहीं है।

इसी औचित्य की सिद्धि के लिए आचार्यों ने कुछ ऐसी बातें गिनाई थीं, जिनका अभिनय रंगमंच पर अनुचित ठहराया गया था (देखिए अंक)। रंगमंच के ऊपर वध का विधान न तो ग्रीक पद्धति से उचित है और न भारतीय पद्धति से। इसी प्रकार भोजन के दृश्य तथा घृणोत्पादक व अश्लील दृश्य भी अभिनयौचित्य को भंग करने वाले बताये गये हैं।

अभिप्राय—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त ३६ नाटक लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

अभिमान—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

अभिलाषा—कामातुरों की एक चेष्टा। विशेष देखिए कामदशा।

अभिव्यंजनावाद—कुछ अस्पष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने वाला एक शब्द, जो एक ऐसी टेकनीक के लिए प्रयुक्त होता है, जिसमें किसी के आंतरिक जीवन के व्यापार या जीवन का ही आंतरिक अर्थ प्रतीक-विधान द्वारा व्यक्त किया जाता है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में यूरोपीय नाटक साहित्य बहुत कुछ रूढ़िवादी हो गया और इब्सन ने उसकी

इस अवास्तविकता का विरोध किया। प्रतिक्रिया में पैदा हुए अतियथार्थवादी जीवन-खण्ड का चित्र उपस्थित करते-करते जीवन के नग्न और निर्लज्ज चित्र ही उपस्थित करने लगे। अभिव्यंजनावाद इस दिशा में और आगे हुआ विकास है, जिसका लक्ष्य जीवन के ऊपरी तथ्यों का विवरण न दे उसके भीतर घुसना है। आन्तरिक अनुभवों के लक्ष्य को लेकर चलना निःसन्देह उत्तम है, पर इसके गुण-दोष बहुत कुछ इसे प्रकाशित करने के लिए प्रयुक्त प्रतीक-विधान पर ही निर्भर हैं, जो अत्यन्त आकर्षक होने पर सारा ध्यान अपनी ही ओर खींच लेता है और ध्येय को भुलवा देता है।

इस वाद के जन्मदाता प्रसिद्ध सौंदर्यशास्त्र के लेखक इटली-वासी बेनेडेटो क्रोचे माने जाते हैं। वे दो प्रकार के यथार्थ—एक मन से बाहर और दूसरा भीतर—नहीं मानते। उनके लिए मन से बाहर कुछ नहीं। वे ज्ञान के स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान और तर्कजन्य ज्ञान दो भेद मानते हैं। चित्रकार को तब तक स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की अनुभूति नहीं होती, जब तक वह किसी बिंब को साधारणतः ग्रहण ही नहीं करता, बल्कि अपने मन के सामने उसे पूरा-पूरा व्यक्त भी कर देता है। सौन्दर्यात्मक तथ्य मन के भीतर एक रूप की सृष्टि में है और अपने उन प्रबल भावावेशों की लक्ष्यात्मक अभिव्यंजना की क्रिया उसे अपने अनुभूत प्रभावों से मुक्ति प्रदान करती है। कला का आनन्द सफल अभि-व्यंजना के हाथ होने वाली आत्ममुक्ति में है। जान डिवी अभिव्यंजना की दुहरी प्रक्रिया गतिरोध करनेवाली बाह्य परिस्थितियों को ही साधन बनाकर बढ़ने की वृत्ति और अतीत की बासी वस्तुओं से पुनः नई प्रेरणा लेना बताता है। क्रोचे के शब्दों में सौन्दर्यात्मक तत्त्व प्रभावों के अभिव्यंजनात्मक स्पष्टीकरण में निहित है। यह बिना वर्ण्य के साथ आत्मसात् किये सम्भव नहीं। वह कहते हैं कि "दांते को समझने के लिए हमें अपने को उस स्तर तक उठाना होगा।" पर स्काट जेम्स ने क्रोचे के इस दर्शन में दो भारी कमियां खोज निकाली हैं। वह कहते हैं कि क्रोचे जीवन को और सौन्दर्य को ही भूल गये प्रतीत होते हैं।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान बताया है, पर रामनरेशवर्मा ने अपने "वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद" में दोनों के बीच "पुष्कल अन्तर" स्थापित किया है। उनके मत से वक्रोक्ति में उक्ति वैचित्र्य की अपेक्षा ध्वनि, रस आदि अन्य उपादानों का भी समावेश है। दूसरी ओर क्रोचे की अभिव्यंजना शब्द-स्वर रूप-रंग से व्यक्त बाह्य प्रकाशन न होकर द्रव्य अथवा भावात्मक वस्तु का मानस-मूर्ताभिधान है। क्रोचे के लिए अभिव्यंजना नगण्य है, जब कि वक्रोक्तिकार कुन्तक के लिए अवश्य-विधेय। हिन्दी में आचार्य शुक्ल और वर्मा जी के सिवा लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद" की विस्तृत विवेचना की है। कला और सहजानुभूति-तत्त्व, कला और अभिव्यंजना, रसानुभूति का तत्त्व

अलंकार और प्रभाव, प्रतीक और उपमान और अमूर्त के मूर्त विधान का विवेचन करते हुए वे अभिव्यंजना की कुछ विशेष प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन करते हैं। उन्होंने संवेदन (सेन्सेशन) पर्यवेक्षण (पर्सेप्शन) तथा बोधन (कन्सेप्सन) की परिभाषाएँ देकर एक ऐतिहासिक रेखा देने का यत्न किया है और इस पर एक नये ढंग से विवेचन आवश्यक बताया है।

अभिव्यक्तिवाद्—रस की व्याख्या के ४ सम्प्रदायों में से एक। विशेष देखिये रससम्प्रदाय।

अभिसार-स्थान—खेत, वाटिका, टूटा देवालय, दूती का घर, जंगल, शून्य स्थान, श्मशान, नदी का किनारा या अँधेरे का कोई और स्थान, जहाँ नायिका नायक से मिलने के लिए अभिसरण करती है।

अभिसारिका—काम के वशीभूत होकर नायक से अभिसार (अभिसरण, विशेष लक्ष्यपूर्वक चलना) करवाने, या स्वयं अभिसार करनेवाली नायिका। यह अवस्था के अनुसार किये जानेवाले नायिका के आठ भेदों में से एक है। कुलीना का अभिसार लजाते हुए, छिपते हुए, और गहनों की झनकार बन्द करते हुए होता है; वेश्या का गहने को झनकराते हुए; और दासी का नशे में अटपटी बातें करते हुए।

अभिहितान्वयवाद् —वाक्य के तात्पर्यार्थ के निरूपण के लिए कुमारिल भट्ट मतानुयायी मीमांसकों द्वारा अपनाया गया मत। इन लोगों का विचार है कि आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के कारण उन पदार्थों के भली भाँति अन्वित हो जाने पर उन पदों में से प्रत्येक के अर्थ से भिन्न, किन्तु अन्वय के कारण जो वाक्यार्थ नामक एक विशेष अर्थ प्रकट होता है, उसे तात्पर्यार्थ कहते हैं। यह अन्विताभिधानवाद से पृथक् मत है।

अभूताहरण—गर्भ नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष देखिए गर्भ।

अभेद्—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष देखिए रूपक।

अमतपरार्थत्व—अनिष्ट अर्थान्तर प्रतीत होने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०)। रस वर्णन में अनभीष्ट रस का वर्णन आ जाने पर भी यह दोष होता है।

अमृतगति—न ज न ग से अमृतगति, प्रत्येक पाद में नगण, जगण, नगण और गुरु (।।।, ।ऽ।, ।।।, ऽ) वाला पंक्ति जाति का समवृत्त छंद। इसे त्वरितगति भी कहते हैं।

अमृतध्वनि–प्रथम दो पाद दोहा के और शेष ८-८-८ पर यति वाले २४ मात्राओं के चार पादों से बनने वाला विषम मात्रा छंद। कुण्डलिया की भाँति दोहे का चतुर्थ चरण इसके तीसरे पाद के पूर्वार्द्ध में दुहराया जाता है। वीर रस में ही इस छंद का विशेष प्रयोग देखा गया है।

अमर्ष—निंदाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता,

नेत्ररागशिरःकंपभ्रूभंगोत्तर्जनादिकृत्

—साहित्यदर्पण ।

निंदा, आक्षेप और अपमान आदि से पैदा क्रोध में चित्त का अभिनिवेश। इसमें आँखों का लाल होना, सिर कँपना, तेवर चढ़ना और तर्जन आदि क्रियाएँ होती हैं। वह एक संचारी भाव है। देखिए—

मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो,

धो दूँगा कलंक रक्त देकर शरीर का।—आर्यावर्त

अरल—२१ मात्राओं, ११, १० पर यति, और अंत में तगण और गुरू होने से (किसी-किसी के मत से साधारणतः भी) बननेवाला त्रिलोक जातिका सम-मात्रा-छंद।

अरविन्द—सगणा जब आठ मिले उनमें लघु, सुन्दर छन्द बने अरविंद, आठ सगणों और एक लधु से बनने वाला अतिकृति जाति का समवृत्त छंद।

अरसात—सात मकार र एक रचो तब सुन्दर छन्द बने अरसात है, सात मगणों और एक रगण से बनने वाला संकृति जाति का समवृत्त छंद।

अरिल्ल—सोलह कल ल ल अन्त अरिल्ला, रचो ज हीन य वांत सुरिल्ला,

सोलह मात्राओं और अन्त में दो लघु या यगण से बनने वाला संस्कारी जाति का सममात्रा छन्द। इसकी रचना में किसी चौकल में जगण नहीं होना चाहिये।

अरुचि—कामातुरों की दस चेष्टाओं में से एक। विशेष दे० कामदशा

अर्थचित्र—शब्द के सहारे और अर्थ के सहारे वैचित्र्य की सृष्टि करने वाला अधम काव्य। विशेष देखिए चित्रकाव्य।

अर्थदोष—जहां किसी ऐसे भाव, भाषा आदि का प्रयोग हो जिससे अर्थ के द्वारा रस का अपकर्ष हो उसे अर्थदोष कहते हैं। दे० दोष।

अर्थप्रकृति—बीजं बिंदु पताका च प्रकरी कार्यमेव च।

अर्थप्रकृतयः पंच ज्ञात्वा योज्या यथाविधि।

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति

फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।

अवांतरार्थविच्छेदे बिंदुरच्छेदकारणम्।

व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।

प्रासंगिक प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता।

समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम्। —साहित्यदर्पण

नाटक के अर्थ (प्रयोजन) की प्रकृति (साधन के उपाय)। ये

पांच होती हैं:--बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। जिस नाटक-प्रयोजन को पहले अत्यल्प कहा जाए, पर पीछे जिसका विपुल विस्तार हो जाए, वह बीज है। प्रासंगिक प्रयोजन के समाप्त या विच्छिन्न हो जाने पर भी प्रधान प्रयोजन के अविच्छेद का निमित्त बिन्दु है। प्रासंगिक कथा के बहुत दूर तक व्याप्त रहने को पताका कहते हैं। भरत के मत से गर्भ या विमर्श संधि (दे० यथा०) तक ही पताका चलती है, पर अभिनव गुप्त कहते हैं कि पताका में पताका के नायक का फल स्पष्ट होना चाहिए, इसलिए वह निर्वहण संधि (दे० यथा०) तक चलती है। प्रासंगिक और एकदेशीय चरित को प्रकरी कहते हैं, इसके नायक का अलग कुछ फल नहीं। कार्य प्रधान-साध्य होता है, जिसके लिए सब कुछ समारम्भ किया जाता है और जिसकी सिद्धि ही समाप्ति बनती है।

अवस्था पंच कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः
आरंभयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।
भवेदारंभ औत्सुक्यं युन्मख्यफलसिद्धये ।
प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।
उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः।
अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चितः।
सावस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः। —साहित्यदर्पण

कार्य की पांच अवस्थाएँ होती हैं:---आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। मुख्य फल की सिद्धि के लिए उत्सुकता आरम्भ है। फल प्राप्ति के लिए धीरे-धीरे किया जाने वाला व्यापार यत्न है। आशंका और आशा जहां दोनों ही उपाय या अपाय के बल पर चलें, वह प्राप्त्याशा है। अपाय के दूर होने से कुछ निश्चित मिल जाना नियताप्ति है। जहां फल मिल जाए वह फलागम नामक कार्य की अवस्था है। कार्य की इन अवस्थाओं के क्रम से ही नाटक में पंचसंधियां (दे० यथा०) कल्पित की गई हैं। (दे० संधि, वस्तु, नाटक)

अर्थमाधुर्य---अर्थनिष्ठ मधुरता। विशेष देखिए माधुर्य।

अर्थविशेषण—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष देखिए नाट्यालंकार।

अर्थवृत्ति---वृत्ति के आचार्यों द्वारा निरूपित वृत्ति का एक भेद। विशेष देखिए वृत्ति।

अर्थव्यक्ति----अर्थ की स्फुट प्रतीति अर्थव्यक्ति है। भरत ने इसे काव्य-सामान्य दस गुणों में गिना है, दंडी ने वैदर्भ मार्ग के गुणों मे। दंडी के शब्दों में जहां अर्थ में नेयार्थत्व (अधूरे अर्थ को पूरा करने के लिए दूर का अर्थ लाना) न हो,

वहां अर्थव्यक्ति गुण होता है। अतएव इस आवश्यक गुण की साधना के लिए अनिवार्य रूप से वांछित शब्दों का प्रयोग हो, न उनसे कम का और न अधिक का— अर्थ की स्फुटता में कमी तो किसी को भी मान्य नहीं हो सकती।

अर्थसहाय---अपने राज्य की चिन्ता (तन्त्र) और शत्रु राज्य की चिंता (आवाप) में नायक राजा का सहायक पात्र। यह साधारणतः मंत्री ही होता है।

अर्थांतरन्यास—**सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।**
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः। —साहित्यदर्पण

अन्य अर्थ का रखा जाना, एक अर्थालंकार, जिसमें सामान्य से विशेष का, विशेष से सामान्य का, कार्य से कारण का और कारण से कार्य का साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा (इस प्रकार कुल ८ प्रकार से) समर्थन किया जाता है। क्रमशः उदाहरण—

(१) **निर्वासित थे राम राज्य था कानन में भी,**
सच ही है श्रीमान् भोगते सुख वन में भी। —मै० श० गुप्त

यहाँ पहले विशेष बात कह फिर सामान्य से उसका समर्थन किया गया है।

(२) **कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहि बीच।**
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अंत नीच को नीच। —बिहारी

यहाँ पहले सामान्य बात कह फिर विशेष से उसका समर्थन किया गया है।

(३) सहसा काम नहीं करना चाहिए, अविवेक विपत्ति का घर है। सोचकर काम करने वाले को सिद्धि होती है।

यहाँ सिद्धि होना कार्य, जल्दी न करना कारण का समर्थक है।

(४) **दिसि कुंजरहु कमठ अहिकोला, धरहु धरनि धरि धीर न डोला।**
राम चहहिं संकर धनु तोरा, होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥

यहाँ शंकर-धनुष तोड़ना कारण धरणी को धरने आदि कार्य का समर्थक है। ये सब साधर्म्य के उदाहरण हैं।

वैधर्म्य से यथा—दैत्य सेवा करने पर भी दुख दे रहा है। दुर्जन प्रत्यपकार से शान्त होता है, उपकार से नहीं। यहाँ सामान्य विशेष का समर्थक है। पूर्वोक्त सहसा काम न करना चाहिए आदि में 'विपत्ति का घर–होना विरुद्ध कार्य' सहसा विधान कारण का समर्थक है। ऐसे ही और जानने चाहिए। (और देखिए काव्यलिंग)

अर्थांतर संक्रमित वाच्य—उत्तम ध्वनि काव्य में अन्वय की अयोग्यता से वाच्यार्थ के ठीक अवगत न होने पर उसका अन्य अर्थ में परिणत हो जाना। जैसे "मैं तुम से कहता हूँ कि पंडितों की सभा में पहुँचकर उचित व्यवहार करना", यहाँ 'कहता हूँ' का अर्थ अन्वय योग्य न होकर अर्थ देता है कि उपदेश देता हूँ।

यह लक्षणामूलक ध्वनि का एक भेद है।

अर्थापत्ति—(१) नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

अर्थापत्ति—(२) **दंडापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।** —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार जिसमें दंडापूपिकान्याय (चूहे के दंडे को खा जाने पर उसमें बँधे पुए खा जाना तो सम्भव ही है) से दूसरे सहजसाध्य अर्थ की स्वतः सिद्धि बताई जाती है। जैसे—

(१) "अज ने सहज वीरता को छोड़ विलाप किया। तपने पर लोहा भी पिघल उठता है, शरीरधारियों की तो बात ही क्या?"

(२) **तेरो रूप जीत्यो रति रम्भा मेनका को,**
और नारिन बिचारिन को मजकूर कहा है। —दूलह

अर्थालंकार—अलंकारों का एक वर्ग। विशेष देखिए अलंकार।

अर्थोपक्षेपक—

अर्थोपक्षेपका पंच विष्कम्भकप्रवेशकौ, चूलिकांकावतारोऽथ स्यादंकमुखमित्यपि। वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः, संक्षिप्तार्थस्तु विष्कंभ आदावंकस्य दर्शितः। मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः,शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः। प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः, अंकद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कंभके यथा। अंतर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिकाः। अंकाते सूचितःपात्रैस्तदंकस्याविभागतः। यत्रांकोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इतिस्मृतः। यत्रस्यादंक एकस्मिन्नंकानां सूचनाखिला तदंकमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च यत्।
—साहित्यदर्पण

नाटकों में अर्थ, कार्य, संसूच्य वस्तु या इस बीच बीती हुई कहानी की सूचना देने के साधन। ये पाँच हैं—विष्कभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख। भूत-भविष्य की कथा का सूचक और उनका संक्षेप करने वाला विष्कंभक अंक के आरम्भ में आता है। एक-दो मध्यम पात्र वाला शुद्ध विष्कंभक और नीच और मध्यम पात्रों का मिला-जुला यह गर्भांक मिश्रविष्कंभक कहा जाता है। प्रवेशक से इसका इतना ही भेद है कि वह दो अंकों के बीच में, नीच पात्रों वाला और अरमणीय संवादों वाला होता है। जवनिका के भीतर से पात्रों द्वारा दी गई वस्तु की सूचना को चूलिका कहते हैं।अंक के अन्त में उसी के पात्रों द्वारा सूचित अगले अंक का अवतरण अंकावतार कहा जाता है। जहाँ एक ही अंक में नाटक के सारे अंकों की सूचना दे दी जाये, ऐसे बीजभूत अर्थसूचक को अंकमुख (या अंकास्य) कहते हैं। आवश्यक पर नीरस कहानी बताने के लिए आमुख के बाद विष्कंभक रख देना चाहिए और यदि शुरू से ही सरस वस्तु हो तो आमुख से आक्षिप्त अंक के आदि में

ही विष्कम्भक रखना चाहिए जैसे शकुन्तला में। अर्थोपक्षेपकों द्वारा भी अधिकारी नायक का वध सूचित नहीं करना चाहिए और न रस या वस्तु इसमें लुप्त हो जाने चाहिए।

अर्थौचित्य—काव्य मे शब्दों के अर्थ का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, समग्र औचित्यों में अर्थौचित्य का भी वही महत्त्व है। अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन तथा परिपोष प्रत्येक कवि को अभिप्रेत होता है। सच तो यह है कि अर्थदूषण से ही इतने दोष उत्पन्न हो जाते हैं कि फिर कविता कविता नहीं रहती। अतएव अर्थ के औचित्य का परिपालन अत्यन्त आवश्यक माना गया है। अर्थौचित्य की अवहेलना कविता में अनेक दोषों की सृष्टि करती है, अतः उसका पालन तो आवश्यक होना ही चाहिए।

अर्द्धसम-मात्रा-छंद—प्रथम-तृतीय और द्वितीय-चतुर्थ पादों में समान मात्रा संख्या (आंशिक समानता) वाले छंद।

अर्द्धसमवृत्त—प्रथम-तृतीय और द्वितीय-चतुर्थ पादों में समान वर्णसंख्या, गुरु लघु क्रम या समान गणों वाले (आंशिक समानता वाले) वर्णिक छन्द।

अर्धांतरैकपदत्व—छन्द के पहले चरण से सीधा अन्वय का सम्बन्ध रखने वाले शब्द के दूसरे चरण में आ जाने से होने वाला वाक्य-दोष। (दे० यथा०)।

अलंकार—शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।—साहित्यदर्पण

शब्द और अर्थ के वे अस्थायी धर्म जो काव्य की शोभा-वृद्धि और रस-भाव आदि का उपकार करते हैं। लोक में सौंदर्य-साधन हार आदि को अलंकार कहते हैं, अतः साहित्य में वे साधन, जो काव्य में सौंदर्य उत्पन्न करें, अलंकार कहे जाते हैं। रीति काव्य की शोभा को पैदा करती है, अलंकारों की भाँति बढ़ाती नहीं। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। शरीर में आत्मा (प्राण) के समान रस है। अलंकार प्राणहीन शरीर की शोभावृद्धि नहीं कर सकते, अतः काव्य में भी वे रसपूर्ण वाक्य को ही सुशोभित करते हैं, रसहीन वाक्य को नहीं। शरीर की सुगठन उसकी स्थायी शोभा है, इसी प्रकार काव्य-शरीर में गुण उसकी शोभा के स्थायी धर्म हैं और परमावश्यक हैं, अलंकार उसके अस्थायी धर्म भर ही हैं। ये हार-बाजूबन्द आदि की भाँति शरीर (काव्य) की शोभावृद्धि कर शरीरधारी (रस) के उपकारक होते हैं, और उसकी उत्कृष्टता के बोधक होते हैं।

अर्थ सौन्दर्य के सम्पादन में सहायक होने से काव्य में इनका विशेष महत्त्व है, यद्यपि यह महत्त्व रस, व्यंग्य और गुण-रीति के बाद का ही है। फिर भी अलंकार बिना रचना का सुन्दर होना असम्भव है, अतः अलंकारकृत सौन्दर्य भी उच्च कोटि के काव्य में उपयोगी माना गया है। सारांशतः अलंकारों से अर्थ में सुन्दरता आती

है, उक्ति चमत्कारपूर्ण हो जाती है, भाव अधिक स्वच्छ हो जाता है और उसकी प्रभावोत्पादक शक्ति भी बढ़ जाती है। अतः अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि और प्रभावोत्पादक शक्ति के साधन होने से काव्य में इनका विशेष महत्त्व है। बोलचाल में साधारण लोगों में भी जब अपनी उक्ति को सजाने और चमत्कारपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति देखी जाती है, तब काव्य का तो कहना ही क्या है। इसलिए भले ही किसी कवि द्वारा सभी अलंकारों का उपयोग न भी हो, फिर भी इनकी काव्य में स्थिति आवश्यक है। हाँ, यह अवश्य है कि साहित्यदर्पणकार के शब्दों में इनकी स्थिति उतनी आवश्यक नहीं होती, जितनी गुणों की। फिर भी कुछ लोग इनको उपेक्षणीय और कवि-प्रतिभा की स्वच्छन्दता में बन्धन के समान मानते रहे हैं। उनके मत से इनसे उनकी प्रतिभा की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, जकड़ जाती है। पर वस्तुतः यह धारणा निर्मूल है, क्योंकि ये उसे आगे बढ़ाने में सहायता ही देते हैं, बाधा नहीं। कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति में असमर्थ होने पर रहस्यवादियों की भांति रूपक और अन्योक्ति का आश्रय लेता है, जिनसे वर्णन-शैली तो विलक्षण हो ही जाती है, अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। पर ध्यान यह रहना चाहिए कि साधन साध्य न बन जाय। वर्ण्य-विषय को चमत्कृत और प्रभावशाली बनाने के लिए ही उनका उपयोग हो, अन्यथा नहीं—अलंकार काव्य के लिए हों, काव्य अलंकारों के लिए न हो जाय। कामिनी के नाक-कान छेद और रक्त बहाकर उसे अलंकारों के बोझ से इतना लाद दिया जाय कि वह न चल सके और न साँस ले सके तो वे अलंकार शोभाधायक कैसे होंगे? बस यही दशा काव्यालंकारों की भी है। अनायास आये थोड़े से अलंकार शोभाधायक होते हैं, प्रयासपूर्वक रची गई उनकी शृंखला नहीं।

शब्दों की शोभा बढ़ाने और अर्थ की शोभा बढ़ाने से इसके दो भेद हो जाते हैं। तीसरा भेद उभयालंकारों का है। शब्दों की बाहरी सजावट को महत्त्व देने के कारण शब्दालंकारों का अर्थालंकारों जितना महत्त्व नहीं। अर्थालंकार काव्य में अत्यावश्यक हैं, शब्दालंकार नहीं। दोनों में चमत्कार के तारतम्य से बहुत अंतर है।

आरम्भ में कुल ४ ही अलंकार थे, पर अब उनकी संख्या १०० से भी अधिक हो गई है। यद्यपि कुछ पुराने अलंकार प्रयोग से उठ गये हैं, पर नवीन शैली के नये अलंकार भी बढ़े हैं। शब्दालंकार और उभयालंकार गिने-चुने हैं। अर्थालंकारों की ही संख्या बहुत अधिक है, पर उनको भी मोटे रूप से निम्न पाँच वर्गों में बाँटा गया है:

(१) साम्यमूलक—उपमा, रूपक आदि।
(२) विरोधमूलक—विषम, विरोधाभास आदि।
(३) शृंखलामूलक—सार, एकावली आदि।
(४) न्यायमूलक—काव्यलिंग, यथासंख्य आदि।

(५) **गूढार्थप्रतीतिमूलक**—पर्यायोक्त आदि।

भेद यथास्थान देखिए।

अलंकारवाद—अलंकारों को ही सर्वस्व मानकर चलने वाली धारा। विशेष देखिये अलंकार सम्प्रदाय।

अलंकार-शास्त्र—अलंकार-शास्त्र शब्द सम्भवतः उस युग की उपज है जब कविता में अलंकार सर्वाधिक उपादेय माने गये थे। राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमासा में इस शास्त्र को साहित्यविद्या नाम दिया है, तथा प्रसिद्ध चार विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति) से अतिरिक्त पंचमी विद्या ही नहीं, इसे इन चारों का निष्यन्द (निचोड़) बताया है। किन्तु साहित्य विद्या नाम सर्वथा उपादेय होते हुए भी अधिक प्रचलित न हो सका। वात्स्यायन ने 'क्रिया' का अर्थ काव्य-ग्रन्थ तथा 'कल्प' का अर्थ विधान लेकर इसे 'क्रियाकल्प' संज्ञा दी परन्तु अलंकार-शास्त्र जितना प्रचलन अन्य कोई शब्द न पा सका।

भारतीय अलंकार-शास्त्र के पीछे गम्भीर चिन्तन की धारा ईसा से भी बहुत पूर्व से दृष्टिगोचर होती है। निरुक्तकार यास्क ने अपने भी पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य का उपमा का वैज्ञानिक लक्षण देकर ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के उदाहरण दिए हैं। पाणिनि द्वारा नटसूत्र प्रणेता शिलालि और कृशाश्व का उल्लेख भी इस शास्त्र की प्राचीनता की ओर संकेत करता है। द्वितीय शतक के रुद्रदामन् आदि के शिलालेख अलंकारपूर्ण भाषा ही में नहीं हैं, अपितु अलंकार-शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का भी निर्देश करते हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र का मूल अंश तो कम-से-कम बहुत ही प्राचीन है। अग्निपुराण की प्राचीनता निर्विवाद न हो, फिर भी भामह ने षष्ठ शतक में; दण्डी ने सप्तम शतक में; वामन तथा उद्भट ने अष्टम शतक में; रुद्रट तथा आनन्दवर्धन ने नवम शतक में; राजशेखर, अभिनवगुप्त तथा धनंजय ने दशम शतक में; भोजराज, मम्मट तथा क्षेमेन्द्र ने एकादश शतक में; रुय्यक, हेमचन्द्र तथा वाग्भट्ट ने द्वादश शतक में; शारदा-तनय ने त्रयोदश शतक में; विश्वनाथ कविराज ने चतुर्दश शतक में इस शास्त्र में अनूठे ग्रन्थों की उद्‌भावना करके इस परम्परा को अक्षुण्ण रखा है। उपर्युक्त प्रमुख ग्रन्थकारों से इतर सामान्य ग्रन्थकारों तथा इन सबके टीकाकारों के प्रयत्नों ने इस प्रवृत्ति को १८वीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में जागरूक रखा है।

यह स्वाभाविक ही है कि इतने वर्षों की गम्भीर विवेचना के कारण अलंकार-शास्त्र के चरम लक्ष्य, साधन तथा दृष्टिकोण में क्रमशः विकास होता गया। कालांतर में इस शास्त्र में अनेकों सम्प्रदायों का जन्म होता गया (देखिए अलंकार-शास्त्र-सम्प्रदाय) आचार्यों की इस गवेषणात्मक प्रवृत्ति, वैज्ञानिक विश्लेषण में आसक्ति तथा पाण्डित्य तथा कवित्व दोनों ही से पल्लवित कल्पना ने भारतीय अलंकार-शास्त्र को

विश्व के विवेचनात्मक साहित्य में एक प्रमुख स्थान दे दिया है।

अलंकार-शास्त्र-सम्प्रदाय—काव्य की आत्मा क्या है, इस तथ्य की गवेषणा करते हुए अलंकार-शास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न निष्कर्ष निकाले। काव्य की इन विभिन्न व्युत्पत्तियों के कारण अलंकार-शास्त्र में अनेकों सम्प्रदायों का जन्म हुआ। एक सम्प्रदाय के आचार्य ने अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व स्वीकृत किया, तो दूसरे ने गुण को ही काव्य का प्राणभूत माना। तीसरे ने यह स्थान रीति को दिया, तो चौथे ने ध्वनि को। इन सम्प्रदायों में सर्वाधिक मान्यता 'काव्य की आत्मा रस' मत वाले रस सम्प्रदाय को दी गई और प्रायः प्रत्येक आचार्य ने किसी न किसी रूप में रस की काव्य में आवश्यकता का समर्थन किया है। रसवादी मत के अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक होने के कारण इस मत के समर्थक ही अधिक नहीं हुए, अपितु स्वयं रस की निष्पत्ति के प्रकार में मतभेद होने से रस में ही तीन-चार उपसम्प्रदाय उत्पन्न हो गये।

अलंकार-शास्त्र के निम्न छः प्रमुख सम्प्रदाय हैं—

(१) **रस सम्प्रदाय**—भरतमुनि, विश्वनाथ, जगन्नाथ।
(२) **अलंकार सम्प्रदाय**—भामह, उद्भट, रुद्रट।
(३) **गुण सम्प्रदाय**—दण्डी, वामन।
(४) **वक्रोक्ति सम्प्रदाय**—कुन्तक।
(५) **ध्वनि सम्प्रदाय**—आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त।
(६) **औचित्य सम्प्रदाय**—क्षेमेन्द्र।

अलंकार सम्प्रदाय—भामह और उनके टीकाकार उद्भट तथा रुद्रट इस सम्प्रदाय के प्रमुख कर्णधार हैं। पीछे से दण्डी ने भी अलंकारों की मान्यता किसी न किसी रूप में स्वीकृत की, किन्तु तत्पश्चात् 'कामिनी के शरीर में आभूषणों का जो स्थान है, वही कविता में अलंकारों का'—इस मत को मानने वालों की संख्या बढ़ती गई। फिर भी ये लोग अलंकार को सर्वथा ठुकरा न सके और उसे काव्य शरीर के सौन्दर्य में उचित स्थान देते रहे। (उदाहरणतः 'सौन्दर्यमलंकारः'—वामन)

यास्क ने अपने भी पूर्ववर्ती गार्ग्य द्वारा की गई उपमा की परिभाषा देकर ऋग्वेद के उदाहरण दिए हैं, इसी से अलंकारों का जन्म बहुत पुराना सिद्ध होता है। एक युग में आचार्यों ने अलंकारों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया था, यही अलंकार सम्प्रदाय का स्वर्ण-युग था। तभी काव्य के समग्र अंगों की विवेचना करने वाले शास्त्र तक को अलंकार शास्त्र संज्ञा दी गई।

अलंकारों का विकास क्रमशः हुआ है। भरत के केवल चार अलंकारों—अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक—की कुवलयानन्द में १२५ तथा साहित्यदर्पण में भेद-उपभेद सहित २५० से भी अधिक संख्या में विकास की कहानी अत्यन्त मनोरम है।

अलंकारवादी आचार्य भी रस की पूर्णतः अवहेलना न कर सके हैं और उसे भी रसवत्, प्रेय, उर्जस्वी और समाहित नामक अलंकारों में ही बाँधने के लिए यत्नशील रहे हैं। हिन्दी साहित्य के रीतिग्रंथों में अलंकारवाद की ही प्रधानता रही। केशव, चिन्तामणि आदि इसी कोटि के कवि और आचार्य हैं।

अलंकारौचित्य—काव्य में अलंकार-विधान भी एक कौशल का कार्य है। वे रस और भावों के पोषक बनकर ही अपनी सत्ता प्राप्त करते हैं, अलंकार्य के बिना अलंकार का कोई अस्तित्व नहीं। यह पहली आवश्यकता है कि कविता कामिनी असंबद्ध तथा असंतुलित अलंकारों से बोझिल न होने पाए, उनकी योजना कृत्रिम न प्रतीत हो, उनका प्रभाव रस सौन्दर्य से पृथक् न हो। वही अलंकार लांजिनस के शब्दों में सर्वश्रेष्ठ है, जो 'यह अलंकार है' ऐसा पाठक को प्रतीत न हो पाए—इन सारी बातों का ध्यान रखना ही अलंकारौचित्य है।

क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जिस प्रकार पीनस्तन पर पहने गये हार से हरिणलोचना सुन्दरी अलंकृत होती है, उसी प्रकार प्रस्तुत स्थल के अनुरूप अलंकार प्रयोग से, अलंकारौचित्य से, कवि की उक्ति चमत्कृत होती है (औचित्यविचारचर्चा, श्लोक ५) अतः प्रस्तुत रस, भाव तथा स्थल के लिए उचित अलंकार ही अर्थ-चमत्कार का ठीक-ठीक प्रस्फुटन करेगा।

प्रतिभावान् कवि की वाणी अंतःप्रसूत होती है, उनके लिए शब्दालंकारों की विपुल-योजना भी कृत्रिम नहीं हो पाती, उदाहरण के लिए कालिदास और तुलसी के यमक तथा अनुप्रास के प्रयोग को देखिए। ये ही अलंकार केशव को कठिन काव्य का प्रेत बना देते हैं, किन्तु कालिदास तथा तुलसीदास द्वारा किया गया उनका ही प्रयोग बड़ा हृदयग्राही एवं रसपोषक बनता है। अलंकारौचित्य का अध्ययन रस सिद्ध प्रतिभावान् कवियों के अलंकार प्रयोग का मनन करके करना चाहिए।

अलक्ष्यक्रम व्यंग्य—काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस अभिधामूलक ध्वनि के भेदों में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशान्ति और भावशबलता को रखा है। (भेद दे० यथा०)। जहाँ ये रसादि प्रधान रूप में रहते हैं, ये अलंकार्य होते हैं, और कभी-कभी प्रधान रस के अंग बन जाते हैं, पर इनके अप्रधान हो जाने पर ये गुणीभूत-व्यंग्य (दे० यथा०) नामक मध्यम काव्य मे रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित नामक रस सम्बन्धी अलंकारों के रूप में प्रकट होते हैं।

अल्प—एक अर्थालंकार, जिसमें अति छोटे आधार से भी छोटा आधेय हो, जैसे—

> **राजै बिनु जोर छला छिगुनी के छोर,**
> **ता छला में मापि लीजै भई छाम कटि वाम की।**—(दूलह)

इसे कुछ आचार्य असम्बन्धातिशयोक्ति में गिनते हैं।

अवगलित—नाटक की प्रस्तावना का एक भेद, जहाँ एकत्र समावेश होने पर सादृश्य आदि के द्वारा कोई पात्र दूसरे कार्य की सिद्धि करे, जैसे—शकुन्तला नाटक में सूत्रधार नटी से कहता है कि तुम्हारे राग पर मैं वैसे ही मुग्ध हूँ जैसे दुष्यंत हरिण पर, और दुष्यंत का प्रवेश दिखा दिया जाता है।

यह 'वीथी' नामक रूपक के दस भेदों में से एक भेद के तेरह अंग में से एक अंग भी हैं।

अवज्ञा—एक अर्थालंकार, जिसमें एक के गुण या दोष दूसरे को नहीं लगते हैं। जैसे—

> **औरन के अनबाढ़े कहा अरु बाढ़े कहा नहिं होत चहा है,**
> **औरन के अनरीझे कहा अरु रीझे कहा न मिटावत हा हैं।**
> **भूषन श्रीसिवराजहि जांचिये एक दुनी पर दानि महा है,**
> **माँगत औरन के दरबार गए तो कहा न गए तो कहा है।**—भूषण

अवतारी—२४ मात्राओं वाले मात्रिक छंदों की जाति का नाम। विशेष देखिए मात्रा जाति।

अवमर्श—विमर्श नामक नाटक सन्धि का अन्य नाम। विशेष देखिए विमर्श।

अवरोध-सहाय—बौने, नपुंसक, किरात, म्लेच्छ (जंगली) आभीर (अहीर), शकार (राजा का साला) और कुबड़े आदि नायक राजा के अंतःपुर (रनवास) में सहायक पात्र।

अवरोह—वस्तु के क्रमबद्ध उत्थान प्रकर्ष का ही एक अन्य नाम। विशेष देखिए प्रकर्ष।

अवस्था—नाटक में कार्य नामक अर्थप्रकृति (दे० यथा०) के उतार-चढ़ाव का क्रम। इसके पाँच अंग रहे हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। पहले में कार्य की भूमिका रहती है, दूसरे में सिद्धि के लिए यत्न होता है, तीसरी दशा में प्राप्ति की आशा होने लगती है और चौथी में थोड़ी प्राप्ति हो जाती है, पर विघ्न के कारण सिद्धि में संशय रहता है। अन्त में जाकर फलागम होता है। शेक्सपियर में भी ब्रेडले ये पाँच विभाजन ही देखते हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि ये नाटक के पाँचों अंकों के समानान्तर ही चलें, पर प्रायः यह रेखा अंकों के विभाजन के आस-पास ही रहती थी। आज अंकों की संख्या तीन रह जाने से कार्य की अवस्थाएँ भी तीन ही रह गई प्रतीत होती हैं। विशेष देखिए सन्धि, अर्थप्रकृति।

अवस्यंदित—वीथी नामक रूपक का एक अंग। विशेष दे० वीथी।

अवहसित—हास्य का एक भेद। विशेष देखिए हास्य।

अवहित्था (१) भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था।
व्यापारान्तरासक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी। —साहित्यदर्पण

भय, गौरव, लज्जा आदि कारणों से हर्ष आदि के आकार का छिपाना। इसमें अनपेक्षित कामों में लग जाना, बात बनाना या दूसरी ओर देखना आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

उमड़े आँसू हर्ष के, लियो छिपाइ जम्हाइ। —काव्यालोक

अवहित्था (२) शिल्पक नामक उपरूपक का एक भेद। विशेष दे० शिल्पक।

अवाचकत्व—काव्य का एक दोष। तुम्हारे मिलने से अँधेरी रात भी मेरे लिए दिन हो गई। इस वाक्य में रात के प्रकाशमय हो जाने के अर्थ में 'दिन' शब्द अवाचक है और इस दोष (दे० यथा०) का उदाहरण है।

अविमृष्ट-विधेयांश—विधेय अंश का प्रधान रूप से विमर्श न होने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०)। जैसे—

मैं रामानुज हूँ, राक्षसों की मेरे आगे क्या बिसात ?

इस वाक्य में राम का सम्बन्ध बताना विधेयांश था, पर राम का अनुज न कह समाप्त कर देने से राम की विशेषता न रही और यह दोष हो गया।

अविशेष में विशेष—अविशेष अभिप्रेत होने पर भी विशेष कथन से उत्पन्न अर्थदोष, जैसे 'विद्रुमों के भण्डार समुद्र का कैसे वर्णन हो सकता है' यहाँ 'रत्ननिधि समुद्र' इतना अविशेष अर्थ ही वाच्य था। इसी प्रकार वाच्य विशेषण के न कहने पर भी यह दोष होता है।

अश्राव्य—नाटक में संवाद का एक प्रकार। कुछ बात शेष पात्रों के सुनने के लिए नहीं होती, बल्कि एक पात्र की आत्मगत बात होती है। विशेष देखिए नाट्योक्ति।

अश्रु—अश्रुनेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम्। —साहित्यदर्पण।

क्रोध, दुःख और हर्ष से उत्पन्न नेत्रों का जल। यह एक सात्विक भाव है।

अश्लिष्ट परंपरित—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष देखिए रूपक।

अश्लीलत्व—लज्जास्पद या घृणास्पद शब्दों के प्रयोग से रचना को दूषित करने वाला काव्यदोष। गुह्यांगों के नामों या तत्सम्बन्धी व्यापारों या वमन आदि का भद्दा चित्रण करने वाली रचना इस दोष से दूषित होगी। व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगलवाची होने से यह तीन प्रकार का होता है। यह अर्थ-दोष भी है। सुरतारम्भ और गोष्ठी में यह गुण ही हो जाता है। यह पद, पदांश और अर्थ तीनों का दोष है।

अश्वगति—तीव्र नामक छंद का अन्य नाम। विशेष देखिए तीव्र।

अश्वावतारी—३१ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष देखिए मात्रा जाति।

अष्टि--१६ वर्णों वाले वर्णिक छंदों की जाति का नाम। विशेष देखिए वृत्तजाति।

असंगति—कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः। —साहित्यदर्पण।

एक विरोध-मूलक अर्थालंकार, जिसमें कार्य और कारण की भिन्न-देशता रहती है। कारण कहीं होता है, कार्य कहीं, जैसे—

दृग उरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति।। —बिहारी

यहाँ असंगतियों की परम्परा-सी है।

असंभव—एक अर्थालंकार, जिसमें 'कौन जानता था' शब्दों में कुछ असम्भव बात बता उसे ही सम्पन्न दिखाया जाय, जैसे—

किन जान्यों लुटि जाइहैं, गोरी अर्जुन साथ। —दास

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य--अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का अन्य नाम। विशेष देखिए अलक्ष्यक्रम व्यंग्य।

असत्प्रलाप—वीथी नामक रूपक का एक अंग। विशेष दे० वीथी।

असम—एक साम्यमूलक अर्थालंकार, जिसमें उपमान का बिलकुल निषेध कर दिया जाय अर्थात् यह कहा जाय कि इसकी समता का उपमान है ही नहीं। उदाहरण—

सुकृती तुम समान जग माहीं।
भयउ न है कोउ होनेहुं नाहीं।।

असमर्थत्व—असमर्थ शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न दोष (दे० यथा०)।

असमस्ता—समासवृत्ति का अभाव। विशेष दे० वृत्ति, समासवृत्ति।

असुंदर—गुणीभूतव्यंग्य नामक मध्यमकाव्य के आठ भेदों में से एक। विशेष दे० गुणीभूतव्यंग्य।

असूया—असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेंगितादिकृत्। —साहित्यदर्पण।

उद्दण्डता के कारण दूसरे की गुण-समृद्धि आदि का सहन न करना। इसमें दोष-कथन, भौं चढ़ना, तिरस्कार, क्रोध आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

तोड़े धनुष चांड नहिं सरई, जीवत हमहिं कुँवरि को बरई।

अस्फुट—गुणीभूतव्यंग्य नामक मध्यम काव्य के आठ भेदों में से एक। विशेष देखिए गुणीभूत व्यंग्य।

अस्थानयुक्तत्व—अनुचित स्थान में प्रयुक्त पद के कारण पैदा होने वाला अर्थदोष। (दे० यथा०) जैसे—

इन्द्र भी इसकी आज्ञा मानते हैं, यह शास्त्रपारंगत है, शिव का भक्त है, इसकी सुन्दर लंका नगरी है, यदि यह रावण (रुलाने वाला) न होता, तो इसे वह वर मिलना कठिन था, पर सब में सब गुण कहाँ होते हैं ?" यहाँ अभिप्रेत उपेक्षणीयता 'पर सब में सब गुण कहाँ होते हैं', इस अस्थान में प्रयुक्त पद के कारण कम हो जाती है ।

अस्थानस्थपदत्व—पद को अनुचित स्थान पर रख देने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०) जैसे, 'जो न हित की सुने वह स्वामी नहीं', में न 'सुने' से पहले होना चाहिए था ।

अस्थानस्थसमासता—समास की अनुचित स्थान में स्थापना से उत्पन्न दोष (दे० यथा०)। दो समान प्रकार के पदों में एक में समास कर देने और दूसरे में न करने से भी यह दोष होता है ।

अस्रगीत—जवनिका के भीतर से गाया गया प्रस्तुत अर्थ को बढ़ाने वाला गीत। इसका प्रयोग उल्लाप्य (दे० यथा०) नामक उपरूपक में विहित है।

अहि—छै भगणा अरु एक जहाँ मगणा तंह छंद अही रम्या।

छः भगणों और एक मगण से बनने वाला प्रकृति जाति का समवृत्त छंद। इसमें १२-६ पर यति होती है।

अहीर—मात्रा रुद्र अहीर, अंता जगण सुधीर ।

ग्यारह मात्राओं तथा अंत में जगण से बनने वाला रौद्र जाति का सम मात्रा छंद।

आ

आंक—६ मात्राओं वाले मात्रिक छंदों की जाति का नाम। विशेष देखिए मात्रा जाति।

आंगिक—शरीर की चेष्टाओं द्वारा किया गया अभिनय। विशेष देखिए अभिनय।

आकाशभाषित—प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त होने वाला एक विशिष्ट संवाद-प्रकार। विशेष देखिए नाट्योक्ति।

आकृति—२२ वर्णों वाले वर्णिक छंदों की जाति का नाम। विशेष देखिए वृत्त जाति।

आक्रन्द—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

आक्षेप—वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।

निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तिगो द्विधा। —साहित्यदर्पण।

एक अर्थालङ्कार, जिसमें विवक्षित वस्तु की कुछ विशेषता बताने के लिए निषेध-सा किया जाता है। यह दो प्रकार का है। पहला वक्ष्यमाण वस्तु के निषेध पर और दूसरा कथित वस्तु के निषेध पर होता है। वक्ष्यमाण के निषेध में कहीं सामान्य रूप से सूचित पूरी बात का और कहीं उसके एक अंश का निषेध होता है। कथित वस्तु के निषेध में कहीं उसके स्वरूप और कहीं उसके कथन का निषेध होता है। दिङ्मात्र उदाहरण—

क्षण भर ठहर मैं काम-बाणों से खिन्न अपनी सखी के विषय में कहूँगी। पर तुम्हारे जैसे निर्दय के आगे क्या कहूँ?

यहाँ सामान्यत: सूचित विरह के वक्ष्यमाण विशेष रूप का निषेध है। **दूसरा—मैं दूती नहीं; न इस कारण आई हूँ कि तुम उसके प्रियतम हो। यही कहने आई हूँ कि वह मरेगी, तुम्हें अपयश लगेगा।** यहाँ 'दूती' इस कथित वस्तु का निषेध है। अनिष्ट वस्तु का विधान जहाँ आभासित होता हो, वह दूसरा आक्षेप अलंकार है जैसे—

'प्रिय, जाते हो तो जाओ, परमात्मा करे मेरा भी जन्म वहीं हो जहाँ तुम जा

रहे हो।' यहाँ अनिष्ट (मरण) के आभासित होने से आक्षेपालंकार है।

आख्यान (१)—आर्ष महाकाव्यों के सर्गों का नाम। विशेष दे० सर्ग।

आख्यान (२)—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

आख्यानक-गीति—एक पद्यबद्ध सरल कहानी। पहले ये गीत ही थे, जो नृत्य के साथ चलते थे। इसमें युद्ध, वीरता, पराक्रम, प्रेम, घृणा, करुणा, साहस, अतिभौतिक घटनाएँ आदि का सविवरण वर्णन होता है। वर्णन-प्रभाव का स्वच्छंद वेग, शक्ति और उत्साह का संचार आदि की बहुलता होती है, और वर्णनस्थल और मनोवैज्ञानिक चित्रण का अभाव होता है। केवल 'कार्य' इसका मूल तत्त्व है। साहित्यिक सौष्ठव न भी हो, पर गति, प्रवाह और ओज अत्यावश्यक है। सहजता, अबाधता, सरलता, लय और स्वाभाविकता इसके प्राण हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने गुरुकुल में 'तेगबहादुर हाँ वे ही थे' की पुनरुक्ति द्वारा इसकी सृष्टि की है। पुनरुक्ति और अन्तरे इसे विशेष सशक्त बनाते हैं। दीन का 'वीर-पंचरत्न' और सुभद्राकुमारी चौहान की 'झांसी की रानी' इस दिशा में सफल कृतियाँ हैं। 'आल्हखण्ड' हिन्दी की अत्यन्त लोकप्रिय आख्यानक-गीति है। अंग्रेज़ी में वीरगीतों की इस शैली को 'बैलड' कहते हैं।

आख्यानकी—एक छंद का नाम। आख्यानकी शक्त त ता ज गा गा, अशक्त जानो ज त जा गुरू दो। प्रथम-तृतीय चरणों में दो तगण, जगण और दो गुरु तथा द्वितीय-चतुर्थ चरणों में जगण, तगण, जगण और दो गुरु से बनने वाला अर्द्ध-सम वृत्त छंद।

आख्यायिका—एक विशेष प्रकार की कथा (देखिए यथास्थान)। इसमें कवि का अपना वंश-वर्णन होता है और कहीं-कहीं दूसरे कवियों का वृत्तांत और पद्य भी आ जाते हैं। आख्यायिका की कथा नायक-मुख से ही कही जाय, यह मत सब आचार्यों को मान्य नहीं है। बाण का हर्षचरित इसका उदाहरण है।

आत्मकथा—लेखक द्वारा स्वयं लिखे जाने वाले अपने जीवन-चरित्र को आत्मकथा कहते हैं, जैसे महात्मा गांधी, डा० राजेन्द्रप्रसाद आदि की आत्मकथाएँ। आत्मकथा में जीवन-चरित्र की भाँति घटना-वर्णन की एकता होती है, जिसका एक सूत्र में क्रमबद्ध रूप में संगठित होना अनिवार्य है। यही इसे संस्मरण, पत्रों और दैनंदिनी आदि से अलग कर देती है। गांधी जी और पंडित नेहरू जैसे व्यक्तियों की आत्मकथा में एक सौन्दर्य और है वह यह कि इनमें जीवन-चरित्र के आत्माभिव्यंजक आकर्षण के अलावा इन महान् व्यक्तियों के जीवन से सम्बद्ध महान् घटनाओं आदि का विवरण भी मिल जाता है और उन घटनाओं के विषय में लेखक के अपने विचार भी।

आत्मसंवित्ति—वृत्ति के आचार्यों द्वारा किया गया वृत्ति का एक भेद। विशेष देखिए वृत्ति।

आदर्शवाद—जीवन की वास्तविक घटनाओं की अपेक्षा कुछ उदात्त एवं आदर्श घटनाओं या चरित्रों को प्रस्तुत करना। यद्यपि जीवन में पुण्य और पाप दोनों ही देखे जाते हैं, पर पाप का नग्न चित्रण करके कलाकार जीवन में सुधार उपस्थित नहीं कर सकता ऐसी आदर्शवादियों की धारणा है। इसके विपरीत यथार्थवादी (दे० यथार्थवाद) जीवन के वास्तविक चित्रण के ही पक्ष में हैं।

आदान—विमर्श नामक नाटक-सन्धि का एक अंग। विशेष देखिए विमर्श।

आदित्य—१२ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

आधिकारिक—कथानक का प्रमुख भाग। विशेष दे० वस्तु।

आनन्द—निर्वहण नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

आनन्दवर्धक—यति के नियम को छोड़कर शेष बातों में पीयूषवर्ष (दे० यथा०) के समान १९ मात्राओं का सम-मात्रा-छंद।

आभरणकृत—नाटक में उपयोगी आभरण बनाने वाला।

आमुख—सामान्यतः भूमिका या नाटक में वह दृश्य जहाँ पर नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ अपने कार्य सम्बन्धी ऐसी बातें करते हैं, जिससे नाटक की कथा की सूचना मिल जाए। इसे प्रस्तावना भी कहते हैं। इसके पाँच भेद होते हैं। उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। (भेद यथास्थान देखिए)

आरम्भ—नाटक की अन्तिम अर्थप्रकृति कार्य की पहली अवस्था। विशेष दे० अवस्था, अर्थप्रकृति, संधि, वस्तु।

आरभटी—**मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः**
संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता।

सात्वती वृत्ति से ठीक विपरीत आरभटी वृत्ति होती है। 'अर' का अर्थ है सोत्साह तथा निरालस्य तथा 'भट' का योद्धा। इस नामकरण से इस वृत्ति का स्वरूपनिर्देश बहुत कुछ हो जाता है। संग्राम की प्रधानता तो इसमें होती ही है, सात्वती के न्यायवृत्त के विपरीत यहाँ अन्यायवृत्त—माया, छल, प्रपंच, इन्द्रजाल, क्रोध, मिथ्या, युद्ध नियमोल्लंघन, गिरना, कूदना, उछलना, लांघना आदि उद्भ्रांत चेष्टाओं का पालन भी होता है। स्पष्टतः यह धीरोद्धत नायक की वृत्ति है तथा रौद्र भयानक और वीभत्स रस इसके प्रमुख क्षेत्र हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य एवं लालित्य के विपरीत होने के कारण यह वृत्ति कैशिकी के भी विपरीत होती है। शारदातनय ने आरभटी का सम्बन्ध ताण्डव से जोड़ा है, जब कि कैशिकी का लास्य से। आरभटी की उत्पत्ति अभिचार तथा माया आदि का वर्णन

करने वाले अथर्ववेद से हुई है, अतः उससे भी इसके स्वरूप का निर्देश होता है।

दशरूपक में इसके भी चार भेद बताये गये हैं—संक्षिप्तक, अवघातक, वस्तु-स्थापन और संफेट।

आरोप—वह ज्ञान जो कल्पित तो होता है, पर उसमें उपमेय और उपमान का पृथक् ग्रहण हुआ रहता है और साथ ही उपमेय और उपमान का अभेद भी निश्चयात्मक रूप से प्रतीत होता है। राम का अभिनय करने वाले नट में दर्शक राम का आरोप कर लेते हैं। मुख्य व्यक्ति का ज्ञान रहने पर भी उसे राम समझ लिया जाता है। (विशेष देखिए रूपक, उत्प्रेक्षा।)

आरोह—एक चरम बिन्दु तक कथानक का उत्थान। (विशेष दे० प्रकर्ष।)

आर्थी—उपमा अर्थालंकार का एक भेद। (विशेष दे० उपमा।)

आर्या—पहले तीजे बारह, दूजे अठारह कला का युग हो। चौथे पंद्रह जानो, मुनिवर सुभाषित आर्या हो।

प्रथम पाद में १२, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ और चतुर्थ में १५ मात्राओं से बनने वाला विषम मात्रा छन्द। यह संस्कृत छन्द हिन्दी में कम चलता है। इसे गाथा या गाहा भी कहते हैं।

आर्यागीति—"आर्या के ही पहले दल में गुरु एक और जोड़े ता में, रच दूसरा प्रथम सम, आर्यागीती कहो उसे जाती में।"

आर्या (दे० यथा०) के प्रथम चरण में एक गुरु और बढ़ा देने और इसी प्रकार का दूसरा दल होने पर बनने वाला विषम मात्रा छन्द।

आर्ष-प्रयोग—ऋषियों द्वारा प्रयुक्त किये गये पुराने पद, जो पीछे व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध सिद्ध हो गये थे, पर परवर्ती पुराण आदि में चलते रहे, और इनको ही आर्ष-प्रयोग नाम से पुकारा गया। इसी प्रकार भाषा से जिन शब्दों का प्रचलन उठ जाये, उन शब्दों का ही लेखक द्वारा प्रयोग आर्ष-प्रयोग कहा जायेगा। तुलसी आदि उच्च कवियों में भी ऐसे पद दिखाई देते हैं, जिनका प्रचलन उस समय तक उठ गया था। लेखक को इस विषय में बड़ा सतर्क रहना चाहिये। द्विवेदी-युग की खड़ीबोली में यत्र तत्र बिखरे ब्रजभाषा के शब्द इसी नाम से पुकारे जाने चाहिए। (और दे० बर्बर प्रयोग)।

आलंबन—**आलंबनोद्दीपनादिस्तमालंब्य रसोद्गमात्।** —साहित्यदर्पण

नाटक अथवा काव्य आदि में जिनका आश्रय लेकर रस की निष्पत्ति होती है, वे नायक, नायिका और प्रतिनायक आदि आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। शृंगार में सीता आदि नायिकाएँ तथा वीर में रावण आदि प्रतिनायक भी राम आदि नायकोंके साथ आलंबन विभाव बनते हैं। प्रत्येक रस का अपना आलंबन विभाव होता है और कम से कम

परस्पर विरोधी रसों का तो एक आलंबन हो ही नहीं सकता।

आलस्य—(१) शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

आलस्य—(२) आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृंभासितादिकृत्।—साहित्यदर्पण

थकावट और गर्भ आदि से पैदा जड़ता। इसमें जँभाई और एक जगह बैठा रहना आदि क्रियायें होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

'लरिका श्रमित उनींद बस सयन करावहु जाय।'

आल्हा—वीर नामक मात्रिक छन्द का लोकप्रचलित नाम। विशेष दे० वीर।

आवेग—आवेगः संभ्रमस्तत्र हर्षजे पिंडितांगता।
उत्पातजे स्रस्तताङ्गे धूमाद्याकुलताग्निजे॥
राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् गजादेः स्तंभकंपादि, पांस्वाद्याकुलतानिलात्।
इष्टाद्धर्षाः शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम्। —साहित्यदर्पण

संभ्रम या घबराहट। यदि यह हर्ष से उत्पन्न होता है, तो इसमें शरीर संकुचित हो जाता है और उत्पातजन्य होने पर देह ढीली पड़ जाती है। अग्नि-जन्य में धुएँ आदि से व्याकुलता होती है। राजा के पलायन आदि से पैदा हुए आवेग में शस्त्र-हाथी आदि की तैयारी, हाथी आदि से उत्पन्न आवेग में स्तम्भ और कंप आदि और वायुजन्य में धूल आदि से व्याकुलता होती है। इष्टजन्य आवेग में हर्ष और अनिष्टजन्य में शोक होता है। इसी प्रकार दूसरे आवेग भी यथावत् समझने चाहिए। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

'धाए धाम काम सब त्यागी।'

आशंसा—(१) नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

आशंसा—(२) शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

आशीष—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

आश्रय—(१) नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

आश्रय—(२) रस से संबंधित चार व्यक्तियों में से एक। विशेष दे० रस।

आश्वास—(१) शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

आश्वास—(२) प्राकृत महाकाव्यों में सर्ग का नाम। विशेष दे० सर्ग, कथा।

आसक्ति-शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

आसीन—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले दस लास्यांगों में से एक

विशेष दे० लास्याग।

आहत विसर्गत्व--विसर्गों के आहत हो जाने (ओ बन जाने) से उत्पन्न वर्ण दोष (दे० यथा०)। यह हिन्दी में नहीं हाता।

आहार्य—देखिए अभिनय।

इ

इंदव—मत्तगयंद छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मत्तगयंद।

इंदिरा—न, र, र, ला, ग से इंदिरा रचो। नगण, दो रगण, लघु और गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द। इसे कनकमंजरी भी कहते हैं।

इंदुकला—दे० पदपादाकुलक।

इंद्रवज्रा—है इंद्रवज्रा त त जा ग गा से। दो तगण, जगण और दो गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द।

इंद्रवंशा—है इंद्रवंशा त त जा र शोभिनी, दो तगण, जगण और रगण से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

इतिवृत्त—इतिहास प्रसिद्ध घटना को इतिवृत्त कहते हैं। इतिवृत्त का विशुद्ध इतिहास से प्रधान भेद यही है कि जहाँ इतिहास अनेकों घटनाओं का लेखा-जोखा है, क इतिवृत्त एक विशेष घटना को वस्तुस्थिति का यथातथ्य विवरण देता है। इतिहास एक समूचे देश का, साहित्य का अथवा जाति आदि का होता है, जब कि इतिवृत्त किसी विशेष घटना मात्र का ही यथातथ्य विवरण होता है।

इतिवृत्त का उपयोग साहित्य में इतिहास की अपेक्षा कहीं अधिक होता है अतः यहाँ इतिवृत्त और साहित्य या काव्य के सम्बन्ध को भी भली भाति समझ लेना चाहिए। इतिवृत्त मात्र पर आश्रित कविवाणी निर्जीव तथा चमत्कारहीन होती है, ऐसा वक्रोक्ति जीवितकार का मत है। ध्वन्यालोक में तो स्पष्ट ही कह दिया गया है कि कवि का इतिवृत्त के निर्वाह से कोई प्रयोजन नहीं है, इसकी सिद्धि तो इतिहास से ही होती है—

न कवेरितिवृत्तनिर्वहणेन किंचित्प्रयोजनमितिहासादेव तत्सिद्धेः।

इतिवृत्तौचित्य—प्रबंधौचित्य में कथानक के उचितानुचित का विवेक। विशेष दे० प्रबंधौचित्य।

इतिहास—किसी स्थान या समय की वास्तविक घटनाओं का लेखा-जोखा। इति+ह+आस का अर्थ है 'ऐसा हुआ था।' इतिहासकार के लिए खोज, ज्ञान, निष्पक्षता और सत्यता आवश्यक गुण हैं। उपन्यास-नाटक आदि रचनात्मक साहित्य में भी इतिहास का उपयोग किया गया है। वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं और जयशंकर प्रसाद-तथा हरिकृष्ण प्रेमी लब्ध प्रतिष्ठ ऐतिहासिक नाटककार।

ई

ईर्ष्यामान—पति की दूसरी स्त्री मे आसक्ति देख या समझने पर नायिका का रूठना (देखिए मान)। यह मान तीन प्रकार से होता है।

(१) नायक के स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध में बड़बड़ाने से;

(२)नायक के शरीर में उसके संभोग चिन्हों को देखने से (दे० खंडिता) और

(३) गोत्र-स्खलन या अचानक नायक द्वारा अन्य नायिका का नाम निकल जाने से।

ईहामृग—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरंकः प्रकीर्तितः, मुखप्रतिमुखे संधी तत्र निर्वहणं तथा। नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ, ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढ़भावादयुक्तकृत्। दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः श्रृंगाराभासमप्यस्य किंचित्किंचित्प्रदर्शयेत्। पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः युद्धमानीय संरंभं परं व्याजान्निवर्तते। महात्मानो वधप्राप्ता अपिरवध्या स्युरत्र नो एकांको देव एवात्र नेतेत्याहुः परे पुनः दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं नायकाः षडितीतरे। —साहित्यदर्पण।

रूपक के दस भेदों में एक भेद। यह इतिहास और कल्पना की मिली-जुली कहानी और चार अंक वाला होता है। मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियाँ (देखिए यथास्थान) होती हैं। नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य या देवता होते हैं। प्रतिनायक छिपकर पाप करता है। वह दिव्य-स्त्री में साभिलाष होता है। इसमें अपहरण आदि श्रृंगाराभास भी दिखाया जाता है। पताका में दिव्य या मानव दस उद्धत नायक होते हैं। क्रोधपूर्वक युद्ध की तयारी होती है, पर वह टल जाता है। कहानी में वध होने पर भी यहाँ दिखाना न चाहिए। कुछ लोगों के मत से इसमें एक ही अंक होता है। कुछ कहते हैं कि इसमें छः नायक होते हैं और दिव्य स्त्री के कारण युद्ध होता है। इसमें नायक मृगतृष्णा के समान अलभ्य नायिका की ईहा (आकांक्षा) करता है, इससे इसे ईहामृग कहते है। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण कुसुमशेखर विजय आदि बताते हैं।

उ

उक्तप्रत्युक्त—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले दस लास्यांगों में से एक। विशेष दे० लास्यांग।

उक्ता—एक वर्ण वाले वर्णिक छंद का जाति नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

उग्रता—शौर्यापराधादिभवं भवेच्चंडत्वमुग्रता

तत्र स्वेदशिरःकंपतर्जनाताडनादयः। —साहित्यदर्पण

शूरता और अपराध आदि से उत्पन्न चंडता। इसमें पसीने का आना, सिर का काँपना और तर्जन-ताडन आदि कार्य होते हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

'मातु पितहि जनि सोचवस करसि महीस किसोर।'

उच्छ्वास—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

उत्कण्ठा—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

उत्कलिकाप्राय—प्राचीन आचार्यों द्वारा किया गया गद्य का एक भेद। विशेष दे० गद्य।

उत्कीर्तन—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

उत्कृति—२६ वर्णोंवाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

उत्तम काव्य—मम्मट के मत से ध्वनि-काव्य ही उत्तम काव्य है। विशेष दे० काव्यभेद, ध्वनिकाव्य।

उत्तमोत्तमक—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले दस लास्यांगों में से एक। विशेष दे० लास्यांग।

उत्तर—उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि

यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्। —साहित्यदर्पण।

एक अर्थालंकार, जो उत्तर से प्रश्न की ऊहा हो जाने या प्रश्न होने पर अनेक बार असंभाव्य उत्तर दिये जाने पर होता है, जैसे—

(१) "बटोही, सास को दीखता नहीं, पति दूर गये हैं और मैं अकेली हूँ, यहाँ तुम कैसे ठहर सकते हो ?" इससे पथिक से रुक जाने की याचना ही प्रतीत होती है।

(२) विषम वस्तु क्या ? दैवगति, कहा प्राप्य जग ? सन्त।

विशेष दे० चित्रोत्तर, गूढ़ोत्तर।

उत्पत्तिवाद—रस की व्याख्या के ४ सम्प्रदायों में से एक। विशेष दे० रससम्प्रदाय।

उत्प्रासन—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

उत्प्रेक्षा—**भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मनः।** —साहित्यदर्पण।

एक अर्थालंकार, जिसमें प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत वस्तु की सम्भावना की जाती है। संशय वाली विरुद्ध कोटि का उत्कृष्ट ज्ञान सम्भावना है। इस कल्पितज्ञान में दोनों पक्षों में समता न हो विरुद्ध पक्ष कुछ प्रबल होता है। भ्रम (दे० यथा)मे तो विरुद्ध ज्ञान अत्यन्त प्रबल रहता है और संशय या सन्देह (दे० यथा) में दोनों पलड़े बराबर रहते हैं। आरोप (दे० यथा) में सत्य वस्तु का बोध रहते भी उसे तत्सदृश अन्य वस्तु माना जाता है। सम्भावना में एक कोटि प्रबल तो होती है, पर भ्रम की भाति निश्चयांत नहीं होती। यह सब इसे रूपक, भ्रम और सन्देह से अलग कर देता है। चमत्कारपूर्ण सम्भावना की उत्प्रेक्षा अलंकार की जननी है।

'मानो' आदि वाचकों के प्रयुक्त होने पर वाच्योत्प्रेक्षा होती है और अन्यथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। कहीं जाति, कहीं क्रिया, कहीं गुण और कहीं द्रव्य के उत्प्रेक्ष्य होने से इनके चार-चार भेद हो जाते हैं और प्रत्येक में कहीं भाव उत्प्रेक्ष्य होता है और कहीं अभाव तथा उत्प्रेक्षा का निमित्त कहीं गुण होता है और कहीं क्रिया, अतः सब मिलकर ३२ भेद हो जाते हैं। वाच्योत्प्रेक्षा के १६ भेदों में फिर द्रव्य की तो केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा या वस्तूत्प्रेक्षा ही हो सकती है, अतः उसके तो चार ही भेद रहते हैं, शेष जाति, गुण और क्रिया उत्प्रेक्षाओं के १२ भेद प्रत्येक स्वरूपोत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा में परिणत हो ३६ हो जाते हैं। फिर १६ प्रकार की स्वरूपोत्प्रेक्षाओं में भी प्रत्येक के निमित्त उक्त रहने या अनुक्त रहने से दूने (३२) भेद हो जाते हैं। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के पिछले ४० और ये नये १६ भेद कहीं फल और कहीं हेतु उत्प्रेक्षित रहने से ३२ हो जाते हैं। ये कुल ५६+३२=८८ भेद भी प्रस्तुत के उक्त या अनुक्त रहने से दूने होकर कुल संख्या १७६ कर देते हैं।

दिङ्मात्र उदाहरणों का समन्वय पर्याप्त होगा। "चंचल वस्त्र वाली जंघा मानों काम की पताकायुक्त विजय स्तंभ ही है।" यहाँ स्तम्भ के जातिवाचक होने से और मानों वाचक होने से जाति वाच्योत्प्रेक्षा है। ज्ञान होने पर भी मौन, शक्ति होने पर

भी क्षमा, दान करने पर भी प्रशंसा में अरुचि—दिलीप के ये गुण गुणानुबन्धी होने से मानो सपुत्र थे—यहाँ सपुत्र में गुण की वाच्योत्प्रेक्षा है। "शत्रु सुन्दरियों के गर्भपात करने के पाप के कारण आपके नगाड़े का स्वर मानो गंगा-स्नान कर रहा है"—यहाँ स्नान कर रहा है यह क्रिया की वाच्योत्प्रेक्षा है। "मृगाक्षी का मुख ऐसा है मानो दूसरा पूर्णचन्द्र हो"—यहाँ चन्द्र के द्रव्य (जाति नहीं) वाचक होने से द्रव्य की वाच्योत्प्रेक्षा है। ये सभी प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की सम्भावना होने से वस्तूत्प्रेक्षा या स्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरण थे। अफल में फल की सम्भावना होने से फलोत्प्रेक्षा होती है, जैसे—

"मानो तुम्हारे मुख की समता के लिए चन्द्रमा नित्य क्षीर सागर में नहाता है।" चन्द्रमा का डूबना इसलिए नहीं होता, अतः अफल में फल की सम्भावना होने से यहाँ फलोत्प्रेक्षा है।

अहेतु में हेतु की सम्भावना होने पर हेतूत्प्रेक्षा होती है। जैसे—

'विनत शुक नासा का धर ध्यान।
बन गए पुष्प पलाश अराल॥' —पन्त

यहाँ ढाक के फूलों के वक्र होने में हेतु न होने पर भी नासा को हेतु माना गया है। हेतु कारण या निमित्त को कहते हैं और फल कार्य के उद्देश्य को, यही दोनों का भेद है। मुख खिल रहा है, मानों उसने कमल को हरा दिया है, यहाँ मुख के खिलने की क्रिया पहले है और उसके हेतु की सम्भावना की गई है। "मुख की समता पाने के लिए मानो कमल जल में तप कर रहा है"—यहाँ समता-प्राप्ति फल (उद्देश्य) की सम्भावना है।

प्रतीयमाना को कुछ आचार्य लुप्तोत्प्रेक्षा भी कहते है।

"पल्लव-पाणि हिलाकर देतीं,
वृक्षावलियाँ आश्वासन॥"

यहाँ फल की प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है।

"चुनाती नित लवंग निज अंग,
तन्वि तुम सी बनने सुकुमार।"

यहाँ हेतु की प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है।

उत्प्रेक्षा के मूल में यदि कोई दूसरा अलंकार हो, विशेषतः अपन्हुति और श्लेष, तो वह और भी चमत्कारपूर्ण हो जाती है।

नाहिन ये पावक प्रबल लुएँ चलत चहुँ पास,
मानहुँ बिरह बसंत के ग्रीषम लेत उसास।—बिहारी

यहाँ सापन्हव उत्प्रेक्षा है।

उत्साह—कार्यारंभेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते—साहित्यदर्पण।

किसी काम को करने में स्थायी और उत्कट आवेश। यह वीर रस का स्थायी भाव है।

उत्सुकता—इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता
चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनिःश्वसितादिकृत् —साहित्यदर्पण।

अभीष्ट की प्राप्ति में विलम्ब का सहन न करना। इसमें चित्त में संताप, जल्दी, पसीना और उच्छ्वास का होना आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है देखिए—

'वेगि चलिय प्रभु आनिय, भुज बल खल दल जीति।'

उत्सृष्टिकांक—रूपक के दस भेदोंमें से एक भेद अंक का अन्य नाम। विशेष देखिए अंक।

उत्तेजन—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालङ्कारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालङ्कार।

उदात्त—लोकातिशयसंपत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते।
यद्वापि प्रस्तुतस्यांगं महतां चरितं भवेत्।—साहित्यदर्पण।

एक अर्थालंकार, जो लोकातिशय सम्पत्ति आदि के वर्णन में होता है। महापुरुषों का चरित प्रस्तुत के बर्णन का अंग होने पर भी उदात्त अलङ्कार होता है। क्रमशः उदाहरण—

(१) **'धनिक बनिक वर धनद समाना।**
बैठे सकल वस्तु ले नाना॥'
× × × ×
'मंगलमय मंदिर सब केरे।
चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे॥'
× × × ×
'सूर सचिव सेनप बहुतेरे।
नृपगृह सरिस सदन सब केरे॥'

यहाँ लोकातिशय सम्पत्ति का वर्णन है।

(२) 'नाभि से निकले हुए कमल पर बैठे ब्रह्मा जिनकी स्तुति करते हैं, ऐसे विष्णु प्रलय में लोकों का संहार कर इसी समुद्र में सोते हैं।'

यहाँ विष्णु का चरित्र समुद्र वर्णन का अंग है।

उदारता—भरत द्वारा निर्दिष्ट दस काव्य गुणों में से एक उदारता भी है। उदारता के द्वारा काव्य में प्रतिपाद्य अर्थ में कुछ उत्कर्ष की प्रतीति होती है। कुछ आचार्य तो क्रीडासर, रत्नकांची, कनककुंडल आदि श्लाघनीय विशेषणों से युक्त पदों में भी इस गुण की सत्ता स्वीकृत करते हैं, यद्यपि दण्डी ने इसे केवल अर्थगत गुण स्वीकृत किया है।

उदाहरण—(१) गर्भ नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

उदाहरण—(२) नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक लक्षण।

उदाहरण—(३) एक अर्थालंकार, जिसमें सामान्य रूप में पहले कुछ बात कहकर स्पष्ट करने के लिए सामान्य के एक अंश का निरूपण कर उसका 'अवयवा-यवीभाव' प्रकट किया जाता है। सारांशतः इसमें किसी बात का चमत्कृत उदाहरण दिया जाता है। जैसे—

'यों रहीम जस होत है, उपकारी के संग।
बाँटन वारे कौं लगै, ज्यों मेहदी को रंग॥'

यहाँ उपकारी के संग से यश होने की सामान्य बात के एक विशेष अंग मेंहदी पीसने वाले के मेंहदी के रंग के लग जाने की बात उदाहरणस्वरूप कही गई है। वाक्यार्थोपमा में उपमेय और उपमान दोनों विशेष होते हैं, पर इसमें उपमेय सामान्य और उपमान उसी का अंश विशेष होता है।

उद्गता—प्रथम चरण में सगण, जगण, सगण और लघु, द्वितीय चरण में नगण, सगण, जगण, और गुरु, तृतीय चरण में भगण, नगण, जगण, लघु और गुरु तथा चतुर्थ चरण में सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु से बनने वाला विषम वृत्त छन्द।

उद्गीत—'भानु (१२) विषम गण ज न हो, योग (८) मुनि (७) लघु दिय पदरीती, तूर्य चरण वसु (८) दोषा (१०), या विधि पण्डित रचौ जू उद्गीती, विषम (१, ३) पादों में १२-१२ मात्राओं दूसरे पाद में १५ और चौथे में १८ मात्राओं से बनने वाला विषम मात्रा छन्द।

इसमें विषम गणों में जगण नहीं होता।

उद्घात्यक—अप्रतीत अर्थ वाले पदों के अर्थ की प्रतीति कराने के लिये जहाँ और पद जोड़ दिये जाते हैं, जैसे मुद्राराक्षस में—

'चन्द्र बिंब पूरन भये क्रूरकेतु हठ दाप।
बल सों करिहै ग्रास कह—॥'

इस सूत्रधार की उक्ति के साथ ही चाणक्य नेपथ्य में यह कहता हुआ प्रविष्ट होता है—"हैं! मेरे जीते चन्द्र को कौन बल से ग्रस सकता है?"

यह नाटक की प्रस्तावना का एक भेद है। सूत्रधार का अभिप्राय चन्द्रग्रहण से है, पर चाणक्य उसे चन्द्रगुप्त से जोड़कर प्रवेश करता है।

यह 'वीथी' नामक रूपक के दस भेदों में से एक भेद के तेरह अंगों में से एक अंग भी है।

उद्दिष्ट—छंद के निर्दिष्ट रूप की प्रस्तार (दे० यथा०) के क्रम में स्थिति बताने वाला प्रत्यय (दे० यथा०)। (१) वर्णिक-उद्दिष्ट की रीति बड़ी सीधी है। मान लो ६वर्णों के प्रस्तार में यह जानना है कि।।ऽ।ऽ। कौन सा रूप है। इस रूप के ऊपर क्रमशः वर्णजाति की छन्द संख्या की आधी संख्या निम्न विवरण के अनुसार रखते जाइए:—

१	२	४	८	१६	३२
।	।	ऽ	।	ऽ	।

अब लघु चिह्नों के ऊपर की संख्या जोड़ लो और उसमें १ और जोड़ दो (१+२+८+३२=४३+१=४४)। बस, यह योगफल ही स्थिति की संख्या बताता है अर्थात् ६ वर्णों के प्रस्तार का यह ४४वाँ रूप है।

(२) मात्रिक-उद्दिष्ट में भी मात्रा जाति की छन्द संख्या केपर्णांक लिखे जाते हैं, भेद इतना ही है कि क्रमशः गुरुचिह्न के दोनों ओर और लघु चिह्न के ऊपर ही लिखते हैं। इसमें गुरु चिह्नों के ऊपर वाली (नीचे वाली नहीं) संख्याएँ जोड़ी जाती हैं। और योगफल को उस जाति की पूर्ण छन्द संख्या में से घटा दिया जाता है। यही शेष संख्या उद्दिष्ट का निर्देश करती है। निम्न विवरण से यह नियम स्पष्ट हो जायेगा। मान लो सात मात्रा के प्रस्तार में यह जानना है कि ऽ।ऽ। कौन सा रूप है, तो संख्याएँ इस प्रकार लिखी जाएँगी—

१	३	५	१३	२१
ऽ	।	ऽ	।	।
२		८		

अब गुरु चिह्नों के ऊपर के १+५ जोड़े तो योगफल ६ आया, इसे सात मात्राओं की कुल छन्द संख्या २१ से घटा दिया, शेष १५ रहा। बस, यह रूप सात मात्राओं की जाति का १५ वां रूप है। (और दे० मात्रा जाति)

उद्दीपन—उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।
आलंबनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा। —साहित्यदर्पण।

रस को उद्दीप्त करने वाली बातें उद्दीपन विभाव कही जाती हैं। जैसे आलंबन भूत, नायक आदि की चेष्टाएं, रूप, भूषण आदि और उपयुक्त देश-काल, चन्द्रमा, चन्दन, कोकिल, भ्रमर आदि की तान।

उद्धरण—किसी लेखक द्वारा किसी दूसरे लेखक के शब्दों-वाक्यों का यथावत् अपने ग्रन्थ में रखना। ये प्रायः उदाहरण या तर्क की पुष्टि के लिए दिये जाते हैं।

उद्धर्षिणी—बसंत तिलका छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० बसन्त तिलका।

उद्भेद—मुख नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

उद्यम—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालङ्कार।

उद्वेग—(१) कामातुरों की दस चेष्टाओं में से एक। विशेष दे० कामदशा।

उद्वेग—(२) गर्भ नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

उद्वेग—(३) शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

उन्माद—(१) कामातुरों की दस चेष्टाओं में से एक। विशेष दे० कामदशा।

उन्माद—(२) **चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः**

अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत। —साहित्यदर्पण।

काम, शोक, भय आदि से उत्पन्न चित्त का व्यामोह। इस में अकारण हँसना, रोना, गाना और प्रलाप आदि क्रियाए होती हैं। यह एक संचारीभाव है देखिए—

'पूछत चले लता अरु पांती।'

उन्मीलित—एक अर्थालंकार जिसमें मीलित (दे० यथा०) का फिर पृथक होना कहा जाता है, जैसे—

'डीठि न परत समान दुति, कनकु कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत, परसि पिछाने जात॥' —बिहारी

यहाँ स्पर्श द्वारा मीलित भूषणों का फिर उन्मीलन है।

उपक्षेप—मुख नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

उपगीति—"आर्या के यदि दूजे, दल की गति लिखे द्वि-दलों में; मुनिवर पिंगल कहते, उपगीति उसे कविता में" आर्या (दे० यथा०) के उत्तरार्द्ध का लक्षण (१२, १५ मात्राएँ) पूर्वार्द्ध में भी घटने पर बनने वाला विषम मात्रा छन्द।

उपगूहन—निर्वहण नामक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

उपग्रहवक्रता—केवल मात्र परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी धातुओं के अतिरिक्त जो धातुएँ उभयपदी होती हैं, उनमें स्थान की रमणीयता की दृष्टि से तथा अर्थौचित्य

के लिए विशिष्ट पद के प्रयोग द्वारा इस वक्रता की सिद्धि की जाती है। जैसे हरिणों की डरी हुई आँखों को देख बाण चलाने के लिए दृढ़ बाँधी गई दशरथ की मुट्ठी प्रियतमा के नेत्रों की याद के कारण स्वयमेव खुल गई (विभिदे) यहाँ विभिदे का आत्मनेपदी प्रयोग चमत्कार की सृष्टि कर रहा है। कर्मकर्तृ वाच्य (कर्म के कर्तृत्व) की सूचना के कारण यह सौन्दर्य उत्पन्न हुआ है, जो आत्मनेपद की विशेषता है।

उपचारवक्रता—मुख चन्द्र है, इसमें दोनों विभिन्न पदार्थोंके अति सादृश्य के कारण होने वाली अभेद प्रतीति को उपचार कहते हैं। उपचार-वक्रता के लिए दोनों पदार्थों में दूरांतर आवश्यक है। उपचारवक्रता काव्य में विशेष सरसता की जननी होती है। सादृश्य का, जिसके ऊपर उपमा-रूपक आदि अनेक सादृश्यमूलक अलंकार निर्भर हैं, इस वक्रता में विशेष स्थान होने के कारण इसकी महत्ता अधिक बढ़ जाती है। सूचीभेद्य तम में सुई द्वारा अमूर्त्त पदार्थ में छन्द का मूर्त्त-आरोप इस उपचारवक्रता का एक प्रसिद्ध उदाहरण है।

उपजाति—(१) इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा (दे० यथा०) के पादों के यथेच्छ संयोगसे अर्थात् किसी पाद के इन्द्रवज्रा के और किसी पाद के उपेन्द्रवज्रा के होने पर बनने वाला १४ प्रकार का विषम वृत्त छन्द।

(२) कुछ आचार्यों के मत से केवल इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के ही संयोगसे नहीं बल्कि किन्हीं एक ही जाति के दो छन्दों के चरणों के यथेच्छ संमिश्रण से बनने वाला छन्द। इस प्रकार इंद्रवंशा और वंशस्थ (दे० यथा०) के भी उपजाति खोजे गये हैं।

उपदिष्ट—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

उपदेशन—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

उपदेशात्मकता—साहित्यिक ग्रन्थों में नैतिकता या सदाचार सम्बन्धी उपदेश देने में प्रवण होना। याद रखना होना कि कविता या साहित्य के प्रयोजनों में ही उपदेश और मनोरंजन दोनों को ही स्थान दिया गया था। पर अनुचित स्थान पर सीधे-सीधे उपदेश-प्रवण हो जाना गुण नहीं दोष ही है। यह उपदेशात्मकता हो भी तो प्रच्छन्न ही होनी चाहिए।

उपनागरिका—टवर्ग को छोड़कर अन्य वर्गों के पंचमाक्षर के साथ संयुक्त होने वाले उसी वर्ग के अक्षरों (ङ्क, ञ्छ, न्द, म्फ आदि) का जहाँ संयोग हो, वहाँ उपनागरिका वृत्ति होती है। नगर के चतुरों की सुकुमार वाक्यावली के प्रयोग के कारण सम्भवतः इस वृत्ति का नाम उपनागरिका रखा गया है। प्रथम आलंकारिक भामह

ने ही इस भेद का स्पष्ट उल्लेख किया है।

उपन्यास (१)—निर्वहण नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष देखिए निर्वहण।

उपन्यास (२)—भाणिका नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० भाणिका।

उपन्यास (३)—गद्य में लिखी गई कुछ लम्बी कहानी (ई० एम० फोर्स्टर)। फीलिंडग ने टौम जोन्स में अपने को इस नये प्रदेश का विधाता मानते हुए कहा था कि इस प्रदेश में मैं अपने मनचाहे नियम चलाऊँगा, और वस्तुतः डा० सूर्यकांत के शब्दों में कलाकार को यहाँ अपनी कल्पना-शक्ति और कला-प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर मिलता है। फिर भी इसके छः तत्त्व हैं। साहित्यालोचनकार के मत से वे हैं: वस्तु, पात्र (दे० चरित्र-चित्रण), कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य। पिछली पीढ़ी के उपन्यासों की कथावस्तु को यत्नपूर्वक पेचीदा बनाया जाता था। 'पतिता की साधना' जैसे न जाने कितने उपन्यासों में दो या अधिक कहानियाँ एक साथ चलती हुई दिखाई जातीं थीं, जिनका परस्पर सम्बन्ध या तो अन्त में जाकर स्पष्ट होता था या थोड़ा-सा पारस्परिक सूत्र स्पष्ट बना रहता था। कुछ उपन्यासकार नायक के पूरे जीवन का चित्र खींचते थे, तो कुछ अनोखी घटनाओं की ही शृंखला जोड़ते थे। पर नए उपन्यास ने कथावस्तु को पेचीदा बनाने वाले उन सारे उपायों से नमस्कार कर लिया है। जेम्स जायस और वरजिनिया वुल्फ जैसे उपन्यासकारों के सम्बन्ध में तो हम यहाँ तक कह सकते हैं कि कथावस्तु की कोई सत्ता ही नहीं रह गई है। पात्रों को सजीव बनाने में ही कलाकार की सफलता निहित रहती है और यह स्वाभाविकता बहुत कुछ कथोपकथन द्वारा आती है। कहानी की पृष्ठभूमि के लिए देश-काल का भी निश्चित महत्त्व है और ऐतिहासिक उपन्यासों में तो यह और भी बढ़ जाता है। नहीं तो लज्जाराम मेहता के उपन्यासों की भाँति अकबर के सामने हुक्का रखने जैसी हास्यास्पद बातें सामने आने लगती हैं। हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा के ही उपन्यास अभी इस कसौटी पर खरे उतरे हैं। शैली लेखक का अपना व्यक्तित्व है और उपन्यास का बहुत कुछ चमत्कार और आकर्षण लेखक की शैली पर भी निर्भर होता है। निश्चय ही उपन्यास का प्रधान गुण यही है कि पाठक एक बार उसे उठाकर फिर उसे समाप्त किए बिना बंद न करना चाहे। उपन्यास का उद्देश्य लेखक का वह निजी दृष्टिकोण है, जिसे वह प्रस्तुत करने जा रहा है। अपने विचार व्यक्त करने के लिए उसे उपन्यास में पूरा-पूरा अवकाश रहता है, और यही विचार उसके उपन्यास को सोद्देश्य बनाते हैं। यह ठीक है कि सभी उपन्यास सोद्देश्य नहीं होते, फिर भी स्काट जेम्स उसे अपने 'मेकिंग आफ लिटरेचर' में द्रवित करने वाला और मनोरंजन करने वाला दोनों ही

मानते हैं। वरजिनिया वुल्फ के 'कोई भी आलोचक उपन्यास को कलाकृति न बताएगा' का प्रत्याख्यान करते हुए वे वाल्टर राले के शब्दों में उसे सुविहित कलापूर्ण कृति बताते हैं, और परसी लबक के 'क्राफ्ट आफ फिक्शन' के उदाहरणों से भी उसे कलाकृति सिद्ध करते हैं।

उपन्यास आज सभी प्रकार् के सिद्धान्तों को सामने रखने का साधन बन गया है। आज कविता और नाटक दोनों मिलाकर भी इतने नहीं पढ़े जाते, जितने उपन्यास। वह नाटक की अपेक्षा कहीं सरल है। कम रागात्मक होने से वह पाठक पर कम भार डालता है। वह मनोरंजन भी करता है और शिक्षा भी देता है, पर यह मनोरंजन ही उसे अस्थायी बना देता है और बहुत थोड़े उपन्यास ही किसी पाठक द्वारा दुबारा पढ़े जाते हैं। उपन्यास को अमर बनाने के लिये फील्डिंग के शब्दों में उपन्यासकार के लिए प्रतिभा, अध्ययन, मानव-प्रकृति और उसके कथोपकथन आदि का ज्ञान और दृश्य में तादात्म्य स्थापित कर पाठकों को द्रवित करने की क्षमता—ये चार गुण अपेक्षित हैं।

उपन्यासों के विभाजन भी अनेक प्रकार से किए गए हैं। जासूसी, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, अंतरंग जीवन वाले आदि भेद विषय की दृष्टि से किए गए हैं और चरित्रप्रधान, भावप्रधान, घटनाप्रधान, शैलीप्रधान, अभिनयात्मक, व्याख्यात्मक आदि भेद वर्णन की दृष्टि से।

उपपत्ति—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालङ्कारों में से एक। विशेष देखिए नाट्यालङ्कार।

उपपुराण—१८ प्रसिद्ध पुराणों के साथ गिने जाने वाले उपग्रन्थ। विशेष देखिए पुराण।

उपमा—साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।
सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यमियं पुनः।
श्रौती यथेव वा शब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः। —साहित्यदर्पण

एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य का निरूपण करने वाला अर्थालङ्कार। इसमें परस्पर भेद होते हुए भी उपमेय की उपमान से समता बताई जाती है। रूपक, दीपक आदि में सादृश्य व्यंग्य रहता है, वाच्य नहीं; व्यतिरेक में वैधर्म्य भी बताया जाता है; उपमेयोपमा आदि में दो वाक्य रहते हैं और अनन्वय में एक ही पदार्थ की समता होती है। इसलिए यह इन सब से भिन्न है। वस्तुतः सभी साम्यमूलक अर्थालङ्कारों की यह प्राणभूत है, और इसके बारे में अप्पय

दीक्षित ने यहाँ तक कहा है कि यह उपमा ही नटी के समान अनेकों भूमिकाओं को धारण कर काव्य मंच पर नाचती हुई सहृदयों के चित्र को प्रसन्न करती है। (चित्र मीमांसा)।

इसके चार अंग होते हैं—उपमेय, उपमान, साधारणधर्म और वाचक शब्द। जिसकी समता की जाती है उसे 'उपमेय' कहते हैं, जैसे मुख आदि। जिस से समता की जाती है, उसे उपमान कहते हैं, जैसे चंद्र, कमल आदि। जिस सादृश्य-साधर्म्य रूपी गुण की दोनों में समानता बताई जाती है, उसे साधारण धर्म कहते हैं, जैसे सुन्दरता, कोमलता आदि। समान, सा, सी, से, ज्यों, जैसा, जैसे, जिमि, यथा, लौं, तुल्य, तूल और सम आदि समानता बताने वाले शब्द 'वाचक शब्द' कहे जाते हैं। उपमा के दो भेद हैं—पूर्णोपमा और लुप्तोपमा।

१. इन चारों के विद्यमान रहने पर पूर्णोपमा होती है। संस्कृत में इसके यथा, इव, वा, या इवार्थक वत् शब्दों के होने पर श्रौती तथा तुल्य, समान या तुल्यार्थक वत् होने पर आर्थी ये दो भेद होते हैं। श्रौती और आर्थी में ये दो भेद भी तद्धित में, समास में और वाक्य में होने से पूर्णोपमा के कुल छः भेद हो जाते हैं। दिङ्मात्र उदाहरण—

करि कर सरिस सुभग भुजदंडा।

यहाँ भुजदंड उपमेय, करि-कर (हाथी की सूँड़) उपमान, सुभग साधारण-धर्म और सरिस वाचक शब्द—इन चारों के विद्यमान होने से पूर्णोपमा है।

२. पूर्वोक्त चारों अंगों में से एक, दो या तीन के न रहने पर लुप्तोपमा होती है। इसके पूर्ववत् श्रौती-आर्थी आदि भेद होते हैं। धर्म लुप्तोपमा १ प्रकार की, उपमान लुप्तोपमा २ प्रकार की, वाचकलुप्ता २ प्रकार की, धर्मोपमान लुप्ता २ प्रकार की, और उपमेयलुप्ता धर्मोपमयलुप्ता और त्रिलुप्ता १-१ प्रकार की—[illegible] के २१ भेद होते हैं। दिङ्मात्र उदाहरण—

वाचकलप्ता—**शलभ चंचल मेरे मन प्राण।**

धर्मलुप्ता—**तीर सी लगती थी वह तान।**

उपमान—उपमा का एक अंग। विशेष दे० उप[illegible]।

उपमेय—उपमा का एक अंग। विशेष दे० उपमा।

उपमेयोपमा—पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता। —साहित्यदर्पण

एक साम्यमूलक अर्थालङ्कार, जिसमें उपमा परस्पर लगती है अर्थात् क्रमशः उपमान और उपमेय को आपस में ही एक दूसरे का उपमेय और उपमान बना दिया जाता है। उदाहरण—

तेरो तेज सरजा समत्थ दिनकर सो है,
दिनकर सोहै तेरे तेज के निकर सो। (भूषण)

उपरूपक—दस मुख्य रूपकों (दृश्य-काव्य-भेद) के अतिरिक्त अन्य अठारह गौण रूपकों का वर्गीकरण, जो यों हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका। कुछ विशेषताओं को छोड़ ये नाटक की ही भाँति होते हैं। (भेद यथा-स्थान देखिए) और भी देखिए दृश्यकाव्य, नाटक।

उपसंहार—निर्वहण नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष देखिये निर्वहण।

उपस्थित प्रचुतिप—प्रथम चरण में मगण, सगण, जगण, भगण और दो गुरु, द्वितीय चरण में सगण, नगण, जगण, तगण और गुरु, तृतीय चरण में दो नगणों और एक सगण, तथा चतुर्थ चरण में तीन नगणों, जगण और यगण से बनने वाला विषम वृत्त छंद।

उपाख्यान—एक विशेष प्रकार की कहानी या कथाप्रबन्ध। सूफियों के प्रेमोपाख्यान हिन्दी-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं। प्राचीन पौराणिक कहानियों को भी उपाख्यान के नाम से पुकारा जाता है, जैसे—महाभारत में शकुन्तलोपाख्यान आदि।

उपादान-लक्षणा—लक्षणा नामक शब्द-शक्ति का एक भेद। विशेष देखिए लक्षणा।

उपेक्षा—नायक द्वारा नायिका का मान तोड़ने के लिए अपनाये जाने वाले उपायों में से एक। विशेष देखिए मानभंग।

उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रा ज त जा ग गा से; जगण, तगण, जगण और दो गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छंद।

उल्लाल—विषमनि पंद्रह सम तेरह, कल जानौ उल्लाल कर। विषम (१,३) पादों में १५ और सम (२,४) पादों में १३ मात्राओं से (किसी-किसी के मत से १३, १३ मात्राओं से ही) बनने वाला अर्द्धसम मात्रा छंद।

उल्लाला—उल्लाला तेरह कला, एकादश कल लघु भला। तेरह मात्राओं और ग्यारहवीं मात्रा के लघु होने से बनने वाला भागवत जाति का सम-मात्रा छंद। इसे चन्द्रमणि भी कहते हैं।

उल्लाप्य—उदात्तनायकं दिव्यं वृत्तमेकांकभूषितम्।
शिल्पकांगैर्युतं हास्यशृंगारकरुणैः रसैः॥

उत्थाप्यं बहुसंग्राममस्त्रगीतमनोहरम् ।
चतस्रो नायिकास्तत्र त्र्योऽङ्का इति केचन ॥ —साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। इसमें नायक धीरोदात्त, कथा-दिव्य, अंक एक, और रस हास्य, शृङ्गार और करुण होते हैं। इसमें शिल्पक उपरूपक (दे० यथा) के २७ अंग होते हैं और चार नायिकाएँ तथा प्रचुर संग्राम होता है। इसमें अस्त्रगीत (प्रस्तुत अर्थ को बढ़ाने वाला जवनिका के भीतर का गीत) होता है। किसी-किसी के मत से इसमें तीन अंक होते हैं। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण देवीमहादेव बताते हैं।

उल्लास—एक अर्थालंकार, जिसमें एक के सुगुण या दुर्गुण दूसरे को लगते हैं। इसमें कभी दोष से गुण, कभी गुण से दोष, कभी दोष से दोष और कभी गुण से से गुण की उत्पत्ति होती है। दिङ्मात्र उदाहरण—

देह दुलहिया के बढ़ै, ज्यों-ज्यों जोबन जोति।
त्यों त्यों लखि सौतैं सबै बदन मलिन दुति होति॥ —(बिहारी)

यहाँ गुण से दोष लगा।

उल्लेख—(१) नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

उल्लेख—(२) क्वचिद्भेदाद्गृहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्चते॥—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें ज्ञाताओं के भेद या विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होता है। इसलिए इसके दो भेद हो जाते हैं—

(१) एक ही वस्तु को अनेक व्यक्ति अनेक प्रकार से देखें, जैसे –

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।
देखहिं भूप महारनधीरा मनहुं, वीर रस धरे सरीरा॥
दुरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी, मनहुं भयानक मूरति भारी। आदि।

(२) एक ही वस्तु एक ही व्यक्ति द्वारा विषय-भेद के कारण अनेक प्रकार से देखी जाए, जैसे—

पशुओं के विश्राम सदन हो, वन विहगों के क्रीडास्थल।
शोभागार सरस सुमनों के, हो चंचल पर अटल अचल॥ आदि।

उष्णिक्—७ वर्णों वाले वर्णिक छंदों की जाति का नाम। विशेष देखिए वृत्त जाति।

ऊ

ऊर्जस्वी—एक अर्थालंकार, जो रसाभास या भावाभास के किसी दूसरे का अंग बन जाने पर होता है।

(१) **भर्‌यो कोप सौं हिय लखत पीक लीक पल माँहिं।**
लालहिं लागत हूँ गरे लगत कामसर नाहिं।। (बैरीशाल)

यहाँ नायक में रति रहने और नायिका में न रहने से शृंगाराभास है, जो मुख्य अमर्ष भाव का अंग है।

(२) **ताकी समता देन कों करौं कहाँ लगि दौर।**
होत सौति दृग जासु लखि वदन मयंक चकोर।। (बैरीशाल)

नायिका का प्रेम सौतों में भावाभास है, जो शृंगार का अंग है।

ए

एकदेश विवर्ति —रूपक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष देखिए रूपक।

एकदेशविवर्तिनी-उपमा—**एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यत्वे।**
भवेतां यत्र साम्यस्य। —साहित्यदर्पण

एक साम्यमूलक अर्थालंकार जिसमें वाक्य में किसी (एकदेश) का साधारण धर्म वाच्य होने और किसी का प्रतीयमान होने पर सादृश्य निरूपित किया जाता है। जैसे—

नेत्रों के तुल्य नीलकमलों, मुखों के तुल्य रक्तकमलों और स्तनों के समान चक्रवाकों से सरोवर-लक्ष्मी पग-पग पर सुशोभित थी (साहित्यदर्पण)। यहाँ नेत्रादिकों का साधर्म्य वाच्य है और सरोवर-लक्ष्मी का सुन्दरियों के साथ साधर्म्य प्रतीयमान है।

एकांकी—एक अंक में ही समाप्त होने वाला संक्षिप्त नाटक। नाट्यशाला में पीछे से आने वालों की सुविधा के लिए प्रधान नाटक का आरम्भ करने के पहले इस का अभिनय किया जाता था। यद्यपि संस्कृति के भाण और प्रहसन आदि कई रूपक और बहुत से उपरूपक एकांकी हैं, पर यह वस्तुतः यूरोप के प्रभाव में नया विकास है। कहानी और उपन्यास के सम्बन्ध के समान ही इसका सम्बन्ध नाटक से होता है और इसके जन्म की परिस्थितियाँ भी प्रायः वही थी। तत्वों में भी नाटक से इसमें कुछ भेद हो जाता है। इसमें अधिक पात्रों की गुञ्जाइश न रहने से दो-तीन पात्रों के चरित्र के समग्र पहलुओं का नहीं दो-चार पहलुओं का सम्यक् चित्रण किया जाता है, प्रासगिक (आकर चले जाने वाले) पात्रों को यहाँ स्थान नहीं मिलता। लंबे मंच-निर्देश (दे० यथा) द्वारा पहले ही परिपार्श्व (दे० यथा०) और वातावरण की सृष्टि कर दी जाती है। और वस्तु का उतार-चढ़ाव भी अपेक्षतया सीधा और गुत्थियों-रहित होता है। घटना एक ही रहती है और उसी पर सब कुछ केन्द्रित करना पड़ता है। कथोप-कथन में भी लंबे भाषणों का स्थान नहीं रहता। अभिनय की एकता (दे० संकलन-त्रय) इसमें बहुत आवश्यक रहती है। प्रासंगिक कथावस्तु का भी इसमें स्थान नहीं और इसमें संक्षेप विशेष अपेक्षित रहता है।

एकावली—(१) **पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्।**
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा॥ —साहित्यदर्पण

एक शृङ्खलामूलक अर्थालंकार, जिसमें वर्णित पदार्थों का विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्ध (१) पूर्व-पूर्व विशेष्य पर-पर विशेषण और (२) पूर्व-पूर्व विशेषण पर-पर विशेष्य—इन दो क्रमों से बताया जाता है। क्रमशः उदाहरण—

(१) **सो न दया जु न धर्म धरै, वह धर्म नहीं जहँ दान वृथा ही।**
दान न सो जहँ साँच न केशव, साँच न सो जो बसै छल माहीं॥ (केशव)
यहाँ दया आदि के पर-पर वाक्य विशेषण हैं।

(२) **रस सो काव्य रु काव्य सों, सोहत वचन महान्।**
वचन ही सौं रसिक जन, तिन सौं संत सुजान॥ —काव्यकल्पद्रुम
काव्य आदि पर-पर विशेष्य हैं।

एकावली—(२) है भ न ज ज ल इकावलि सुन्दर; भगण, नगण, दो जगण और लघु से बनने वाला अतिजगती जाति का समवृत्त छंद। इसे पंकावली, पंकज-वाटिका और कंजावली भी कहते हैं।

ओ

ओज—ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।। —साहित्यदर्पण

भरत के मत से दस सामान्य काव्य गुणों और दण्डी के मत से वैदर्भ मार्ग के दस गुणों में परिगणित ओज गुण में तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा माधुर्य और प्रसाद के साथ परिगणित ओज नामक तीसरे सामान्य काव्य-गुण में विशेष अन्तर नहीं है। दण्डी के मत से समास बहुल पदावली के प्रयोग से ओज-गुण का आविर्भाव होता है तथा यह गद्य का जीवन है, परन्तु गौड़ मार्ग वाले पद्य में भी इसका वैसा ही प्रयोग करते हैं।

औ

औचित्य—औचित्य के ऊपर आश्रित कला ही कला कही जा सकती है, अनौचित्य पर आश्रित कला कला नहीं। समाज के व्यवहार में तो औचित्य का एकछत्र राज्य है ही, अलंकार-शास्त्र में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्षेमेन्द्र का कथन है कि उचित स्थान पर रखे जाने पर ही अलंकार अलंकार कहे जाते हैं और गुण गुण। (औचित्य विचारचर्चा श्लोक ६)। प्रत्येक स्थल के लिए कोई-कोई वस्तु ही अनुकूल तथा अनुरूप होती है। उचित पदों का उचित स्थल पर प्रयोग न होने से काव्यानंद नष्ट हो जाता है। कमर में हार पहनना तथा गले में करधनी उचित न होने के कारण सौन्दर्य-पोषक नहीं हो सकते।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अभिनय-औचित्य का विवेचन किया, आनंद-वर्धन ने ध्वन्यालोक में काव्य के नाना तत्त्वों में उसकी सत्ता और महत्ता की घोषणा की तथा क्षेमेन्द्र ने उस पर एक उत्कृष्ट वैज्ञानिक पद्धति से विचार किया। तभी से औचित्य अलंकार-शास्त्र का एक आवश्यक अंग हो गया है।

पश्चिमी आलंकारिकों ने भी काव्य में औचित्य की महत्ता स्वीकृत की है। अरस्तू ने अपने रैटोरिक में औचित्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है (खण्ड ३, परिच्छेद ७) लांजिनस ने शब्दौचित्य तथा होरेस ने अभिनयौचित्य तथा घटनौचित्य पर विशेष ध्यान दिया है।

अतः काव्य में सर्वाधिक व्यापक तत्त्व औचित्य ही प्रतीत होता है।

औचित्य सम्प्रदाय—औचित्यविचारचर्चा के अमर प्रणेता क्षेमेन्द्र के मत से सभी ध्वनि, रस आदि औचित्य का अनुगमन करते हैं। अनौचित्य के बिना किसी अन्य कारण से रसभंग नहीं होता। औचित्य रस की परा उपनिषद् है। वैसे तो समग्र आचार्यों ने औचित्य की रक्षा के लिए अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। स्वयं भरतमुनि ने वेषभूषा में औचित्य की अनिवार्य आवश्यकता बताई है। दण्डी के काव्यादर्श के अनुसार जो जिसके सदृश हो, जिससे जिसका मेल मिले, उसे उचित कहते हैं और उचित का ही भाव औचित्य है। क्षेमेन्द्र द्वारा की गई औचित्य की विस्तृत व्याख्या ने अलंकार शास्त्र को एक बहुमूल्य भेंट प्रदान की है।

औदार्य (१)—औदार्यं विनयः सदा।

—साहित्यदर्पण

नायिका का सदा विनय रखने का भाव। यह नायिका का एक अयत्नज अलंकार है। (देखिए नायिकालंकार)

औदार्य (२)—दानं सप्रियभाषणमौदार्यं शत्रुमित्रयोःसमता। —साहित्यदर्पण

मधुर वचन बोलते हुए दान देने और शत्रु और मित्र में समानता की भावना रखना। यह नायक का एक सात्विक-गुण है। (देखिए सात्विकगुण, उदारता)

क

कगारू-छन्द—मुक्तक छन्द का अन्य नामक। जिस प्रकार कंगारू नाम पशु के पेट में एक छोटा-सा कंगारू बच्चा बैठा रहता है, उसी प्रकार एक पंक्ति में दूसरी पंक्ति रहने के कारण अथवा उक्त पशु की छोटी-बड़ी छलाँग के कारण इस छन्द को यह नाम दिया गया है। विशेष देखिए मुक्तक छन्द।

कंजावली—एकावली छन्द का अन्य नाम। विशेष देखिए एकावली।

कंप—राग, द्वेष और श्रम आदि से शरीर का काँप जाना। इसे वेपथु भी कहते हैं। यह एक सात्विक भाव है।

कथा—गद्य में लिखी गई सरस वस्तु वाली कहानी। यह गद्य-काव्य का एक पुराना भेद है। पहले इसमें कहीं-कहीं पर आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छन्द होते थे। पद्यबद्ध नमस्कार और खलादि का चरित्र-निरूपण होता था। बाण की कादम्बरी इसका एक उदाहरण है। इसके अध्याय आश्वास कहे जाते हैं। (और देखिए आख्यायिका)

कथावस्तु—वस्तु का ही पूरा नाम। विशेष देखिए वस्तु।

कथितपदत्व—पुनरुक्त नामक दोष का अन्य नाम। विशेष देखिए पुनरुक्त।

कथोद्‌घात—नाटक की प्रस्तावना का एक भेद, जहाँ सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर कोई पात्र प्रवेश करे। जैसे—रत्नावली में सूत्रधार के 'द्वीपात्' वाले श्लोक के पढ़ने पर यौगन्धरायण उसी श्लोक को दुहराता हुआ प्रवेश करता है। वाक्यार्थ को ग्रहण कर वेणीसंहार में भीमसेन का प्रवेश दिखाया गया है।

कथोपकथन—किसी नाटक, कहानी, उपन्यास आदि के पात्रों का पारस्परिक वार्तालाप। चरित्र-चित्रण (दे० यथा०) में इसका अत्यधिक उपयोग होता है, साथ ही वस्तु (दे० यथा०) के विकास में भी यह सहायता देता है। ये दो बातें ही इसका मूल प्रयोजन हैं, मनोरंजन या उपदेश नहीं। भाषा पात्रानुकूल—उसके शिक्षा-स्तर के अनुकूल होनी चाहिए, पर इसका अर्थ यही है कि वह स्वाभाविक हो, यह नहीं कि चीनी पात्र चीनी भाषा में बोले। दैनिक वार्तालाप में अनेक पुनरुक्तियाँ या असंगतियाँ भरी होती हैं और प्राकृतवादियों (दे० प्राकृतवाद) को छोड़कर दूसरे कलाकार उसका वैसा ही उपयोग न कर उसे चुनकर इस प्रकार सजा लेते हैं, कि स्वाभाविकता भी बनी

रहती है और भद्दापन भी नहीं आने पाता। यही चुनाव और सजावट कथोपकथन लिखने की प्रधान कला है।

कनकप्रभा—मंजुभाषिणी छन्द का अन्य नाम। विशेष देखिए मंजुभाषिणी।

कनकमंजरी—इंदिरा छन्द का अन्य नाम। विशेष देखिए इंदिरा।

कन्या—कन्या मा गा, प्रत्येक पाद में एक मगण और गुरु (ऽऽऽऽ) से बनने वाला प्रतिष्ठा जाति का समवृत्त छन्द।

कपट—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

कबीर—सरसी छन्द का अन्य नाम। विशेष देखिए सरसी।

कमल—अन्तगुरु (॥ऽ) मात्रागण का नाम। विशेष देखिए गण।

करम्भक—विविध भाषाओं से निर्मित काव्य। कविराज विश्वनाथ की १६ भाषाओं वाली प्रशस्ति-रत्नावली इसका उदाहरण है।

करखा—कल सैंतीस, वसु (८) सूर्य (१२) वसु (८) अंक (६) यति, या करौ अंत करखा बखानौ, ८, १२, ८ और ६ पर यति वाली ३७ मात्राओं और अंत में यगण से बनने वाला सम मात्रा दंडक छन्द।

करण (१)—मुख नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष देखिए मुख।

करण (२)—सर्वगुरु (ऽऽ) मात्रागण का नाम। विशेष देखिए गण।

करुण—**इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।**

> **धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः।**
> **शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालंबनं मतम्।**
> **तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः।**
> **अनुभावाः दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः।**
> **वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलयनानि च**
> **निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः।**
> **विषादजड़तोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः।** —साहित्यदर्पण

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से आविर्भूत होने वाला, शोक स्थायी, कपोत वर्ण और यमदेवता वाला रस। आलंबन—विनष्ट बंधु-पुत्र आदि शोच्य, उद्दीपन उसकी दाह क्रिया, बन्धु-बान्धवों का रुदन आदि—अनुभाव; भाग्य-निन्दा, भूपतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ, प्रलाप आदि; संचारी भाव—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि। शोक स्थायी होने से यह करुण-विप्रलम्भ (दे० यथा०) से भिन्न होता है। उदाहरण—

सब बन्धुन को सोच तजि, तजि गुरुकुल को नेह।

हा ! सुशील सुत किमि कियो, अनत लोक तें गेह। —हिन्दी रस गंगाधर

यहाँ मृत-पुत्र आलम्बन, बांधव-दर्शन आदि उद्दीपन, रोदन अनुभाव, दैन्य आदि संचारी और शोक स्थायी भाव है।

करुण-गीत—मृत व्यक्ति की याद में लिखा गया गीत या कविता। (दे० शोक गीति)

करुण-विप्रलंभ—नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरे का दुःख। पर इसमें यदि फिर मिलने की आशा टूट जाए तो यह करुण रस ही हो जाएगा। अतएव शाप वरदान आदि के बल पर फिर जी उठने की आशा इसमें रहनी चाहिए। पर कुछ आचार्य इसे मरण का प्रवास-भेद नहीं मानते।

कर्णकटु—श्रुति कटु दोष का ही पर्यायवाची नाम। विशेष दे० श्रुतिकटु।

कलहंस—स ज सा स गा सु कलहंस विराजे, सगण, जगण, दो सगण और गुरु से बनने वाला अति जगती जाति का समवृत्त छन्द।

कलहान्तरिता—वह नायिका, जो पहले तो प्रार्थना तक करने वाले प्रिय को हटा दे और पीछे से पछताए। यह नायिका के आठ अवस्था भेदों में से एक है।

कला—प्रतिभा शक्ति और कल्पना (दे० यथा०) कौशल से कतिपय रूपों में स्वान्तः सुखाय या मनोरंजन और उपदेश के लिए किया गया जीवन का अनुकरण। ऋक, अथर्ववेद (क्रमशः ८१।४७।१६ और ६।६१।३, में तथा शतपथ और तैत्तिरीय में इसका उपयोग १।१६वें भाग के लिए किया गया है तथा महाभारत में सूर्य और चण अर्थ में। नाट्यशास्त्र (१।११३) में शिल्प के साथ और काव्यालंकार (१।२) में काव्य और चतुवर्ग फलों के साथ। काव्य मीमांसाकार इसे उपविद्या मानते हैं। मूल ग्रीक आर्ट शब्द भी कौशल के अर्थ में था, और फ्रेंच, जर्मन शब्द भी इसी के पर्याय हैं। १८वीं शताब्दी तक यही धारणा रही। ये उपयोगी और ललित इन दो भेदों में बाँट दी गई हैं। प्रसाद जी के मत से कला की रेखायें एक निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं। हीगेल पाँचों ललित-कलाओं में अमूर्त्त-आधार की मात्रा के अनुसार उनकी श्रेष्ठता बताते हैं। वास्तु में मूर्त्त आधार सबसे अधिक रहता है, वह सबसे निचली है। दूसरे क्रम पर मूर्ति कला है, क्योंकि उसमें मूर्त्त आधार और कम हो जाता है। तीसरे क्रम पर चित्र और चौथे पर संगीत-कलाएँ आती हैं और अन्त में काव्य। रामनरेश वर्मा पहली चार तो सुन्दरता-मूलक और पाँचवीं काव्य को रमणीयता-मूलक बताकर उनका भेद करते हैं, पर प्रसाद ने यह वर्गीकरण पौर्वात्यों के लिए पाश्चात्यों जितना सुगम नहीं माना है। युंग के मत से कला से दबी वासनाओं की अभिव्यक्ति उतनी ही सत्य है, जितनी खाद से पुष्प और बिच्छू की उत्पत्ति।

महादेवी वर्मा ललित कला और उपयोगी कला में गुलकन्द और गुलाब की उपयोगिता जैसा अन्तर बताती हैं।

शैवतन्त्र में उल्लिखित ६४ कलाएँ, जिनको उपयोगी कलाएँ मानना चाहिए, निम्नांकित हैं—

गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य, विशेषकच्छेद्य, तंडुल कुसुमबलिप्रकार, पुष्पास्तरण, दशनवसनांगराग, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचन, उदकवाद्यमुदकघात, चित्रयोग, माल्यग्रंथनविकल्प, शेखरापीडयोजन, नेपथ्ययोग, कर्णपत्रभंग, सुगंधयुक्ति, भूषणयोजन, इन्द्रजाल, कौतमारयोग, हस्तलाघव, चित्रशाकापूपभक्ष्यविकार-क्रिया, पानकरसरागासनयोजन, सूचीवायकर्म, सूत्रक्रीड़ा, वीणाडमरूवाद्य, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वचकयोग, पुस्तकवाचन, नाटकाख्यायिकादर्शन, काव्यसमस्यापूरण, पत्रिकावेत्रबाणविकल्प, तर्ककर्म, तक्षण, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागज्ञान, आकरज्ञान वृक्षायुर्वेद, मेषकुक्कुटलावकयोगविधि, शुकसारिकाप्रलापन, उत्सादन, संवाहन और केशमार्जन में कौशल, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेच्छित-विकल्प, देशभाषाविज्ञान, पुष्पशकटिकानिर्मितिज्ञान, यन्त्रमातृका धारणमातृका, संवाच्य, मानसकाव्यक्रिया, अभिधानकोष, छन्दःज्ञान, क्रियाविकल्प, छलितकयोग, वस्त्रगोपन, द्यूतवैशिष्ट्य, आकर्षक्रीड़ा, बालक्रीडनक, वैनायिकी वैजयिकी और वैतालिकी विद्याओं का ज्ञान।

कलापक्ष—कविता का बाह्य या बुद्धितत्व से सम्बन्धित पक्ष। विशेष दे० कविता।

कलावाद—कला का उद्देश्य कला, या काव्य का उद्देश्य काव्य मानने वाली धारा। कलावादी कविता के क्षेत्र को जीवन-क्षेत्र से बिलकुल अलग मानते हैं। क्लाइव बैल अपने ग्रंथ 'आर्ट' में कहते हैं—'कविता का विचार करते समय जीवन की बातों को तो लाना ही चाहिए, पर जीवन के विचारों और कार्यों के ज्ञान, या इसके आवेशों का परिचय इसमें देना प्रयोजनीय नहीं।' यह वाद सन् १८६६ में फ्रांस में उठा था और ब्रिटेन में डा० ब्रेडले ने इसका प्रतिपादन किया। पलायनवाद (दे० यथा०) का कलावाद से बहुत-कुछ सम्बन्ध है। दूसरे लोग कविता को वह आदर्शित (पैटर्न्ड) अर्थ-सामग्री बताते हैं जो जीवन का कुछ अंश हमारे सामने रखे। इनका मत है कि कलाकार अपने हृदय की भावनाओं की स्वांतः सुखाय ही अभिव्यक्ति नहीं करता, अन्यथा वह अपने उपादानों को इतना सजा-सँवारकर समाज में प्रकाशित करने के लिए इच्छुक क्यों होता है। पर कलावादी कवि को रहस्यद्रष्टा पैगम्बर और काव्य को लोकातीत वस्तु बताते हैं। इस मत के प्रमुख पोषक ह्विसलर और ब्रैडले हैं। जिनका कहना है—'काव्यानुभूति या सौंदर्यानुभूति का लक्ष्य और मूल्य निराला है। धर्म,

शिष्टाचार, शिक्षा, मनोविकार-निरोध आदि का उपदेश दे, कविता लोकोपयोगी बन जाये तो अच्छा है, पर ये बाहरी बातें उसकी असली उत्तमता नहीं आँक सकतीं। उसकी दुनिया एकान्त, स्वतःपूर्ण और स्वतन्त्र है। रिचर्ड्स ने अपने साहित्य-समीक्षा-सिद्धान्त (प्रिंसिपल्स आफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म) में ब्रैडले के इस मत का ंडन किया है। रिचर्डस कहते हैं—काव्यानुभव जीवन से ही होकर आता है, काव्य जगत् की शेष जगत् से भिन्न कोई सत्ता नहीं, उसके अनुभव शेष अनुभवों से भिन्न नहीं हैं। सर्वग्राह्यता (कम्यूनिकेबिलिटी) एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाया जा सकना (हमारे यहाँ का साधारणीकरण) उसकी सबसे बड़ी विशेषता है, आदि। हमारे यहाँ दर्पणकार के मत से काव्य से अल्पज्ञों तक को सहज ही चतुर्वर्ग फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति होना बताई गई है। आचार्य शुक्ल 'अर्थ' का द्रव्य-प्राप्ति संकुचित अर्थ न ले उससे लोक की सुख-समृद्धि अर्थ निकालते हैं।

कलापक—चार पद्यों में एक वाक्य की पूर्ति या एक विषय का शृंखलित वर्णन होने पर यह समुदाय विशेषक या कलापक कहा जाता है।

कल्पना—मस्तिष्क में अंतस के नेत्रों के सहारे घटनाओं की स्थितियों या चरित्रों को देखने की रचनात्मक शक्ति। कलाकार के लिए कल्पना-शक्ति अत्यन्त अपेक्षित है। इसी के ईश्वरप्रदत्त और जन्मजात ज्ञानप्रधान रूप को प्रतिभा या शक्ति कहते हैं, जो कम से कम कवि के लिए नितांत आवश्यक है। क्षेमेन्द्र के शब्दों में जन्मजात प्रतिभा वाले या अभ्यास कर सफल होने वाले अल्पप्रयत्नसाध्य और यत्नसाध्य कवियों को छोड़ एक तीसरे प्रकार के असाध्य लोग भी होते हैं, वे उसी प्रकार जिस प्रकार अन्धा सूर्य को नहीं देख सकता या गधा सिखाये जाने पर भी गा नहीं सकता, कभी भी सफल कवि नहीं बन सकते।

कल्पनातत्व—कविता का रागात्मक और हृदय से सम्बन्धित तत्व। विशेष दे० कविता।

कविता—श्रोता या पाठक को आल्हादकारी, मनोवेगों को तरंगित करने वाला और छन्दों में लिखा जाने वाला साहित्य का एक प्रधान भेद। शायद किसी दूसरे शब्द की परिभाषा को लेकर इतना मतभेद नहीं, जितना इसे लेकर। अफलातून और उसके समथक इसे विषैली सुरा और नकल की भी नकल बताते हैं। दूसरे लोग इसे आदर्श और सत्य में ले जाने वाला बताते हैं। "वह सबल भावों का स्वतः प्रवर्तित प्रवाह है, और शान्त क्षणों में स्मृत मनोवेगों का लेखा है" (वर्डस्वर्थ)। "वह स्फीत तथा पूततम आत्माओं के श्रेष्ठ तथा भव्यतम क्षणों का लेखा है" (शैले)। "वह कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करने वाली नैतिक कलाकृति है" (रस्किन)। "सरलता, ऐंद्रियता और भावावेश उसमें नितान्त अपेक्षित हैं" (मिल्टन)। वह कल्पना

और उत्कृष्ट क्षणों में छन्दों में प्रवहमान हमारा जीवन ही है"(पंत)। "कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है" (महादेवी)। "साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में दीख पड़ती है; इस तरह जाति के युक्ति-प्रयास का पता चलता है" (निराला)। ऐसे न जाने कितने मत आज तक कविता या काव्य के विषय में निरूपित किये गए हैं। (यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि आज काव्य प्रायः एक कविता-ग्रंथ का नाम हो गया है, जब कि कविता छोटी-सी रचना का साधारण नाम है)।

इन सारे मतों से दो बातें उठती हैं, एक तो कविता का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से होने के कारण उसका नैतिकता से भी सम्बन्ध है, भले ही उसका उपदेश कोरे दार्शनिक का उपदेश न हो, मम्मट के शब्दों में कांतासम्मित मधुर उपदेश हो (दे० कलावाद, पलायनवाद)। दूसरे उसका सम्बन्ध बाहरी और भीतरी, मस्तिष्क और हृदय के बुद्धितत्व और रागात्मक तत्व (कल्पनातत्व) दो तत्वों से है। इसे ही कलापक्ष और भावपक्ष भी कहा जाता है। एक पक्ष पर आश्रित कविता की व्याख्या अधूरी ही है।

ऋग्वेद के उषासूक्त के एक-एक मंत्र में ४-४ उपमाएँ देख (दे० अभ्रातेव पुंस एति १।१२४।७) विद्वान् तभी से कविता का जन्म खोजते हैं। उपनिषदों में भी द्वा सुपर्णा आदि में ऐसे अलंकार भरे पड़े हैं। ब्राह्मण, निरुक्त, और आरण्यकों के इन कवित्वपूर्ण पदों के बाद आदिकाव्य रामायण आता है। और उसके बाद ही कहीं भरत के नाट्यशास्त्र और महाभारत को भी गिनना चाहिए। पीछे तो शृङ्खला मिलती ही चली जाती है। अग्निपुराणकार से लेकर भामह, दंडी और रुद्रट तक सभी आचार्य शब्दार्थ की रुचिरता को ही काव्य मानते रहे और भोज, मम्मट और जगन्नाथ तक की परिभाषाएँ शब्दार्थ को महत्त्व देती रहीं, पीछे से विश्वनाथ द्वारा वाक्य को अपनाने का उल्लेख हो चुका है।

कविता के तीन मुख्य तत्व हैं—स्वर (शब्द), अर्थ और ध्वनि। वह कल्पना के सहारे हमारी बुद्धि तक जीवन की गहरी अनुभूतियों का सन्देश पहुँचाती है। इसके शब्दों में संगीत और ताल अधिक रहता है।

कवित्त—घनाक्षरी छन्दों का सामूहिक और लोक-प्रचलित नाम। विशेष दे० घनाक्षरी।

कवि-निरंकुशता—कवि को दी गई विशेष स्वाधीनता। शब्दों के रूपों को तोड़ने-मरोड़ने, छन्दोभंग रोकने के लिए माष को मष कर देने, तथ्य को तोड़ने-मरोड़ने और निबन्धनों के नियमों का उल्लङ्घन करने आदि की कुछ स्वाधीनता समाज द्वारा कवि को दे दी जाती है। ऐतिहासिक कहानियों तक को बदल देने में भी यह

स्वाधीनता काम आती है।

कवि-प्रसिद्धि—कविसमय का ही अन्य नाम। विशेष दे० कविसमय।

कविव्यापार—वैसे तो काव्य शब्द की उत्पत्ति ही कवेः कर्म काव्यम् (अर्थात् कवि का कर्म या कति काव्य है) मानी जाती है, परन्तु विशेषतः वक्रोक्तिवादी कविता में कवि-व्यापार को अधिक प्रधानता देते हैं। यह कवि-व्यापार कवि की जन्मजात प्रतिभा पर आश्रित रहता है, प्रतिभा के आधार पर ही कवि अपने व्यापार में व्यापृत अथवा तल्लीन होता है। कवि-कर्म या कवि व्यापार कवि-प्रतिभा द्वारा ही विकसित होता है। कुन्तक के शब्दों में अंकुठित प्रतिभा से उन्मीलित नवीन शब्द तथा नूतन अर्थ के साहचर्य से काव्य रमणीय होता है।

कविसमय—कवियों का आचार या सम्प्रदाय। शास्त्र और लोक-विरोधी वे बातें जिनका कवि लोग परंपरा से वर्णन करते आ रहे हैं। वामन प्रायः इसी अर्थ में काव्य-समय शब्द का प्रयोग करते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका के अन्त में ऐसी कवि-प्रसिद्धियों का विस्तृत विवेचन किया है। कुछ वृक्षों में दोहदसंचार (दे० वृक्षदोहद) के लिए भी स्त्रियों की कुछ क्रियाएँ कविप्रसिद्ध मान ली गई थीं, जैसे अशोक में फल नहीं होते और सुन्दरियों के पदाघात से उसमें फूल आते हैं। कर्णिकार वृक्ष के आगे स्त्रियों के नृत्य करने से वह पुष्पित हो जाता है। कुरवक स्त्रियों के आलिंगन से खिलता है। चंपक स्त्रियों के मृदु हास्य से, तिलक उनके वीक्षण मात्र से, नमेरु उनके गान से, प्रियंगु उनके स्पर्श से, मंदार उनके नर्मवाक्य से, वकुल उनकी मुख-मदिरा से सिंचकर और सहकार (आम) उनकी मुख वायु पाकर कुसुमित हो जाते हैं।

इन वृक्ष दोहदों के सिवा कुछ अन्य कवि-प्रसिद्धियाँ भी हैं, जो कवि समाज में बिना वैज्ञानिक परीक्षण या खोज के ही निश्चित चली आ रही हैं। कामदेव के धनुष-बाण पुष्प के और धनुप की डोरी भौंरों की मानी जाती रही है, तथा उसके मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप माने गये हैं। कुन्द पुष्प ही नहीं, उसके कुड्मल भी सफेद माने गये हैं। कुमुद श्वेत होता है, उसका वर्णन जलाशयों में होना चाहिए और वह दिन में नहीं खिलता। कोकिल केवल वसंत में ही कूजती हुई बतानी चाहिए। चकोर चाँदनी पीते हैं। चक्रवाक जोड़ों में पाये जाते हैं, वे दिन में जलाशय के एक ही किनारे रहते हैं, पर रात को अलग-अलग हो विरह में ही बिताते हैं। हंसों का वर्णन जलाशय-मात्र में होना चाहिए और वे वर्षा में उड़कर मानसरोवर चले जाते हैं। मयूर वर्षा में ही नाचते हैं। चन्दन में फूल और फल का वर्णन नहीं होना चाहिए और वह मलय-पर्वत पर ही होता है तथा उसमें नाग लिपटे रहते हैं। नीलोत्पल का भी वर्णन जलाशय में ही हो और वह दिन में नहीं खिलता। कमल दिन में ही खिलते हैं, उनके

मुकुल नहीं होते, उनमें लक्ष्मी का वास होता है और हेमन्त शिशिर को छोड़ सभी ऋतुओं में उनका वर्णन होना चाहिए। प्रियंगु के पुष्प पीले होते हैं, पर उसे पीला नहीं बताना चाहिए। भूर्जपत्र का वर्णन हिमालय में ही होना चाहिए। मालती वर्ष में दो बार फूलती है। मोतियों का वर्णन ताम्रपर्णी नदी में ही होना चाहिए, यद्यपि हाथी, मेघ, सुअर, मछली, सीपी, बाँस, साँप और मेढ़क में भी स्वांती नक्षत्र का जल पड़ने से मोती पैदा होने का पौराणिक विश्वास है। शेफालिका (हरसिंगार) के फूल रात में ही झड़ते हैं।

पदार्थों के रंग के बारे में भी कुछ कवि-प्रसिद्धियाँ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने काव्यमीमांसा और अलंकार शेखर से उद्धत की हैं। कृष्ण, नील, हरित और श्याम रंगों को, और इसी प्रकार पीत और रक्त तथा श्वेत और गौर को एकार्थवाचक मान लिया गया है। आँखों में श्वेत, श्याम, रतनार (लाल) और कृष्ण तथा मिश्र रंग माने गये हैं। रंगों की सूची निम्न है। श्वेत रंग वाले पदार्थ—चन्द्र, इन्द्र के घोड़े, शिव, नारद, भार्गव, हली, शेष, सर्प, ऐरावत, सौध, सिंह, शरत् के मेघ, सूर्य-कान्त चन्द्रकान्त मणियाँ, केंचुल, मंदार, हिमालय, हिम, हास, मृणाल, स्वर्गंगा, हाथी-दाँत, अभ्रक, सिकता, अमत, लोध्र, गुण, कैरव, शर्करा, यश, पुष्प, जल, छत्र और वस्त्र। नील रंग वाले—कृष्ण, चन्द्रलांछन, व्यास, राम, अर्जुन, शनि, द्रौपदी, काली, राजपट्ट, विदूरज, विष, आकाश, कुहू, शस्त्र, अगुरु, पाप, तम, रात्रि, अद्भुत और शृंगार रस, मद, ताप, बाण, युद्ध, बलराम के वस्त्र, यम, राक्षस, खंजन, मोर का कंठ, कृत्या, छाया, गज, अंगार और दुष्ट का अन्तःकरण। काले रंग वाले ये पदार्थ और हैं—अपयश, मेघ, शैल, वृक्ष, समुद्र, लता, भिल्ल, असुर, पंक और केश। लाल रंग वाले पदार्थ—क्षात्रधर्म, त्रेता, रौद्ररस, चकोर, कोकिल-पारावत के नेत्र, कपि-मुख, तेज, सार, मंगल, कुंकुम, तक्षक, जिह्वा, इन्द्रगोप, खद्योत, विद्युत, कुंजरविंदु, अनुराग, मणि-माणिक्य, रत्न, जपा, सूर्य, पद्म, बंदूक, दाड़िम और करज (अँगुलि)। पीत रंग वाले पदार्थ—दीप, जीव, इन्द्र, गरुड़, शिव के नेत्र और जटा, ब्रह्मा, वीर रस, स्वर्ण, बानर, द्वापर, गोरोचन, किंजल्क, चक्रवाकी, हरिताल, मनःशिला, शालि, मंडूक, वल्कल और पराग। धूसर रंग वाले पदार्थ—रज, लूता, करभ, गृहगोधा, कपोत, मूषक, दुर्गा, काककंठ, और गर्दन। हरित रंग वाले—सूर्याश्व, बुध और मरकत।

फिर कुछ संकीर्ण कवि-प्रसिद्धियाँ हैं। जैसे—आकाश में मलिनता, युवकों के गले में हारों का रहना और काम वाण तथा स्त्री-कटाक्ष से उनके हृदय फटना, पर्वत-मात्र में सोने-रत्नों का वर्णन मकर का वर्णन केवल समुद्र में करना, जल में सर्वत्र शैवाल बताना, देवी-देवताओं में पहले देवता फिर देवी का वर्णन और उनका नख-

शिख चरण से प्रारम्भ करना और स्त्री-पुरुष में पहले स्त्री का वर्णन और उनका नख-शिख सिर से प्रारम्भ करना, युद्ध में मरे योद्धाओं का सूर्यमंडल भेदकर स्वर्ग में जाना, शिव को चन्द्रमौलि और शूली तो कहना पर गंगामौलि और सर्पी न कहना, भूत, इन्द्र, भारत और ईश के पहले महाशब्द लगने पर भी उनका अर्थ न बदलना और ब्राह्मण, वृष्टि, भोज्य, औषध-जन और पथ्य आदि के पहले महा लग जाने पर उसका दुष्ट अर्थ में प्रयोग आदि आदि। ये कवि-प्रसिद्धियाँ इतनी ही नहीं हैं और साहित्यदर्पणकार के शब्दों (७।२५) के अनुसार सत्कवियों की कविता में और भा खोजी जा सकती हैं।

कहानी—प्रायः १०० शब्दों से १५०० तक लम्बी गद्य में लिखी गई कथा। मानव ने भाषा सीखने के साथ ही कहानी कहना-सुनना भी जान लिया होगा और वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत और पुराण आदि में उसका बीज छिपा मिलता है पर नये अर्थ में उसका विकास नया ही है, जो अंग्रेजी और बंगला के प्रभाव में हिन्दी में विकसित हुआ। शुक्ल जी ने किशोरीलाल गोस्वामी की इन्दुमती" कहानी (संवत् १९५७) को हिन्दी की पहली मौलिक कहानी बताया है। आज के व्यस्त मानव को कठिनाई से राह चलते एक-दो घड़ी मनोरंजन के लिए मिलती है और उस समय कहानी ही उसके काम आती है। और अपनी इसी लोकप्रियता के कारण प्रत्येक पत्र-पत्रिका में उसने अपने लिए स्थान बना लिया है। पात्र और वस्तु-विधान में समता होते हुए भी आकार, शैलो और आदर्श की दृष्टि से उपन्यास से उसका विशेष अन्त है। उपन्यास कुछ विचार रखता है। पर कहानी कुछ मनोरंजन ही करती है। इसके प्रमुख तत्व हैं—वस्तु पात्र, कथोपकथन और शैली। कुछ कहानियाँ बिना वस्तु-योजना के चलती हैं, पर यह विशेष सुविधाजनक होता है कि कुछ रूपरेखा बना ली जाए और सब वस्तु एक में केन्द्रित रखी जाए। कहानी का विषय कुछ भी हो सकता है। यह आधिकारिक ही होती हैं। पात्र संख्या में कम होते हैं और स्थान की कमी के कारण उनका भी पूरा-पूरा विकास न दिखाकर दो-चार विशेषताएँ ही बताई जाती हैं। प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण की अपेक्षा परोक्ष या नाटकीय चरित्र-चित्रण ही अधिक उपयुक्त रहता है। कथोपकथन का चरित्र और वस्तु के विकास में तो उपयोग है ही उससे स्वाभाविकता भी आती है। शैली लेखक का अपना गुण है, फिर भी कहानी में सरलता विशेष अपेक्षित होती है। कहानी की पद्धतियाँ निम्न हैं—वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक, कथोपकथन वाली, पत्रात्मक, वातावरण वाली और मनोवैज्ञानिक। वातावरण, परिपार्श्व (दे० यथा०) या पृष्ठभूमि का विधान तो सभी कहानियों में आवश्यक होता है।

कष्टार्थत्व—प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना के लिए उपात्त अप्रस्तुत अर्थ के ही

दुर्बोध होने से उत्पन्न अर्थ दोष (दे० यथा०)। जैसे,—जब यमुना और वर्षा दोनों सूर्य से उत्पन्न हैं, तो सूर्य की किरणों में जल होना चाहिए, पर भ्रांत मृगी उनमें यह विश्वास नहीं करती, यहाँ अप्रस्तुत अर्थ ही दुर्बोध हैं उससे व्यंजित नायिका के नायक में अविश्वास की तो बात ही दूर है। इसे कष्टत्व भी कहते हैं।

कांति—(१) भरत द्वारा बताये गए दस सामान्य काव्य गुणों तथा दंडी द्वारा स्वीकृत वैदर्भ मार्ग के गुणों में कांति की भी गणना की गई है। इस शब्द का अर्थ है कमनीयता, उज्ज्वलता। कवि को सफलता तभी मिल सकती है जब वह शब्द के उसी अर्थ का प्रयोग करे जो लोक में प्रचलित है, उसका उल्लंघन न करे। दंडी के मत से यह गुण वार्ता तथा वर्णना में दिखाई देता है।

इस गुण के विपर्यय को अत्युक्ति (लोक-प्रचलित अर्थ का उल्लंघन करने वाली उक्ति) कहा जाता है। जहाँ वैदर्भ मार्ग वाले प्रचलित अर्थ को अपनाते हैं। गौड़ मार्ग वाले लोकातीत अर्थ को ही स्वीकृत करके चमत्कार की सृष्टि करते हैं।

कांति—(२) **सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युति।** —साहित्यदर्पण

स्मर विलास से बढ़ी हुई दीप्ति (दे० शोभा)। यह नायिका का एक अयत्नज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

काक्वाक्षिप्त—निषेध रूप को वाच्यार्थ के साथ ही प्रकाशित करने वाला गुणीभूत व्यंग्य। जैसे 'क्या मैं सौ कौरवों को युद्ध में न मार डालूँगा' का वाच्यार्थ 'मार डालूँगा' साथ ही प्रकट हो जाता है। विशेष दे० गुणीभूत व्यंग्य।

कामद—कुछ विद्वान् कौमेडी को कामद नाम से पुकारते हैं, पर हिन्दी में सुखान्त नाटक नाम अधिक प्रचलित हो गया है। दे० सुखान्त नाटक।

कामद-विश्राम—दुखान्त नाटक या त्रासद के गम्भीर करुण वातावरण में मनोरंजक तत्वों का विनिवेश। विशेष दे० सुखान्त नाटक।

कामदशा—कामातुर की चेष्टा। विप्रलभ श्रृङ्गार में दस काम-दशाएँ बतायीं गयी हैं। पूर्वराग-विप्रलौभ की ये दशाएँ प्रवास-विप्रलंभ की दशाओं से कुछ भिन्न हैं। यद्यपि दोनों ही प्रकार की ये दशाएँ दोनों ही स्थलों पर संभव हैं, पर प्राचीन परंपरा के पालन में आचार्य लोग उनका पृथक् विवेचन करते रहे हैं।

पूर्वराग की दस काम-दशाएँ निम्न हैं—

(१) अभिलाष या इच्छा, (२) चिन्ता या प्राप्ति के उपायादि की खोज, (३) उन्माद या जड़-चेतन का विवेक न रहना, (४) प्रलाप या चित्त बहकने से उत्पन्न अटपटी बातें, (५) व्याधि या दीर्घश्वास, पीलापन, दुर्बलता आदि, (६) स्मृति या स्मरण, (७) गुणों का कथन, (८) उद्वेग, (९) जड़ता या अंग और मन का चेष्टा-

शून्य हो जाना और (१०) मृति यां मरण। रस का विनाशक होने से यहाँ मरण का वर्णन नहीं होता। बस मृतवत् दशा, आकांक्षित-मरण या पुनर्जीवित होने वाले मरण का ही उल्लेख किया जाता है।

प्रवास-विप्रलंभ की दस (ग्यारह) कामदशाएँ ये हैं—

(१) अंगों का असौष्ठव या मलिनता, (२) ताप या विरह-ज्वर, (३) पांडुता या पीलापन, (४) दुर्बलता, (५) अरुचि या सभी वस्तुओं में वैराग्य (६) अधृति या कहीं जी न लगना, (७) अनालंबनता या मन का सूनापन, (८) तन्मयता या बाहर-भीतर सर्वत्र प्रिय का ही दीख पड़ना, (९) उन्माद, (१०) मूर्छा और मरण।

कामरूप—९, ७ और १० पर यति वाली २६ मात्राओं और अन्त में क्रमशः गुरु-लघु से बनने वाला महाभागवत जाति का सम-मात्रा-छंद। (जैसे—"नभ भूमि जहँ तहँ, भरे बनचर, रामकृष्ण अरूढ़"—भानु)

कामा—प्रत्येक पाद में दो गुरु वाला अत्युक्ता जाति का समवृत्त छन्द। इसे 'स्त्री' भी कहते हैं।

कारकवक्रता—कुन्तक के शब्दों में किसी भंगी (वैचित्र्य) पूर्ण उक्ति के सौन्दर्य को पुष्ट करने के लिए, जहाँ कारकों का विपर्यय कर दिया जाए, वहाँ कारक-वक्रता होती है, जैसे—"विरहिणी का पीला कपोल करतल पर गिर रहा है, तथा आँसुओं की धारा स्तनों को नहला रही है"—यहाँ कपोल रखा न जाकर स्वयं गिर रहा है तथा आँसू स्वयं कारण न बन कर्त्ता बन रहे हैं। अत: यहाँ कारक-वक्रता है।

कारणमाला—एक श्रंखला मूलक अर्थालंकार, जिसमें वर्णित पदार्थों का कार्य कारण सम्बन्ध (१) पूर्व-पूर्व कारण पर-पर कार्य और (२) पूर्व-पूर्व कार्य पर-पर कारण इन दो क्रमों से बताया जाता है।

परंपरं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता तदा कारणमाला स्यात्।—विश्वनाथ

क्रमशः उदाहरण—

(१) होत लोभ से मोह, मोहहिं ते उपजे गरब।
गरब बढ़ाये कोह, कोह कलह, कलहहु व्यथा॥

(२) सुजस दान और दान धन, धन उपजे किरवान।
सो जग में जाहिर करी, सरजा सिवा खुमान॥

कार्य—नाटक में प्रयोजन के पाँच साधनोपायों (अर्थ-प्रकृतियों) का अन्तिम भेद, विशेष दे० अर्थ-प्रकृति।

काल-दोष—किसी प्राचीन काल का वर्णन करने वाले काव्य, नाटक, कहानी उपन्यास आदि में किसी ऐसी परवर्ती बात का निर्देश, जो वास्तव में उस समय संभव न हो। उदाहरणतः अकबर के सामने हुक्के का रखना, जब कि यह निश्चित है कि

भारत में तम्बाकू का आयात जहाँगीर के समय में ही हुआ। इसी प्रकार पारसी नाटकों में पौराणिक व्यक्तियों का आधुनिक वेश-भूषा या वातावरण में चित्रित किया जाना कालदोष कहा जायेगा।

कालवैचित्र्यवक्रता—कभी-कभी काल की विचित्रता के कारण काव्य में विशिष्ट चमत्कार की सृष्टि हो जाती है, इसे कालवैचित्र्यवक्रता नाम से पुकारा गया है। जैसे, शीघ्र ही वर्षा के आने से मार्ग मनोरथों के लिए भी दुर्ल्लङ्घ्य हो जायँगे।

यहाँ भविष्यत्काल ने रमणीयता उपस्थित की है। वर्षा-काल की उत्प्रेक्षा से ही कंप होता है, उसके वर्तमान होने पर न जाने क्या होगा।

इस प्रकार यहाँ 'काल' के मधुर उपादान ने वक्रता का सृजन किया है।

काव्य—(१) उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद।

> **काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हास्यसंकुलम्।**
> **खंडमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलंकृतम्॥**
> **वर्णमात्राछगणिकायुतं शृंगारभाषितम्।**
> **नेत्य स्त्री चाप्युदात्तात्रसंधो आद्यौ तथान्तिमः॥** —साहित्यदर्पण

यह आरभटी वृत्ति रहित, हास्य प्रधान और खंडमात्रा, द्विपदिका और भग्नताल नामक गीतों और वर्णमात्रा और छगणिका नामक छन्दों वाला एकांकी है। इसमें नायक-नायिका दोनों उदात्त और मुख-प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण यादवोदय बताते हैं।

काव्य—(२) यह शब्द अब प्रायः एक कविता-ग्रंथ के लिए प्रचलित हो गया है। गद्य-काव्य और पद्य-काव्य श्रव्य काव्य के दो भेद हैं, और दृश्य काव्य के रूपक और उपरूपक आदि भेद हैं। पद्य-काव्य के भी महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद हैं। गीति-काव्य और मुक्तक काव्य आदि इसके नए भेद हैं। विशेष दे० कविता।

काव्य—(३) रोला (दे० यथा०) के चारों पादों में ग्यारहवीं मात्रा लघु होने से बनने वाला २४ मात्राओं का सम मात्रा छन्द।

काव्य-दोष—काव्य में रस के अपकर्ष के कारण अर्थात् उसकी हीनता अथवा उसका विच्छेद कराने वाली बातें। विशेष देखिए दोष।

काव्य-न्याय—पाप के दण्ड और पुण्य काय के पुरस्कार वाला यह न्याय जो कुछ लोगों के मत से काव्य में आवश्यक है। कवि की कृति के अन्त में पापी को दण्ड और पुण्यात्मा को पुरस्कार अवश्य मिल जाना चाहिए, यद्यपि लोक-व्यवहार में ऐसा वस्तुतः बहुत कम होता है।

काव्य-प्रयोजन—**काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,**
> **सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।**

मम्मट के मत से काव्य के प्रयोजन यश-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल का विनाश, परलोक-सिद्धि और कांतासम्मित मधुर उपदेश देना है। इन प्रयोजनों के उदाहरण क्रमशः यशस्वी यश प्राप्त करने वाले कालिदास आदि, विपुल धन पाने वाले भूषण, बिहारी, देव आदि, व्यवहार-ज्ञान (राम-सा आचरण करो, रावण-सा नहीं) बताने वाले तुलसी आदि, सूर्य-स्तुति लिख रोग-मुक्ति पाने वाले मयूर आदि-परलोक साधन करने वाले मीरा सूर आदि, और मधुर उपदेश देने वाले बिहारी आदि में देखे जा सकते हैं। विश्वनाथ काव्य द्वारा कम बुद्धि वालों को भी सुख से चतुर्वर्ग फलों (धर्म अर्थ—काम मोक्ष) की प्राप्ति होना बताते हैं।

चतुर्वर्गफलावाप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव

आनन्द, यश, गुरु, देवता या राजाओं की प्रसन्नता, धन और आनन्द के साथ-साथ शिक्षा ये सारे काव्य-प्रयोजन प्रायः सभी भारतीय विद्वानों को मान्य रहे हैं! पर यूरोप में अफलातून द्वारा कवियों की कटु आलोचना ने आगे चलकर एक समस्या खड़ी कर दी कि क्या कवि का लक्ष्य शिक्षा देना भी है। ड्राइड ने दोनों मतों का समाधान करते हुए कविता का लक्ष्य आनंदमयी शिक्षा देना बताया। पर यह झगड़ा तो बहुत-कुछ आज तक भी चला ही आ रहा है। कलावादी और पलायनवादी उपदेश-पक्ष को विशेष महत्त्व नहीं देते तो दूसरी ओर यथार्थवादी और प्रभाववादी आदि आनंद को ही गौण बना देना चाहते हैं।

काव्य-प्रसिद्धि—कवि परंपरा में स्वीकृत होकर चिरकाल से चली आने वाली बातें, विशेष दे० कविसमय।

काव्यबंध—शब्द-चमत्कार को ही प्रधानता देकर विशेष प्रयत्न और विचित्र अक्षर-विन्यास के साथ गढ़ी गई कविता। इसमें अक्षर-विन्यास ऐसा होता है कि उससे मुरजबन्ध पद्मबन्ध आदि अनेक प्रकार के बंध बन जाते हैं। विशेष दे० चित्रकाव्य।

काव्य-भेद—काव्य के मुख्य दो भेद हैं दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य (दे० यथा०) पर रमणीयता के तारतम्य से उसके तीन भेद होते हैं— (१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) अधम।

इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः,
अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्।
शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्॥—काव्यप्रकाश

ध्वनि या व्यंजना को प्रधानता देने वाला उत्तम काव्य होता है, जैसे—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
अंचल में है दूध और आँखों में पानी॥

यहाँ वात्सल्य, वियोग-शृङ्गार और दैन्य भाव व्यंग्य है।

मध्यम काव्य वाच्यार्थ के स्पष्ट चमत्कार और व्यंग्यार्थ के अचमत्कृत या अस्पष्ट होने पर होता है, जैसे—

वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान।

यहाँ भेदकातिशयोक्ति अलंकार ही प्रधान है। अधम काव्य में व्यंग्यार्थ तो बात ही क्या अर्थ-चमत्कार भी शब्द-चमत्कार पर आश्रित हो जाता है, जैसे—

दलौ त्रिशूल त्रिशूल धर, त्रिभुवन प्रलयंकारि।
हर त्र्यंबक त्रैलोक्यवर त्रिदश ईश त्रिपुरारि ॥ —(काव्य-शिक्षा)

यहाँ अर्थ-चमत्कार भी अनुप्रास की शोभा बढ़ाने के ही लिए है।

काव्यलिंग—हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते। —साहित्यदर्पण।

एक अर्थालंकार, जिसमें वाक्यार्थ या पदार्थ किसी का हेतु होता है। इसमें समर्थनीय अर्थ का अन्य अर्थ द्वारा समर्थन होता है। जैसे—

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाए बौराय नर वा पाए बौराय ॥

यहाँ प्रथम चरण का वाक्यार्थ दूसरे चरण के वाक्यार्थ का हेतु है। पहले के समर्थनीय अर्थ का दूसरे द्वारा समर्थन किया गया है। इसी प्रकार पदार्थ के हेतु होने को भी समझना चाहिए। यह हेतु ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक तीन प्रकार का होता है और वे क्रमशः अनुमान, काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास (दे० यथा०) अलंकारों के विषय होते हैं। अर्थान्तरन्यास में अर्थों का सामान्य विशेष या कार्य-कारण-भाव से समर्थन होता है, पर बिना समर्थन के अर्थ असंगत नहीं रहता। पर काव्यलिंग में बिना समर्थन के वाक्यार्थ का पदार्थ असंगत-सा रहता है।

काव्यसंहार—नाटक की पाँचवीं सन्धि-निर्वहण के चौदह अंगों में से एक अंग, विशेष दे० निर्वहण।

किरीट—आठ भकार किरीट मनोज्ञ मनोहर छन्द=शिरोमणि गावत; आठ भगणों से बनने वाला संकृति जाति का समवृत्त छन्द।

किलकिंचित—स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम्।
सांकर्यं किलकिंचितमभीष्टलमसंगमादिजाद्धर्षात् ॥—साहित्यदर्पण।

अति प्रिय वस्तु मिलने के हर्ष से उत्पन्न मुस्कराहट, सूखा-सा रुदन, कुछ हास, कुछ भय, कुछ क्रोध, कुछ श्रम आदि का विचित्र मिश्रण। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

कीर्ति—स स सा ग बने शुभ कीर्ति; प्रत्येक पाद में तीन सगण और एक गुरु (।।ऽ ।।ऽ ।।ऽऽ) वाला पंक्ति जाति का समवृत्त छन्द।

कुंडल—२२ मात्राओं, १२–१० पर यति और अन्त में दो गुरु से बनने-

वाला महारौद्र जाति का सम मात्रा छन्द। (जैसे—मेरे मन राम नाम दूसरा न कोई, आदि)

कुंडलिया—दो पाद दोहा (दे० यथा०) और शेष चार पाद रोला (दे० यथा०) के होने से बनने वाला विषम मात्रा छंद। इसमें दोहे का चतुर्थ पाद इसके तीसरे पाद के पूर्वार्द्ध में दुहराया जाता है, तथा प्रायः प्रथम पाद का प्रथम शब्द ही छठवें पाद का अन्तिम शब्द होता है। हिन्दी में गिरधर की कुंडलियाँ विशेष लोकप्रिय हैं।

कुंदलता—सगणा जब आठ मिले लघु दो, तब कुंदलता सुखदायक गावत; आठ सगणों और दो लघु से बनने वाला उत्कृति जाति का समवृत्त छन्द।

कुट्टमित—**केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि संभ्रमात्।**
आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम्॥ —साहित्यदर्पण।

केश, स्तन, अधर आदि के ग्रहण से हर्ष होने पर भी नायिका द्वारा घबराहट दिखाने और हाथ आदि चलाने का भाव। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

कुडवक—अपभ्रंश महाकाव्यों के सर्ग का नाम, विशेष दे० सर्ग महाकाव्य।

कुतूहल—**रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम्।** —साहित्यदर्पण।

रमणीय वस्तु को देख चपल होना। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

कुलक—**पंचभिः कुलकं मतम्।** —साहित्यदर्पण।

पाँच या अधिक छन्दों में एक वाक्य की पूर्ति या एक विषय का शृंखलित वर्णन होने पर इस समुदाय को कुलक कहते हैं।

कुसुम विचित्रा—न य न य सोहै कुसुमविचित्रा, नगण, यगण, नगण और यगण से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ६-६ वर्णों पर यति होती है।

कुसुमस्तवक—सगणा जब नौ तब दंडक हो कुसुमस्तवक प्रिय जो शशिशेखर को; सात सगणों से बनने वाला साधारण वर्ण दंडक छन्द।

कृति (१) नाटक की पाँचवीं संधि निर्वहण के दर्पणकार द्वारा निरूपित चौदह अंगों में से एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

कृति (२) वर्णिक छन्दों की बीस अक्षरों वाली जाति। विशेष दे० वृत्त जाति।

केंचुवा छन्द—छन्द शास्त्र के बन्धन न मानकर रचे जाने वाले मुक्तक छंदों का पर्यायवाची शब्द। पंक्तियों के आकार के संकुचित या प्रसारित हो जाने के कारण इसी नाम के बरसाती कीड़े के कारण परिहास में इसका यह नाम रखा गया है। यह

क्रीड़ा भी समिटता-फैलता हुआ चलता है। विशेष दे० मुक्तक छन्द।

केलि—प्रिय के साथ बिहार में नायिका की क्रीड़ा। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। दे० नायिकालंकार।

विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते। —साहित्यदर्पण।

कैतवापन्हुति—अपन्हुति नामक अर्थालंकार का एक भेद। इसमें अपन्हुति में होने वाला निषेध कैतव, मिस या छल के द्वारा व्यक्त होता है। विशेष दे० अपन्हुति।

कैथार्सिस—अरस्तू ने दु:ख नाटक (ट्रैजेडी) की परिभाषा करते हुए अपने काव्य शास्त्र (पोइटिक्स) में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया है। दु:खनाटक में दया तथा भय की भावनाओं के उत्तेजन से उनका स्वस्थ निकास अथवा शोधन संभव होता है। भावनाओं के इस विकास द्वारा आत्मा के शोधन की क्रिया को ही कैथार्सिस कहते हैं, यद्यपि इस शब्द को लेकर परवर्ती यूरोपीय आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है।

लैसिंग ने कैथार्सिस का अर्थ पवित्रीकरण लगाया है। उसका मत है कि वास्तविक जीवन में व्यक्ति दया और भय की भावनाओं में प्राय: लिप्त रहता है, तथा दु:खनाटक उसे एक सुन्दर मध्यमान तक पहुँचा देता है। अन्य लोगों का विचार है कि नाट्यशाला में दया तथा भय के भावावेशों का परिष्कार हो जाता है। किन्तु पहले तो कैथार्सिस का अर्थ पवित्रीकरण नहीं अपितु शोधन है और यह एक चिकित्सा-रूपक है, तथा दूसरे भावावेशों का नहीं अपितु आत्मा का भावाधिक्य के निकास द्वारा शोधन किया जाता है, ऐसा ऐफ० ऐल० लुकस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ट्रैजेडी' में बतलाया है। अत: जो दबे हुए भाव व्यक्ति को भावुक तथा प्रमत्त बना देते, उनका ही सामयिक निकास किया जाता है। यही सदियों से स्वीकृत कैथार्सिस सिद्धान्त है। किन्तु यह देखने में विचित्र सिद्धान्त क्या वस्तुत: सत्य है? मनुष्य यह भावना लेकर नाट्यशाला नहीं जाता कि मैं बहुत दिनों से रोया, डरा या हँसा नहीं हूँ और आज मुझे नाटक देख इस कमी को पूरा करना है, न वह केवल इसी कारण घण्टों पंक्ति में खड़े रहकर परेशानी उठाता है। न नाट्य-शाला कोई अस्पताल ही है।

अरस्तू ने अपने 'काव्य शास्त्र' को अफलातून द्वारा अपने रिपब्लिक में कविता पर किए गए आक्षेपों के उत्तर में लिखा है। कहना न होगा कि अफलातून का मत था कि कला वास्तविकता से द्विगुणित दूरीकृत धुँधली छाया मात्र है तथा कविता मनुष्य को प्रमत्त तथा असंयत बनने के लिए प्रोत्साहित करती है। रोदनशोक के जिन भावों को हम अपनी दु:खी स्थिति में नियन्त्रित रखते हैं, वे ही कवियों द्वारा परिवर्तित रूप में उपस्थित किए जाते हैं। अफलातून के इन अभियोगों का ही उत्तर अरस्तू को

देना था। उसने कहा है कि उपन्यास वास्तविक इतिहास से कहीं अधिक दार्शनिक है। भावनाओं के परिवर्तन के प्रतिकूल कविता भावावेशों के सामयिक निकास के कारण मनुष्यों को अपेक्षाकृत कम भावुक तथा कम चंचल बनाती है। दुःखनाटक भावावेशों का परिशोधन करता है। कहना न होगा कि यद्यपि अरस्तू ने अफलातून को उसी की रीति से ही समुचित उत्तर दिया था, परन्तु वह भी अफलातून के प्रभाव में नैतिकतावादी बनने से न बच सका। इसका प्रभाव इस सिद्धान्त पर भी पड़ा है।

वस्तुतः अनुभव का उपार्जन, अध्ययन और सबसे अधिक मनोरंजन वे प्रधान कारण हैं, जिनके लिए लोग दुःखभरा नाटक भी देखने जाते हैं। रूसो के शब्दों में जिस प्रकार लोग कटु-रस का स्वाद लेते हैं उसी प्रकार नाटक के करुण रस का भी। भारतीय आचार्यों ने भी करुण रस की आनन्दप्रदता के लिए प्राय: वही कारण दिए हैं और भवभूति ने तो करुण रस को विवर्त भेद से अन्य रसों में परिणत होते हुए देखा है। परन्तु हीगेल नाटक में दर्शकों द्वारा नायक के प्रति प्रदर्शित दया को नायक का अपमान मानते हैं। इसके भी विरुद्ध शोपेनहर नाटक की दुनियां को भिन्न दुनियां मानते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दु:खान्त नाटक देखने के बाद जीवन असार तो नहीं किन्तु दु:खमय अवश्य दिखाई देता है। नीत्शे का विचार है कि वह क्षण आशा-निराशा के द्वन्द्व का क्षण होता है। रिचर्ड्स इसे दया की पहुँच की भावना तथा भय के भागने की भावना का सन्तुलन बताते हुए बहक गए हैं—ऐसा लुकस का कथन है। काल्पनिक जगत् की जिज्ञासा की भावना वस्तुत: जीवन के भार को हलका करती है तथा इससे चित्त प्रसन्न होता है।

अतएव दुःखनाटक मानवीय वेदना का लेखा-जोखा है, तथा अपने में निहित तथ्य तथा कला द्वारा हमारा मनोरंजन करता है। वह भावनाओं का शोधन अथवा बहिष्करण न कर उनका परिवर्द्धन करता है। हम भावावेश में विभोर हो जाते हैं।

कैशिकी—विष्णु द्वारा विचित्र अंगविक्षेप द्वारा केशों के बाँधने से कैशिकी वृत्ति का उद्भव हुआ, ऐसा भरत ने बताया है। अभिनवगुप्त भी इसका सम्बन्ध केश से बताते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार केश कुछ भी अर्थ क्रिया का सम्पादन न करते हुए शरीर में सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, उसी प्रकार जो व्यापार नाटक में सौन्दर्य एवं लालित्य की सृष्टि करते हैं, कैशिकी वृत्ति की सीमा में आते हैं। नाट्यदर्पण-कार कैशिकी शब्द का केशवाली (स्त्री) अर्थ निकालते हुए इसे स्त्रियों की ललिता वृत्ति बतलाते हैं। कल्लिनाथ केशों जैसी मृदुता तथा चित्रमयता वाली वृत्ति को कैशिकी बताते हैं। डा० राघवन वृत्तियों के भौगोलिक उदय को मानते हुए थकैशिक (विदर्भ) देश से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, जो वैदर्भी रीति तथा कैशिकी वृत्ति के

सामंजस्य की दृष्टि से उपादेय प्रतीत होता है।

कैशिकी की उत्पत्ति शिव के तांडव से नहीं, लास्य से मानी गई है। स्त्रियों के अभिनय न करने के कारण यह वृत्ति पहले विद्यमान न थी तथा इसका प्रयोग पीछे स्त्रियों के अभिनय के साथ हुआ, यह भी विद्वानों का मत है। भरत ने भी इसे स्त्री-प्रयोज्य, सुन्दर नेपथ्य विधान, सुन्दर वेषभूषा और नृत्य-गीत से संयुक्त माना है—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता

कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारु विलासयुक्ता।— साहित्यदर्पण

इसके भी चार भेद माने गए हैं—नर्म, नर्म स्फूर्ज, नर्म गर्भ, और नर्म स्फोट।

कोमला—लकार के प्रचुर-प्रयोग तथा अन्य कोमल वर्णों के संयोग को कोमला वृत्ति बताया गया है। इसका दूसरा नाम ग्राम्या भी है, जो सम्भवतः इस कारण है कि ग्रामीण नारियों की स्वाभाविक तथा श्रुतिमधुर वाक्यावली प्रायः वैसी ही होती है। यही इस रहस्यमय नामकरण के मूल में है, तथा नगरवधुओं की बोली उपनागरिका से इसका स्पष्ट भेद भी इस नाम से हो जाता है। प्रथम आलंकारिक भामह ने सबसे पहले ग्राम्या शब्द का ही प्रयोग किया था तथा वह बहुत समय तक प्रचलित रहा किन्तु मम्मट के समय तक आते-आते ग्राम्या शब्द का ही प्रयोग उठ गया और कोमला शब्द प्रयोग में आने लगा।

कोमलालापिनी—स ज स ज ग से बनने वाले वर्णवृत्त मंजुभाषिणी का एक अन्य नाम, विशेष दे० मंजुभाषिणी।

कोरस—यूनानी नाटकों में कथावस्तु का सार देने तथा उस सम्बन्ध में नाटककार की टिप्पणी व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला गायकों का दल। ये गायक एकाधिक होते थे और नाच-गाकर पद्यबद्ध टिप्पणी सुनाया करते थे। अब यह शब्द कई लोगों के संयुक्त गान के अर्थ में रूढ़ हो चला है।

क्रम—(१) नाटक की तीसरी सन्धि गर्भ के तेरह अंगों में से एक अंग, विशेष दे० गर्भ।

क्रम—(२) यथासंख्य नामक अर्थालंकार का अन्य नाम, विशेष दे० यथासंख्य।

क्रिया-कल्प—वात्स्यायन ने क्रिया का अर्थ काव्यग्रंथ और कल्प का अर्थ-विधान लगाते हुए अलंकार शास्त्र या काव्य शास्त्र को क्रियाकल्प संज्ञा दी थी, पर यह नाम प्रचलित न हो सका। विशेष दे० अलंकार शास्त्र।

क्रियावैचित्र्यवक्रता—वाक्य के दोषों को ढाँककर क्रिया का चमत्कार उसे अत्यन्त रुचिर बना देता है। कुन्तक ने इसके निम्न भेद माने हैं :—

(१) कर्ता का अन्तरंगत्व अर्थात् उसके साथ क्रिया की अनोखी मित्रता जैसे चन्द्रलेखा को अपने सिर पर बांध उमा ने शिव से पूछा कि मैं कैसी लगती हूँ। शिव द्वारा उत्तर में लिया गया चुम्बन आपकी रक्षा करे, यहाँ शोभा की अभिव्यक्ति चुम्बन व्यापार से कर कर्त्ता का क्रिया से अन्तरंगत्व स्थापित किया गया है।

(२) कर्त्रंतरविच्चित्रता (अन्य कर्त्ता की अपेक्षा विचित्र होना), जैसे पीड़ितों के क्लेशों को छेदने वाले नरसिंह के नख आपकी रक्षा करें, यहाँ नख अन्य नखों से विचित्र कार्य कर रहे हैं।

(३) उपचार-मनोज्ञता (सादृश्य द्वारा एक धर्म का दूसरे में आरोप-उपचार-द्वारा अपने विशेषणों से रमणीयता का संचार) जैसे कामिनी के अंग सौन्दर्यसागर में तैर रहे हैं।

(४) कर्मादिगुप्ति (जहाँ कर्म आदि कारकों को 'कुछ' आदि शब्दों द्वारा छिपा लिया जाए), जैसे सुन्दरी की सौन्दर्य लक्ष्मी रागियों के हृदयों पर कुछ लिख रही है।

क्रोध—प्रतिकूलेषु तैक्ष्णस्यावबोधः क्रोध इष्यते।—साहित्यदर्पण।

शत्रुओं आदि के विषय में तीव्रता के उद्बोध का भाव। यह रौद्र रस का स्थायी भाव है।

क्लिष्टत्व—ऐसी भाषा के प्रयोग वाला काव्य-दोष (दे० यथा०) जहाँ अर्थ लगाने में कठिना हो। जैसे

गजपति सुत की भामिनी, ता भ्राता को घोर।
ताभख, ताभख तासु सुत, आइ बैठ या ठौर॥

यह पवन-सुत हनुमान के लिए प्रयुक्त अत्यन्त दुरूह उक्ति है। इसी प्रकार वेद नखत ग्रह जोरि अरध करि ($\frac{४+२७+९}{२}$ या २० बीस, विष) सोई बनत अब खात।

विच्छिप्ति—नाटक की तीसरी सन्धि गर्भ के तेरह अंगों में एक अग। विशेष दे० गर्भ।

क्षेपक—किसी महाकवि के प्रसिद्ध ग्रंथ में सदिग्ध अंशों का प्रक्षिप्त किया (रखा) जाना। तुलसी के रामचरित में ऐसे क्षेपकों का ढेर लग गया था, जो अब विद्वानों के प्रयत्न से अलग कर दिए गए हैं।

क्षोभ—नाटक में रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले तेंतीस नाट्यालंकारों में से एक नाट्यालंकार, विशेष दे० नाट्यालंकार।

(ख)

खण्ड काव्य—खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च । —साहित्यदर्पण

महाकाव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला काव्य। महाकाव्य के लिए आवश्यक वस्तुओं में से जिसमें सबका समावेश न हो और जो अपेक्षतया छोटे जीवन-क्षेत्र का प्रबन्ध चित्र उपस्थित करे, वह खण्डकाव्य है। वैसे प्रबन्धकाव्य का यह वैसा ही भेद है, जैसा महाकाव्य, पर महाकाव्य से इसका अन्तर बहुत कुछ वही है, जो उपन्यास और कहानी या नाटक और एकांकी का है। महाकाव्य के तत्व इसमें संक्षिप्त, आकर्षक और केन्द्रित रूप रखकर सामने आते हैं।

खंडिता—दूसरी स्त्री के साथ संसर्ग करने के चिन्हों से युक्त होकर नायक जिस ईर्ष्या से जली-भुनी बेचारी नायिका के पास प्राय: निशान्त में आता है, ऐसी नायिका। यह अवस्था के अनुसार किए जाने वाले नायिका के आठ भेदों में से है।

खड्गबन्ध—ऐसे अक्षर-विन्यास के सहारे गढ़ी गई कविता, जिसे विशेष प्रकार से रखने से खड्ग की आकृति का बंध बन जाए। विशेष दे० विमर्श।

खेद—नाटक की चौथी सन्धि के तेरह अंगों में से एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

ख्यातिविरुद्धत्व—लोक में ख्याति वस्तु के विपरीत वर्णन से उन्नत अर्थ-दोष। विशेष दे० प्रसिद्धिविरुद्धत्व।

(ग)

गंग—नव मत्त गंगा, ग ग अन्त संगा, नौ मात्राओं और अन्त में दो गुरु से बनने वाला आंक जाति का सम मात्रा छन्द। इसे 'हारी' भी कहते हैं।

गंगाधर—र न भ ग ग से बनने वाले स्वागता वर्णवृत्त का उपनाम, विशेष दे० स्वागता।

गंगोदक—आठ हों रा जभी छन्द गंगोदका जान लो चित्त-आल्हादकारी महा। आठ रगणों से बनने वाला संकृति जाति का समवृत्त छन्द।

गंड—रूपक के दस भेदों में से एक भेद वीथी के तेरह अंगों (वीथ्यंगों) में से एक। जल्दी में प्रकृत से भिन्न अर्थ से सम्बन्धित कुछ बात कह जाना 'गंग' कहलाता है। विशेष दे० वीथी।

गंडका—र ज र ज र ज ग ल से बनने वाले वर्णवृत्त वृत्तिका का एक उपनाम। विशेष दे० वृत्तिका।

गगन—गगना त्रिसकार ग गा सोहैं, तीन सगण और दो गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप जाति का समवृत्त छन्द।

गण—छन्द शास्त्र में अक्षरों या मात्राओं का समूह। वर्णगण तीन अक्षरों का और मात्रागण चार मात्राओं का होता है। वर्ण गण आठ होते हैं और मात्रागण पाँच। 'यमाताराजमानसलगा' सूत्र से वर्णगणों का नाम-स्वरूप सरलता से जाना जाता है। तदनुसार यगण (यमाता)। ऽ ऽ (लघु दीर्घ दीर्घ) होता है, इसका देवता जल, और फल आयु है और यह शुभ गण है। मगण (मातारा) ऽ ऽ ऽ होता है, इसका देवता भूमि, फल लक्ष्मी है और यह भी शुभ गण है। तगण (ताराज) ऽ ऽ। होता है, इसका देवता आकाश, फल शून्य है और यह अशुभ है। रगण (राजभा) ऽ। ऽ है, इसका देवता सूर्य, फल रोग है और यह अशुभ है। जगण (मानस) ऽ।। है, इसका देवता चन्द्र ।।, फल यश है और यह शुभ है। नगण (नसल) ।।। है, इसका देवता स्वर्ग फल सुख है और यह शुभ है। सगण (सलगा) ।।ऽ है, इसका देवता वायु, फल विदेश है और यह अशुभ है। सूत्र में लगा लघु (।), गुरु (ऽ) का द्योतक भर है।

मात्रागण चार मात्राओं के गुरु-लघु भेद से पांच ही बनते हैं—

(१) सर्वगुरु (ऽ ऽ) का नामकरण या सुरलता है, (२) आदि गुरु (ऽ।।) का नाम चरण है, इसका अन्तर्भाव वर्ण गण भगण में हो जाता है। (३) मध्य-गुरु (। ऽ ।) का नाम भूपति है, इसका अन्तर्भाव जगण में होता है। (४) अंतगुरु

(।।ऽ) का नाम कमल है, इसका अन्तर्भाव सगण में होता है, (५) सर्व-लघु (।।।।) का नाम विप्र है। ये नाम उतने प्रचलित नहीं, जितने वर्ण-गणों के नाम।

गद्गद्—नशा, हर्ष या भय से गले का स्वरभंग हो जाना या घिग्घी बँध जाना। यह एक सात्विक भाव स्वरभंग का अन्य नाम है। विशेष दे० स्वरभंग, सात्विक भाव।

गद्य—लय और छन्दों के बन्धन से मुक्त सीधी शैली में लिखी जाने वाली बोलचाल की भाषा। पहले इसे कवि-कर्म की कसौटी माना जाता था— गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'। आज इसने पद्य को भी अपदस्थ कर दिया है और उपन्यास, कहानी, निबन्ध, इतिहास, नाटक (अधिकांश) आदि में सर्वत्र अपना अधिकार जमा लिया है। याद करने में पद्य के सुविधापूर्ण होने के कारण विद्या कंठ द्रव्य गंठ की उक्ति के अनुसार अधिकांश साहित्य पहले पद्य में लिखा जाता था। अब प्रकाशन आदि की सुविधा से गद्य का प्रचार बढ़ रहा है। संस्कृत शास्त्रकारों ने गद्य (उनका अभिप्राय गद्य काव्य से था) के चार भेद बताए हैं—(१) समास रहित मुक्तक, (२) पद्यांशों वाली वृत्तगन्धि; (३) लम्बे समासों वाली 'उत्कलिकाप्राय' और (४) छोटे समासों वाली 'चूर्णक'।

डा० सूर्यकान्त के मत से ताल गद्य में भी होता है, पर उस में पद्य की भांति आवृत्ति नहीं होती और आत्मिक-वृत्ति, रूप, शब्द-विन्यास और शैली के नाते दोनों में भेद होता है। कुछ विद्वानों के मत से गद्य साधारण अभिव्यक्ति है, जब कि पद्य चमत्कार और विच्छित्तिपूर्ण असाधारण अभिव्यक्ति है। कुछ लोग पद्य (कविता) में विशेष सौन्दर्य देखते हैं। अन्य लोग दोनों लक्ष्यों के सहारे चल गद्य को उपयोगी कला में गिनते हैं और पद्य (कविता) को उपयोगी के अतिरिक्त दूसरे लक्ष्य वाली भी मानते हैं। यह गद्य-पद्य की खींचतान बहुत दिनों तक चलती रही। शब्दों को लेकर वर्ड्सवर्थ ने कहा था कि पद्य में भी गद्य वाले शब्द ही प्रयुक्त होने चाहिए, पर दुनिया जानती है कि वह अपने सिद्धान्तों का कितना पालन कर सका था। तो जहां भाव-प्रधान कवियों ने पद्य को गद्य की ओर खींचा, वहाँ गद्य के पृष्ठपोषकों ने भी उस में कविता के तत्व मिला उसे पद्य की ओर अग्रसर किया। इन लोगों के प्रयत्नों के फलस्वरूप जहाँ पद्य से अस्वाभाविक तत्व उठ गए, वहाँ गद्य में भी बहुत-कुछ माधुर्य का समावेश हुआ। परन्तु आज तक दोनों का अन्तर बना है और बना ही रहेगा।

गद्य-गीत—वह गद्य जिस में कविता के कुछ तत्व निहित रहते हैं। शब्दों का चुनाव कुछ भावुकतापूर्ण तथा लय-पूर्ण-सा होता है। इसकी भाषा ध्वनि, नाप और कल्पना से पूर्ण होती है। राय कृष्ण दास की 'साधना' अच्छे गद्य-गीतों का संग्रह है।

गर्भ—नाटक की तीसरी सन्धि। यह कार्य अर्थप्रकृति (दे० यथा०) की तीसरी अवस्था प्राप्त्याशा के लगभग समानान्तर चलने वाला नाटक की वस्तु का तीसरा विभाग है। फल को अपने भीतर रखने या समेटने के कारण इसे गर्भ कहते हैं। मुख सन्धि में शुरू हुए और प्रतिमुख में कुछ प्रौढ़ हुए फल प्रधान उपाय का इसमें ह्रास और अन्वेषण संयुक्त बार-बार विकास होता है।

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किंचन,
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः।

—साहित्यदर्पण

दर्पणकार इसके निम्न तेरह अंग बताते हैं। पहला अंग कपटभरे वचनों वाला 'अभूताहरण' है, दूसरा यथार्थ बात कहना 'मार्ग' है, तीसरा विशेष तर्कयुक्त बात कहना 'रूप' है, चौथा उत्कर्ष युक्त बात कहना 'उदाहरण' है, पांचवाँ किसी के निर्वि-कार हृदय के प्रथम विकार रूपी भाव का यथार्थ ज्ञान 'क्रम' है, छठा सामदान से युक्त अर्थ 'संग्रह' है, सातवाँ किसी कारण कुछ ऊहा करना 'अनुमान' है, आठवाँ रति, हर्ष, उत्सव आदि के लिए की गई 'प्रार्थना' है, नवाँ रहस्य का खुलना 'क्षिप्ति' है, दसवाँ अधीरतापूर्वक बात करना 'त्रोटक' (तोटक) है, ग्यारहवाँ छल से किसी बात का अनुसन्धान 'अधिबल' है, बारहवाँ राजा आदि से उत्पन्न भय 'उद्वेग' है और तेरहवाँ शंका, भय, त्रास आदि से उत्पन्न घबराहट 'विद्रव' है। (विशेष दे० संधि, अर्थप्रकृति, वस्तु, नाटक)।

गर्भांक—**अंकोदरप्रविष्ठो रंगद्वारामुखादिमान्।**
अंकोऽपरःसटगर्भांकः सबीजः फलवानपि।

—साहित्यदर्पण

रंगद्वार, आमुख आदि अंगों वाला बीज और फल का आभास देने वाला नाटक के अंक के बीच में आने वाला छोटा अंक। (दे अर्थोपक्षेपक)

गर्भितत्व—पूरा वाक्य दूसरे वाक्य में घुस जाने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०) जैसे, प्रियतम के चरणों पर गिर पड़ने पर मैं सच कहता हूँ क्रोध उचित नहीं, यहाँ 'मैं सच कहता हूँ' यह वाक्य बीच में घुसेड़ा गया है।

गर्व(१)—**गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः।**
अवज्ञासविलासांग दर्शनाविनयादिकृत्।

—साहित्यदर्पण

प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या और कलीनता आदि कारणों से उत्पन्न अभिमान। इसमें दूसरों की अवहेलना या अँगूठा दिखाना आदि अविनय होते हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

भुजबल भूमि भूप बिनु कीनी।
विपुल बार महि देवन्ह दीनी ॥

गर्व(२)—नाटक में रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले तेतीस नाट्यालंकारों में एक नाट्यालंकार विशेष। दे० नाट्यालंकार।

गर्हण—नाटक में रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले साधनों (३६ नाटक लक्षणों का एक भेद। दोषोद्घाटन के समय की भर्त्सना को गर्हण कहते हैं। विशेष दे० नाटक लक्षण।

गाम्भीर्य—भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता।

—साहित्यदर्पण

भय, शोक, क्रोध, हर्ष आदि की स्थिति में भी अविकार रहना, ऐसी स्थिति में भी आकार में अन्तर न आना। यह नायक का एक सात्विक गुण है। (दे० सात्विक-गुण)।

गाथा—संस्कृत मात्रिक छन्द आर्या का अन्य नाम। विशेष दे० आर्या।

गायत्री—वर्णिक छन्दों के छः अक्षर वाली जति। विशेष दे० वृत्त जाति।

गाहा—संस्कृत मात्रिक छन्द आर्या का अन्य नाम। विशेप दे० आर्या।

ग्राम्यत्व—असंस्कृत या गँवारू भाषा के प्रयोग से उत्पन्न काव्य दोष (दे० यथा०) जैसे, **"मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी"** यहाँ बिटिया ग्राम्य होने से खटकता है। इसी प्रकार—

करिया फरिया पहने कुरता लाल।
गुजरी गोड सुगुजरी चमकी लाल ॥

में भी ग्राम्य-दोष है। रसिक को छैला या स्त्री को लुगाई कहना भी बाबू गुलाबराय के मत से ग्राम्य-दोष है। यह पद, पदांश और अर्थ तीनों का दोष है।

ग्राम्या—ग्राम्य-नारियों की स्वाभाविक श्रुति मधुर वाक्यावली के कारण पड़ा हुआ कोमला वृत्ति का अन्य नाम। विशेष दे० कोमला।

गीति—वैसे तो समूची कविता, पर विशेषतः छोटी सी गीति। इसमें काव्य के छन्दों की अपेक्षा लय, राग और संगीत की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है और इसे गेय बनाने की पूरी चेष्टा की जाती है। कविता का प्रारम्भ ही लोकगीतों से होता है, और समाज में गीतों का बहुत महत्त्व है। ब्रजभाषा में असंख्य मधुर गीत मिलते हैं। खड़ी बोली में प्रसाद ने अपने नाटकों में प्रयुक्त गीतों से नई परम्परा खड़ी की। पन्त और महादेवी के गीत भी अपना अलग स्थान रखते हैं। पर संगीत की आवश्यकताओं की सबसे अधिक पूर्ति निराला की गीतिका से हुई है।

गीति—आर्या के यदि पहले, दल का रूप लखे दोनों दल में, ऋषिवर पिंगल कहते, छन्द उसे हैं सु गीति कविता में, आर्या (दे० यथा०) के पूर्वार्द्ध का लक्षण (१२, १८ मात्राएँ) उत्तरार्द्ध में भी घटने पर बनने वाला विषम मात्रा छन्द।

गीतिका—(१) रत्न रवि कल धारिकै लग अन्त रचिये गीतिका, १४-१२ पर यति वाली २६ मात्राओं और अन्त में लघु गुरु से बनने वाला महाभागवत जाति का सम-मात्रा छन्द। तीसरी, दसवीं, सत्रहवी और चौबीसवीं मात्राओं के ह्रस्व होने और अन्त में रगण होने से यह अधिक रुचिर रहती है।

गीतिका—(२) स ज जा भ रा स ल गा रचो बस देख लो यह गीतिका, सगण, दो जगणों, भगण, रगण, सगण, लघु और गुरु से बनने वाला कृति जाति का समवृत्त छन्द। इसमें १२—८ पर यति होती है।

गीतिकाव्य—संगीत से अत्यधिक अनुप्राणित कविता। मुक्तक, प्रबन्ध और दृश्य काव्यों से अलग यह कविता का चौथा भेद है। आख्यानक-गीति प्रबन्धमय होते हुए भी संगीत-बहुलता के कारण गीति ही कही जाती है। शेलिंग के मत से गीति में कवि की व्यक्तिगत और अध्यांतरिक भावनाओं और आवेशों का उद्रेक अवश्य होना चाहिए। कुछ विद्वान् उसमें एक ही विचार, भावना या स्थिति का होना आवश्यक मानते हैं। प्रभाव की एकता के कारण यह अपेक्षतया कम लम्बी होती है। सारांशतः संगीत, आध्यांतरिकता, संक्षेप और एकता गीति के प्राण हैं। कुछ लोग इसे प्रगीत काव्य कहते हैं।

लोकगीतों से उदित होने वाली भारतीय गीति-परंपरा जयदेव, विद्यापति, सूर और मीरा से होकर पंत और महादेवी तक पहुँची है। चित्र-कल्पना और मानवीय-करण ने आधुनिक गीतिकाव्य में नया सौन्दर्य पैदा कर दिया है।

संगीत की लावनियों, ठुमरियों, पदों और रागों से लेकर आज तक गीति काव्य ने अनेकों परिधान पहने हैं। पत्र-गीति, व्यंग-गीति, शोक-गीति, वर्ग-भावना-गीति और अध्यांतरिक-काव्य-गीति ये पाँच मुख्य भेद हैं। (भेद दे० यथा०)।

गीति-नाट्य—संगीतपूर्ण नाटक। अंग्रेजी में इसे आपेरा कहते हैं। इसमें अभिनय और संवाद दोनों ही वाद्य के साथ चलने वाले संगीत पर लय के अनुसार गाये जाते हैं।

गुण—**रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।**

गुणाः ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः —साहित्यदर्पण

उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः —काव्यप्रकाश

रसोत्कर्ष में कारण-भूत पदार्थ। काव्य में आत्मा के समान प्राधान्य प्राप्त करने

वाले इसके ये धर्म उसी प्रकार गुण कहे जाते हैं जिस प्रकार आत्मा के शौर्य आदि धर्मों को गुण कहा जाता है। भरत आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा श्लेष, प्रसाद, समाधि, उदारता, माधुर्य, अर्थव्यक्ति, कांति, सुकुमारता, समता और ओज ये दस शब्दगुण और अर्थगुण माने गए थे (दे० यथा०), परन्तु विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों द्वारा माधुर्य, ओज, और प्रसाद (दे० यथा०) इन तीन गुणों में ही इनका अन्तर्भाव कर लिया गया है। उनके मत से पुराने श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद गुणों का अंतर्भाव ओज में, माधुर्य का माधुर्य में, और अर्थव्यक्ति का प्रसाद में या स्वभावोक्ति अलंकार में अंतर्भाव हो जाता है। ग्राम्यत्व दोष के परित्याग में कांति नामक पुराने गुण का और दुःश्रवत्व दोष के परित्याग में सुकुमारता गुण का अंतर्भाव हो जाता है। समता नामक पुराना गुण भी कहीं-कहीं मार्गाभेद स्वरूप दोष होता है, और अन्यत्र इसका अंतर्भाव नए गुणों में हो जाता है। पुराने ओज-गुण का अन्तर्भाव नए ओज-गुण में हो जाता है। इस प्रकार कई पुराने गुण दोषों के अभाव में माने जाते हैं और कई सीधे ही नए तीन गुणों (ओज, प्रसाद और माधुर्य) में समेट लिए जाते हैं। (और दे० रीति-गुणौचित्य)।

गुणकथन—विप्रलंभ शृंगार में होने वाली कामातुरों की दस चेष्टाओं (कामदशाओं) या एक भेद। विशेष दे० कामदशा।

गुणकीर्ति—नाटक में रस की पुष्टि के साधनस्वरूप अपनाए जानेवाले ३६ नाटक-लक्षणों का एक भेद। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

गुणसम्प्रदाय—रीति (पदसंघटना) का कौशल काव्यगुणों के विनिवेश पर ही निर्भर रहने के कारण रीति-संप्रदाय का ही एक नाम गुण संप्रदाय भी पड़ गया है जैसे गुणों को ही काव्य का सर्वस्व पाने वाला संप्रदाय भी गुण संप्रदाय से अभिहित होता रहा है। विशेष दे० रीति-संप्रदाय।

गुणातिपात—नाटक में रस की पुष्टि के साधन स्वरूप अपनाए जाने वाले ३६ नाटक-लक्षणों का एक भेद। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

गुणातिशय—नाटक में रस की पुष्टि के साधनस्वरूप अपनाए जाने वाले ३६ नाटक-लक्षणों का एक भेद। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

गुणीभूतव्यंग्य—मुख्य अर्थ और व्यंग्य अर्थ दोनों के होने पर भी व्यंग्य अर्थ को अप्रधानता देने वाला काव्य। यह मम्मट का मध्यम काव्य है। इसके आठ भेद हैं।

> अगूढमपरस्यांगं वाच्यसिद्ध्यंगमस्फुटम्।
> संदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।
> व्यंग्यमेवं गुणीभूतव्यंग्यस्याष्टौ भिदाःस्मृताः —काव्यप्रकाश

पहला अगूढ़ है, जैसे सूर्यबिंब उदयगिरि का चुम्बन कर रहा है, यहाँ चुम्बन का केवल संयोग में प्रयोग अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य में अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है। दूसरा 'अपरांग' या पराये अंग का उपकारक है, जैसे रात बाहर बिताकर आने वाला सूरज विरह-संकुचित कमलिनी को पाद-पतन द्वारा प्रसन्न कर रहा है, यहाँ अर्थमूला ध्वनि में नायक-नायिका का वृत्तांत सूर्य-कमलिनी के व्यापार पर आरोपित कर प्रकट किया गया है। तीसरा 'वाच्यसिद्ध्यंग है, जैसे मेघ रूपी सर्प का विष विरहिणियों को मूर्च्छा या मरण-दशा देता है, यहां विष का हालाहल व्यंग्य है, जो भुजग रूपी वाच्यार्थ की सिद्धि करता है। चौथा 'अस्फुट' है, जैसे 'आपके न देखने पर दर्शन-लालसा और देख लेने पर विरह का भय बढ़ता है, न आपके देखने से सुख मिलता है न न देखने से', यहां ऐसा करिये जो आप अदृष्ट भी न हो और वियोग का भय भी न हो। यह व्यंग्य अर्थ बड़ी कठिनाई से निकलता है। पांचवा संदिग्धप्राधान्य है, जैसे 'शिव कुछ धैर्य-रहित हो बिंबाफल जैसे अधर वाले पार्वती के मुख की ओर आंख फेरने लगे,' यहां 'चूमना चाहा' यह व्यंग्य अर्थ प्रधान है या वाच्य अर्थ आंखें फेरना ही प्रधान है, यह सन्देह है। छठा तुल्यप्राधान्य है, जैसे 'हे राक्षस-राज! ब्राह्मणों को पीड़ित करना ही आपको संपत्ति देगा और परशुराम आपके मित्र रहेंगे, अन्यथा शत्रु हो जाएंगे,' यहां परशुराम क्षत्रियों की भांति क्षण में राक्षसों को मार देंगे, यह व्यंग्य-अर्थ भी वाच्य अर्थ जितना ही प्रधान लगता है। सातवां काक्वाक्षिप्त है, जैसे 'क्या मैं सौ कौरवों को युद्ध में न मार डालूँगा, दुःशासन का खून न पीऊँगा और दुर्योधन की जंघा न तोड़ दूँगा, आपके राजा युधिष्ठिर चाहें तो पांच गांवों से सन्धि कर लें, यहां 'मार ही डालूँगा' अर्थ निषेध रूप वाच्यार्थ के साथ ही प्रकाशित हो रहा है। आठवा असुन्दर है, जैसे वेत के कुंज में पक्षियों का कोलाहल सुन घर के काम में फँसी बहू के अंग व्याकुल हो उठे, यहां नायक के संकेत स्थल प्रवेश वाले व्यंग्यार्थ की अपेक्षा काम में फँसी बहू के अंग व्याकुल होना यह वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक है। अलंकार और ध्वनि से मिश्रित हो गुणीभूत व्यंग्य के अनेक भेद हो जाते हैं।

गुणौचित्य – भरत तथा दण्डी के दस काव्य-गुण पीछे से भामह आदि आचार्यों द्वारा माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों में ही समेट लिये गये। आनन्दवर्धन गुण को धर्म तथा रस को धर्मी मानते हैं। कविराज विश्वनाथ भी गुणों को रस का पोषक अंगी धर्म बतलाते हैं। ये तीनों गुण सभी रसों की पुष्टि एकदम नहीं करते, न तो माधुर्य वीर-भयानककी पुष्टि कर सकताहै और न ओज शृंगार, वात्सल्य और शान्त की। फलतः शब्दयोजना का गुण तथा रस के साथ सामजस्य और सामरस्य करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। शृङ्गार, वात्सल्य, करुण आदि सुकुमार रसों के लिए

कोमल सानुनासिक सुकुमार वर्ण तथा कठोर रसों के लिए परुष तथा संयुक्त वर्णों का प्रयोग वांछनीय है, क्योंकि वर्णों की अपनी एक विशिष्ट शक्ति होती है।

अर्थ तथा रस का ध्यान रखते हुए ही गुणों का सन्निवेश करना चाहिए। वीर रस-पूर्ण उक्तियों में ओज-गुण का प्रयोग तथा शृङ्गार की अभिव्यंजना के लिए माधुर्य गुण का सन्निवेश गुणौचित्य का साधक होता है। सामान्यत: अधिकांश स्थलों पर प्रसाद-गुण का प्रयोग प्रस्तुत रस के अनुकूल ही रहता है।

गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक—अलंकारों का एक वर्ग। विशेष दे० अलंकार।

गूढ़ोक्ति—एक अर्थालंकार जिसमें दूसरे से सम्बोधित कर कोई बात सम्बन्धित को सुनाई जाती है। जैसे—

एरे रस लोभी भ्रमर सब दिन कियो विलास।
साँझ होत तजि कमल को अब करु अनत निवास।।—साहित्य-पारिजात

गूढ़ोत्तर—एक अर्थालंकार, जिसमें साभिप्राय सम्भव उत्तर दिया जाता है, जैसे—

घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमालवर मिलत मालती कुंज।। (बिहारी)

यहाँ स्वयं दूतीत्व है।

गेय पद—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले दस लास्यांगों का एक भेद। विशेष दे० लास्यांग।

गोपाल—तिथि कल रच जगणान्त गुपाल, १५ मात्राओं और अन्त में जगण से बनने वाला तैथिक जाति का सम मात्रा छन्द।

गोत्रस्खलन—अचानक नायक के मुख से नायिका के सामने अन्य नायिका का नाम निकल जाना। यह ईर्ष्यामान का जनक होता है। विशेष दे० ईर्ष्यामान।

गोष्ठी—**प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता।**
नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी।
हीना गर्भविमर्शाभ्यां पंचषड्योषिदन्विता।
कामशृंगारसंयुक्ता स्यादेकांकविनिर्मिता।—साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। वह एकांकी नौ-दस प्राकृत पुरुषों से युक्त, उदात्त वचन-रहित, कैशिकी वृत्ति, काम शृङ्गार (दे० वीथी) और ५-६ स्त्रियों वाला होता है। इसमें गर्भ और विमर्श (दे० यथा०) सन्धियां नहीं होती। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण रैवत-मदनिका बताते हैं।

गौड़ी—**ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडंबरः पुनः।**
समासबहुला गौड़ी ।। —साहित्यदर्पण

ओज प्रकाशित करने वाले कठिन वर्णों से बनी और शब्दाडम्बर, विपुल और दीर्घ समास और महाप्राण अक्षरों वाली, और अनुप्रास, यमक से युक्त रचना-शैली या रीति। कभी यह गौड़ देश वाली पण्डितों की प्रिय शैली रही होगी। वैसे वीर-भयानक आदि रसों में इसका प्रयोग सर्वग्राह्य रहा है।

गौणी—लक्षणा नामक शब्द-शक्ति के दो प्रमुख भेदों में से एक भेद। विशेष दे० लक्षणा।

ग्रंथ- सारिणी—इसके दो अर्थ हैं—(१) पुस्तकों का ऐसा अध्ययन जिसमें उनके मुख्य विषय, उद्देश्य, जिल्द, कागज, प्रकार, संस्करण, अशुद्धियाँ और मुख-पत्र आदि के विवरण पर विशेष ध्यान दिया जाये। (२) पुस्तकों की ऐसी सूची, जिसमें किसी पुस्तक के विषय या विषयों पर प्राप्त सामग्री का आगे अध्ययन या निर्देश की सुविधा के लिए उल्लेख किया गया हो। इसे अनुक्रमणिका भी कहते हैं।

ग्रंथी—१६ मात्राओं और प्रायः ६ और १० के क्रम से यति वाला सम-मात्रा छन्द।

ग्रथन—शिल्पक नामक उपरूपक के २७ अंगों में से एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

ग्लानि—रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसंभवः।

ग्लानिर्निष्प्राण कम्पकार्यानुत्साहितादिकृत्। —साहित्यदर्पण

रति, श्रम, मनस्ताप, भूख-प्यास आदि से उत्पन्न निष्प्राणता। इसमें कंप और काम में अनुत्साह आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

गोरी का गुलाम मैं बना था हत चेत था,
आर्यता गंवा के मैं सदेह प्रेतवत् था।—आर्यावर्त

घ

घटनौचित्य—आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथानकों के पारस्परिक सम्बन्ध का यदि यथोचित निर्वाह न किया जाए तो प्रबन्ध-कौशल प्रबन्ध-कौशल नहीं कहा जा सकता। दोनों का पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। प्रासंगिक वस्तु आधिकारिक वस्तु के प्रतिकूल अथवा उसके प्रति अनुचित तो कभी न होनी चाहिए। शेक्सपीयर के नाट्य-कौशल का यह भी एक विशिष्ट अंग है कि उसके अवान्तर कथानक आधिकारिक वस्तु की पुष्टि करते हैं तथा इस प्रकार उसे और भी व्यापक तथा प्रभावपूर्ण बनाते हैं। किंग लियर इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अरस्तू ने घटनैक्य पर बहुत बल दिया है, तथा यह तभी सम्भव है जब कि प्रासंगिक वस्तु आधिकारिक से पूर्ण औचित्य रखे। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है तथा भरत से लेकर धनंजय तक सभी ने इसकी उपादेयता बताई है। भारतीय नाटकों का सन्धि-विधान भी बहुत कुछ इसी औचित्य की सिद्धि में सहायक होता है।

घनाक्षरी—सोलह-पन्द्रह अक्षरों पर यति हो जहाँ, बनती इकतीस अक्षरों से घनाक्षरी। ३१ अक्षरों के चार तुकान्त पादों से बनने वाला मुक्तक वर्ण दण्डक छन्द। इसमें १६-१५ अक्षरों पर यति होती है, और अन्तिम अक्षर गुरु वांछनीय होता है। गण-व्यवस्था नहीं होती। यह हिन्दी का अत्यन्त लोकप्रिय छन्द रहा है। इसे कवित्त और मनहरण भी कहते हैं।

घृणा—वीभत्स रस के स्थायी भाव जुगुप्सा का अन्य नाम। विशेष दे० जुगुप्सा।

च

चंचरी—चंचरी र स जा ज भा र कवीन्द्र वृन्द सदा कहैं, रगण, सगण, दो जगणों, भगण और रगण से बनने वाला धृति जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ८-१० पर यति होती है। इसे चचेरी तथा विबुध-प्रिया भी कहते हैं।

चंचरीक—४६ मात्राओं का एक मात्रा दंडक छन्द। इसे हरिप्रिया भी कहते हैं। विशेष दे० हरिप्रिया।

चंचला—रा ज रा ज रा ल देख चंचला सदा सुहात, रगण, जगण, रगण, जगण, रगण और लघु से बनने वाला अष्टि जाति का समवृत्त छन्द।

चण्ड वृष्टि प्रपात—नगण युगल और रा सात हों चण्डवृष्टिप्रपाता बने शोभनादण्ड का, दो नगणों और सात रगणों से बनने वाला साधारण वर्णदण्डक छन्द।

चण्डिका—तेरह मात्रा चण्डिका, अन्त रगण वसु मण्डिका; तेरह मात्राओं के अन्त में रगण और आठवीं मात्रा पर यति होने से बनने वाला भागवत जाति का सममात्रा छन्द।

चण्डी—न न स स ग करत हे नर! चण्डी, दो नगणों, दो सगणों और गुरु से बनने वाला अतिजगती जाति का समवृत्त छन्द।

चन्द्रकला—दुर्मिल नामक ८ सगण वाले सवैया का अन्य नाम। विशेष दे० दुर्मिल।

चन्द्रमणि—तेरह मात्राओं वाले छन्द उल्लाला का अन्य नाम। विशेष दे० उल्लाला।

चम्पकमाला—चम्पकमाला में भ म सा गा, प्रत्येक पाद में भगण, मगण, सगण और गुरु (ऽ।।ऽऽऽ।।ऽऽ) वाला पंक्ति जाति का समवृत्त छन्द। इसे रुक्मवती भी कहते हैं।

चंपू—गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। —साहित्यदर्पण

गद्य और पद्य दोनों वाला काव्य। संस्कृत में देशराजचरित इसका उदाहरण है।

चकित—प्रिय के आगे नायिका का अकारण चकित हो जाना (डरना, घबड़ाना आदि) यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसंभ्रमः।—साहित्यदर्पण

चकोर—सात भकार गला जब होत चकोर मनोहर छन्द सुहात, सात भगणों, गुरु और लघु से बनने वाला विकृति जाति का समवृत्त छन्द ।

चक्रविरति—चक्रविरति कह भ न न न ल ग से, भगण तीन नगणों, लघु और गुरु से बनने वाला शक्करी जाति का समवृत्त छन्द ।

चतुरस्र—बराबर लम्बाई-चौड़ाई वाला रंगमंच, अर्थात् जिसके चारों ओर की दूरियाँ बराबर होती हैं। विशेष दे० रंगमंच ।

चतुर्विद्या—यद्यपि आजकल चौदह विद्याओं का नाम लिया जाता है, परन्तु पहले विद्या के निम्न चार वर्ग किए गए थे—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती:

(१) आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र, न्याय-दर्शन आदि)
(२) त्रयी (ऋक् यजुः, साम तीनों मूल वेद)
(३) वार्ता (इतिहास, पुराण आदि)
(४) दण्डनीतिः (अर्थशास्त्र आदि)

चपलता—**मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः।**
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ।।—साहित्यदर्पण

मत्सर, द्वेष, राग आदि के कारण अनवस्था। इसमें धमकाना, कठोर वचन बोलना, उछृङ्खल आचरण आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

चितवति चकित चहूँ दिस सीता।
कहं गये नृप किशोर मन चीता ।।

चपला—है हंत ता भ ज ल गा चपला, तगण, भगण, जगण, लघु और गुरु के संयोग से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द ।

चपलातिशयोक्ति—कारण के देखने-सुनने से ही कार्य का हो जाना बताने वाला अतिशयोक्ति अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० अतिशयोक्ति ।

चमत्कारवाद—साहित्य को यह शायद पाकशास्त्र का ऋण है। लोचन तो सीधे ही आस्वादकर्त्ताओं के चमत्कार को नष्ट न होकर स्वादुमय होने के कारण उसे ही रस सर्वस्व मानते हैं। दूसरी ओर नारायण पण्डित भी सर्वत्र अनुभूत होने वाले रस के कारण "अद्भुत" को ही प्रधान रस मानते हैं।

तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।

क्षेमेन्द्र भी एक चमत्कृति पद रूपा बहुमूल्य मणि के बिना काव्य सुवर्ण को निष्प्रभ मानते हैं। रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को तो काव्य माना ही जाता रहा है।

रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।

पर इस चमत्कार के विषय में यह समझ लेना चाहिए कि यह संकीर्ण अर्थ में शब्द-चमत्कार रहता है और व्यापक अर्थ में अर्थ-चमत्कार। वस्तुतः विद्वान सहृदयों के लिए अर्थ-चमत्कार ही अधिक ग्राह्य होता है। शायद १८वीं सदी में उद्भूत काव्यालोककार गंगेशपुत्र हरिप्रसाद को भी काव्य की आत्मा चमत्कृति बताते समय यह पिछला चमत्कार (अर्थचमत्कार) ही अभिप्रेत था। वे कहते हैं—

विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम्॥

और शायद यह उक्ति ही चमत्कारवाद की गीता है।

चमत्कृति—शिल्पक नामक उपरूपक के २७ अंगों में से एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

चरण—छन्दों की पंक्ति को चरण या पाद कहते हैं। विशेष दे० गण, पाद।

चरित्र—कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य आदि में एक व्यक्ति। अपनी कहानी को स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए व्यक्तियों को सजीव बनाना कलाकार के लिए आवश्यक हो जाता है। (दे० चरित्र-चित्रण)

चरित्र-चित्रण—नाटक, उपन्यास, कहानी, काव्य आदि में आये हुए पात्रों को स्वाभाविकता प्रदान करना, चरित्रों को सजीव बनाना। यह इन सबका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वस्तु के बाद ही इसका नाम लिया जाता है और कुछ लोग तो चरित्र को ही प्रधानता देते हैं। लेखक निबन्धों या प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) में तो स्वयं सब-कुछ कहता है। इतिहास और जीवन-चरित्र में अपने को पृष्ठभूमि में रख वह वास्तविक चरित्रों का उद्घाटन करता है। जब उपन्यास कहानी, नाटक आदि में ये चरित्र बिलकुल काल्पनिक हो जाते हैं, तो उसे अपनी कला के सम्यक् परिपाक का उचित अवसर मिलता है। साहित्य की कला में शायद कलाकार का यही सर्वोत्तम लक्ष्य होता है।

उसे इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए थोड़े-से साधन अपनाने पड़ते हैं। पात्र स्वयं अपनी क्रिया और बातचीत से अपने चरित्र का उद्घाटन करता है और यही शायद इसका सर्वोत्तम प्रकार है। दूसरे पात्रों द्वारा पात्र विशेष के बारे मे सोची गई बातों से भी चरित्र का उद्घाटन होता है। पर सब से निकृष्ट प्रकार स्वयं कलाकार द्वारा पात्र विशेष के ऊपर टीका-टिप्पणी करते हुए उस का चरित्र चित्रण करना है। नाटक में तो कलाकार स्वयं उपस्थित नहीं रहता और इस अधम रीति को अपना नहीं पाता।

चरित्र दो प्रकार के होते हैं—संमिश्र (राउंड, कम्प्लैक्स) और सीधे-सादे (फ्लैट)। पहले प्रकार के पात्रों में पूरे विवरण रहते हैं और वे कलाकार के अभीष्ट

प्रमुख पात्र ही होते हैं, दूसरे कुछ-कुछ निर्जीव-से रहते हैं और उनकी एकाध विशेषता ही स्पष्ट की जाती है। पर अब यह भेद भी लुप्त होता जा रहा है और कलाकार प्रत्येक मानव का पूर्ण चित्रण करने की ओर प्रवृत्त होते जा रहे हैं। पात्रों के विकास या उनके परिवर्तन के विषय में बहुत-कुछ कलाकृति के संक्षिप्त या दीर्घ होने पर निर्भर है। एकांकी और कहानी में इसका अवकाश कम होता है, नाटक में कुछ अधिक और उपन्यास में पूरा-पूरा। कुछ लोग चरित्रों को सब-कुछ मान उन को घटनाओं का सूत्रधार बनाते हैं। दूसरे लोग चरित्रों को घटना का ही अंग—घटना के सहारे विकसित होने वाला मानते हैं।

चर्चरी—र स ज ज भ र से बनने वाले समवृत्त चंचरी का अन्य नाम। विशेष दे० चंचरी।

चवपैया—१०, ८, १२ पर यति वाली ३० मात्राओं और अन्त में गुरु से बनने वाला महातैथिक जाति का सम-मात्रा-छन्द। (जैसे—हर्षित महतारी, मुनि-मन हारी, अद्भुत रूप निहारी)।

चान्द्र—एक मात्रा वाली मात्राजाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

चान्द्रायण—२१ मात्राओं से बनने वाला त्रिलोक जाति का सम-मात्रा छन्द (जैसे खल गण नाशन हरि हर ! दया कीजिए), इसमें कुछ विद्वान् ११ मात्राएं जगणान्त और शेष १० रगणान्त होना (जैसा उपर्युक्त उदाहरण में है) आवश्यक मानते हैं, दूसरे विद्वान् यह आवश्यक नहीं मानते।

चापल्य—चपलता नामक संचारी भाव का अन्य नाम। विशेष दे० चपलता, संचारी भाव।

चामर—रा ज रा ज रेफ से बने सुचारु चामरम्, रगण, जगण, रगण, जगण और रगण से बनने वाला अतिशक्वरी जाति का समवृत्त छन्द।

चारण-काव्य—चारणों या भाटों द्वारा लिखे गये राजाओं के कीर्ति काव्य। कुछ विद्वान् हिन्दी-साहित्य के आदि युग वीरगाथा काल को ही चारण युग भी कहते हैं। विशेष दे० रासो।

चिन्ता (१)—कामातुरों की पूर्वराग की दस चेष्टाओं (कामदशाओं) में से एक। विशेष दे० कामदशा।

चिन्ता (२)—**ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः**
शून्यताश्वासतापकृत् ।—साहित्यदर्पण

हित की अप्राप्ति से उत्पन्न ध्यान। इस में शून्यता, ताप और उच्छ्वास आदि क्रियाएं होती हैं। यह एक संचारी भाव है, देखिये—

भरत कि भूंजब राज्य पुर, नृप कि जियहिं बिनु राम।

चित्रकाव्य—चमत्कार को ही प्रधानता देने वाला काव्य। यह मम्मट का अधम काव्य है। शब्द के चमत्कार के पीछे पड़ने वाला शब्द-चित्र और अर्थ के चमत्कार के पीछे पड़ने वाला अर्थ चित्र का उदाहरण होगा। इनमें स्पष्ट ही शब्द-चित्र अत्यधम है। अलंकार भले ही कविता के आभूषण हों, पर उनका अत्यधिक प्रयोग कविता को बोझिल बना देता है। चित्रालंकार भी शब्दगत एक अलंकार है, जिसमें अक्षर-विन्यास ऐसा होता है कि उनके द्वारा खड्गबन्ध, मुरजबन्ध, पद्मबन्ध, चक्रबन्ध, गौमूत्रिका बन्ध, और सर्वतोभद्र आदि अनेक बन्ध बन जाते हैं। कुछ आचार्यों के मत से रस-विरोधी होने से इसे शब्दालंकार भी नहीं कह सकते। इस प्रकार के बन्ध काव्य को लेकर, जिसका लक्ष्य शब्द-चमत्कार से भी निम्न श्रेणी का है, सौभाग्य से हिन्दी-साहित्य में विशेष प्रयोग नहीं हुए। भूषण ने कामधेनु बन्ध का एक सवैया शिवराजभूषण में लिखा है।

चित्रज्ञ—नाटक में परदे आदि को चित्रित करने वाला।

चित्रभाषावाद—प्र ति के भावाभिव्यंजक उपादानों के सहारे लाक्षणिक चित्र खींचने वाली शैली—प्रतीकवाद—का अन्य नाम। विशेष दे० प्रतीकवाद।

चित्रालंकार—**पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।**—साहित्यदर्पण

अक्षरों के विचित्र विन्यास के सहारे पद्मबन्ध आदि काव्यबन्ध बनाने में सहायता देने वाला शब्दालंकार। विशेष दे० चित्रकाव्य।

चित्रोत्तर—एक शब्दालंकार, जिसमें प्रश्न ही उत्तर भी होता है, जैसे—

सरद चन्द्र की चाँदनी को कहिए प्रतिकूल ?

सरद चन्द्र की चाँदनी कोक हिए प्रतिकूल।—मतिराम

चूर्णक—छोटे समासों वाली गद्य को प्राचीन आचार्य चूर्णक कहते थे। विशेष दे० गद्य।

चूलिका—नाटक में यवनिका के भीतर से पात्रों द्वारा दी गई संसूच्य वस्तु की सूचना। यह एक अर्थोपक्षेपक है। विशेष दे० अर्थोपक्षेपक।

चेट—वैसे तो चेट दास का ही पर्यायवाची है, परन्तु यह एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। शृंगार-सहायक दासों को चेट कहते हैं। यह अधम प्रकार का शृंगार सहायक माना गया है। (दे० शृंगार सहायक)

चौकल—चार-चार मात्राओं का एक साथ पड़ना।

चौपई—गुरु लघु अंत पंच दस मत्त, चौपई नाम जयकरी सत्त, १५ मात्राओं तथा अंत में गुरु और लघु से बनने वाला तैथिक जाति का सम-मात्रा छन्द। इसे जयकरी भी कहते हैं।

चौपाई—सोलह कल ज त नहिं चौपाई, सोलह मात्राओं और जगण या

तगण के अंत में न आने से बनने वाला संस्कारी जाति का सम मात्रा छन्द। समें सम मात्रा (२ या ४ मात्राओं का समूह) के अनन्तर विषम मात्रा (१ या ३ मात्राओं का समूह) नहीं आना चाहिए। इसके चार चरणों में दूसरे चौथे सतुक होते हैं।

चौबोला—हंसी नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष। दे० हंसी।

च्युतसंस्कारत्व—व्याकरण की दृष्टि से किसी शब्द-प्रयोग में भूल कर देने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०), (विशेष दे० च्युतिसंस्कृति)।

च्युतसंस्कृति—व्याकरण की अशुद्धि से होने वाला काव्य-दोष। अशुद्धि रचना संस्कृति से गिरी मानी जाती है। जैसे, मर्म वचन जब सीता बोला। बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।" "आह कौन है पंचम स्वर में कोकिल बोला।" आदि।

छन्द्—अक्षर, मात्रा और विराम के विशेष नियम वाली रचना । नियत अक्षर और मात्राओं द्वारा व्यक्त होने वाली छन्दोमय रचना ही पद्य कही जाती है ।

छन्द्-औचित्य—विषय के अनुरूप छन्द-चयन के औचित्य-अनौचित्य का विवेक करना । विशेष दे० वृत्तौचित्य ।

छन्द्शास्त्र—छन्दों की परम्परा, भेद, जाति, लक्षण और स्वरूप आदि की विवेचना करने वाला शास्त्र । यजुर्वेद में परमात्मा को कवि कहा गया है, और अथर्ववेद में वेदों को काव्य कहा गया है । क्रमशः "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" और "देवस्य पश्य काव्यम् न ममार न जीर्यति" । इसके सिवा "छन्दः पादौ तु वेदस्य" द्वारा छन्दों को वेदों के चरण और एक वेदांग माना गया है। सामवेद में छन्दों का विशेष निरूपण है और इससे भी अधिक विस्तृत निरूपण यास्क के निरुक्त में है । मुण्डक में तो वेदादि के साथ छन्दों को अपरा विद्या में गिना गया है । पर पिंगलछन्दः सूत्र ही पहली सर्वतः पूर्ण रचना है और पिंगल के नाम से ही छन्दशास्त्र को पिंगलशास्त्र भी कहते हैं । यहीं से छन्दों का सम्यक् विवेचन आरम्भ होता है । सस्कृत में केदार भट्ट का वृत्त रत्नाकर, कालिदास का श्रुतबोध और गंगादास का छन्दोमंजरी तीन प्रसिद्ध ग्रंथ हैं । इन लोगों ने उसी छन्द में उसका लक्षण लिखकर एक लोकप्रिय शैली चला दी, जिसका हिन्दी में जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने अपने छन्द प्रभाकर में सफल अनुकरण किया । हिन्दी में भी संस्कृत-परम्परा के अनुसार छन्दशास्त्र अच्छी तरह पल्लवित हुआ । केलाग का कथन है कि "सम्भवतः किसी भी आधुनिक भाषा में छन्दशास्त्र का हिन्दी जितना विशद विकास नहीं हुआ ।" जैकोबी द्वारा अपभ्रंश दूहा के यूनान से प्रभावित होने के मत का खण्डन तो स्वयं कीथ ने किया है और इस भारतीय छन्दशास्त्र पर विदेशी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता । वह तो बाद में मुक्तक (दे० यथा०) रचना पर पड़ा है ।

हिन्दी में छन्दशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ हैं, पर उल्लिखित छन्द प्रभाकर जितनी लोकप्रियता किसी को नहीं मिली । फिर भी मतिराम का छंदसार-पिंगल, पद्माकर भट्ट की छन्दसारमंजरी, सुखदेव मिश्र का वृत्तविचार, भिखारीदास का छन्दार्णव, कलानिधि को वृत्तचन्द्रिका और नये युग में अवध उपाध्याय का नवीन पिंगल, रामनरेश त्रिपाठी

की पद्यरचना, रामेश्वरानन्द की छन्द शिक्षा और परमानन्द शास्त्री की पिंगलपीयूष आदि उल्लेखनीय हैं।

छप्पय—चार पाद रोला (दे० यथा०) के दो पाद उल्लाला (१५+१३=२८ या १३+१३=२६ मात्रा वाले) के रखने से बनने वाला विषम मात्रा छन्द।

छल—वीथी नामक रूपक भेद के तेरह अंगों में से एक अंग। विशेष दे० वीथी।

छवि—वसु कल करंत, छवि जगण अन्त; आठ मात्राओं और अन्त में जगण से बनने वाला वासव जाति का सम-मात्रा छन्द।

छादन—नाटक की चौथी सन्धि विमर्श के तेरह अंगों में से एक। विशेष दे० विमर्श।

छायावाद—प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का निरूपण करनेवाली काव्यधारा। द्विवेदी-युग की गद्यात्मक इतिवृत्तात्मकता और भौतिकता की प्रतिक्रिया में हिन्दी-साहित्य में उत्पन्न हुई भावुकता और कल्पना-कौशल से ओतप्रोत काव्यधारा। यह जैसा कुछ लोग कहते हैं न तो विलायती चीज़ों का मुरब्बा है और न कृत्रिम व्यंजना की उछल-कूद। इसमें बाह्य को छोड़ अन्तःप्रवृत्तियों की ओर विशेष रुझान है, इस लोक से परे 'उस पार' की ओर विशेष आकर्षण है (शान्ति सुख है उस पार—पन्त), और इस हलकी रहस्यानुभूति के साथ ही प्रकृति के प्रति विशेष दृष्टिकोण है। जन्म-जन्म देखकर भी न थकने वाली सौंदर्यानुभूति (जनम अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल—विद्यापति) सृष्टि की नश्वरता (कहाँ नश्वर जगती में शांति, सृष्टि का ही तात्पर्य अशाति—पन्त) और आस्तिकता से वह प्रभावित है। छायावादी कवि सुख-दुख दोनों को चाहता है। (सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन—पन्त) और उसके लिए—"बिना दुख के सब सुख निस्सार, बिना आँसू के जीवन भार" है। उसके लिए—"अलभ है इष्ट अतः अनमोल, साधना ही जीवन का मोल।" वह जीवन में तृप्ति का कण न चाहकर चाहता है—रहने दो प्यासी आँखें भरतीं सरिता के सागर—महादेवी। वह विश्व भर का भला चाहता है। उसके लिए—"न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर, देवता यही मानव शोभन" है।

छायावाद की सौंदर्यानुभूति में आत्मा का विमल प्रकाश है। रीतिकालीन कुत्सामय और कलुषित प्रेम के स्थान पर इसने विशुद्ध स्वच्छ प्रेम की धारा बहाई है—"प्यार के नव प्रकाश की धार, नहाकर जिसमें मेरे प्राण—निखर जाएँ हो विगत विकार, वासना का काला संसार"—द्विज। इसमें द्विवेदी-युग के पार्थिव सौंदर्य का उपदेशात्मक वाणी के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण शृंगारिकता खूब है, पर वेदना के

आध्यात्मिक सौन्दर्य के कारण इसका रूप वियोगजन्य ही अधिक है। महादेवी ने—"स्वजन ही समझा दृगों के अश्रु को पानी न माना", क्योंकि वे जन्म के साथी और प्यारे हैं। प्रिय के व्यापार से सृष्ट पीड़ा या वेदना के मूल में नैराश्य की अक्षुण्ण धारा भी प्रवहमान है। महादेवी कहती हैं कि किसी ने 'हँसकर पीड़ा से भर दी छोटी जीवन की प्याली, और पन्त आशा-निराशा के थपेड़ों में पड़ बिजली-सी याद में अधीर हो कहते हैं—जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण खोजते हैं, तब तुम्हें निदान। बच्चन निराशा में पूछ उठते हैं—"मुझसे मिलने को कौन विकल, मैं होऊँ किसके हित चंचल ?" और भगवतोचरण वर्मा प्रिय से मुक्त हृदय होने का आग्रह करते हैं। उधर निराला का हृदय निराशा में चीत्कार उठता है—"तुम्हें कहूँ मैं कहो प्रेममय, अथवा दुख के देव सदा ही निर्दय"।

महादेवी कहती हैं कि कृत्रिम बन्धन तितलियों के पीछे दौड़ने वाले और चिड़ियों के साथ गाने वाले हमारे बचपन के प्रकृति-प्रेम को जकड़ देते हैं। 'प्रकृति की ओर लौटो' आन्दोलन के साथ छायावादी कवि प्रकृति को आश्चर्य-भावना के साथ देखता है। न केवल उसके कविता-सं ह पल्लव, नीहार और परिमल नाम पाते हैं, बल्कि यह प्रकृति के इन नाना उपादानों को आलम्बन रूप में लेकर चलता है। उसको जुही की कली किसी नायिका के उपमान या किसी रस के उद्दीपन में नहीं दिखाई देती, बल्कि स्वयं प्रिय को सकेत करती हुई नायिका ही दिखाई देती है। सलिल की लोल हिलोर से वह अपने शरीर को झकोरवाना चाहता है, नीलाकाश को ओस के आँसू डालते देखता है और अपने हृदय को सन्ध्या की अलकों में उलझा पाता है। कभी-कभी प्रकृति में अन्तःवृत्तियों का प्रसार न देख उनका ठेठ चित्र भी खींचता है।—'कनक से दिन मोती-सी रात, सुनहली सांझ गुलाबी प्रात" (महादेवी)। पर हृदय का मधुर संयोग सर्वत्र रहता है।

महादेवी के कथनानुसार छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिंब-प्रतिबिंब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट-कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही कारण है, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष कोमल कलियां और कठोर शिलाएं, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत्-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चंचलता-निश्चंचलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिंब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं। महादेवी के मत से छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच में

जीवन का उद्गीथ है। प्रकृति से मानव-भावनाओं के तादात्म्य का यह वर्णन करती हुई महादेवी इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुद्धिवादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेषकर उस कविता के सामने जो व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की सजा पाती आ रही है। उनके विचार से यह भावधारा मूलतः नवीन नहीं है, क्योंकि इसका कहीं प्रकट और कहीं छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमान्त रेखा तक पाते हैं। उनके शब्दों में स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परंपरागत नियम-शृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बंधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूप-रेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।

छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था, अतः स्थूल को उसी रूप से स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ। छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा, यह निर्विवाद है। छायावाद ने कोई रूढिगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रंग चढ़ाए यथार्थ का चित्र दे, परन्तु महादेवी के विचार से इस यथार्थ का कला में स्थान नहीं, क्योंकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता। उनके विचार से छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्यलोक में ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं।

वैराग्य या करुणा या दुःखवाद भी छायावाद का एक प्रमुख तत्व है। छाया-युग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है। अतः व्यापक करुणभाव और व्यक्तिगत विषाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। छायावादी काव्य स्वानुभूतिप्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सकता है। परन्तु मार्मिक होने पर भी वे अभिव्यक्तियाँ महादेवी के विचार से सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित हैं कि उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया है।

कल्पना और भावों की अनूठी उड़ान छायावाद का उज्ज्वल पहलू है, जो आज तक अन्यत्र देखने को नहीं मिला। 'गुलालों से रवि का पथ लीप, जला पश्चिम से सन्ध्या दीप। विहंसती सन्ध्या भरी सुहाग, दृगों से झरता स्वर्ण-पराग' – महादेवी। धरता आसमान के बीच समुद्र की रुपहली सीप में तरल मती है जैसी अन्य कल्पनाएँ ऐसी ही कोमल और उपयुक्त हैं। पर जब पन्त अपनी छाया का रूप-विधान करते-करते

बहुत आगे बढ़ विधायक कल्पना की सचेष्टता भूल जाते हैं और संतुलन खो बैठते हैं तो वह धूमिल अस्पष्टता विरोधियों की उचित आलोचना का केन्द्र बन जाती है। नये-नये अप्रस्तुतों की लम्बी सूची, लाक्षणिक प्रतीकों की मधुर-योजना, पुराने साम्यमूलक अलंकारों के साथ विशेषण-विपर्यय आदि नये अलंकारों के विधान और मुक्तक छन्दों (दे० यथा०) की कल्पना ने छायावाद के कलापक्ष में चार चांद लगा दिये हैं।

छेकापन्हुति—चतुराई से निषेधपूर्वक प्रकृत को छिपाने वाला अपहनुति अलंकार का एक भेद। विशेष दे० अपन्हुति।

छेकोक्ति—एक अर्थालंकार, जिसमें लोकोक्ति में कोई दूसरा अथ भी गर्भित रहता है। जैसे—

> **जे सुहात सिवराज को ते कवित्त रस-मूल।**
> **जे परमेश्वर पै चढ़ै तेही आछे फूल।।** —(भूषण)

यहाँ कहावत के प्रयोग से एकमात्र शिवाजी की गुणग्राहकता व्यंग्य है।

जगण—क्रमशः लघुदीर्घ ह्रस्व (। ऽ ।) वाला वर्णसमूह । विशेष दे० गण ।

जगती—बारह अक्षरों वाली वर्णवृत्त की जाति । विशेष दे० वृत्तजाति ।

जडता—**अप्रतिपत्तिर्जड़ता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः**

अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र -- साहित्यदर्पण

इष्ट या अनिष्ट के दर्शन श्रवण से उत्पन्न किंकर्त्तव्यविमूढता । इसमें टकटकी लगाकर देखना या चुप हो जाना आदि कार्य होते हैं । यह एक संचारी भाव है । देखिए—

पूछल कोउ न उत्तर देई ।

जड़ता—कामातुर की दस चेष्टाओं में से एक । विशेष दे० कामदशा ।

जनांतिक—नाटक में प्रयुक्त किये जाने वाले संवाद का एक प्रकार विशेष दे० नाट्योक्ति ।

जयकरी—चौपाई नामक मात्रिक छन्द का अन्य नाम । विशेष दे० चौपाई ।

जलहरण—जलहरण वत्तीस अक्षरों के चार पाद, अन्त में दो लघु हों, मन में बढ़ाए सुख; बत्तीस अक्षरों के चार तुकात पादों से बनने वाला मुक्तक वर्ण दंडक छन्द । यति की १६-१६ को छोड़ और कोई विशेष व्यवस्था नहीं, पर अन्त में दो लघु होते हैं । अन्तिम वर्ण गुरु भी देखा जाता है, पर उच्चारण के समय लघु जैसा ही होता है ।

जलोद्धत गति—जलोद्धत गती कहे ज स ज सा, जगण, सगण, जगण और सगण से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द । इसमें ६–६ वर्णों पर यति होती है ।

जहत्स्वार्था—लक्षणा नामक शब्द-शक्ति का एक भेद । विशेष दे० लक्षणा ।

जाति—मात्रिक छन्द का अन्य नाम । विशेष दे० मात्रिक छन्द ।

जासूसी उपन्यास—हत्या या डाके आदि पर आश्रित कहानी वाला उपन्यास । एक जासूस द्वारा, जिसे ऐसी कोई सूचना नहीं मिली रहती जो पाठक के पास न हो, उस षड्यन्त्र को खोजने का सफल प्रयास किया जाता है । संदेह और बाल-बाल बच जाने की बात होने पर भी सच्चा जासूसी उपन्यास केवल रोमाचकारी उपन्यास मात्र नहीं

होता। इसमें आनन्द उस केन्द्रीय घटना के समाधान में निहित रहता है। जब ऐसे लोग, जिनके बारे में जरा-सा भी सन्देह न हो, उस घटना के सूत्रधार सिद्ध होते हैं, तो उसका मूल्य और भी बढ़ जाता है। ऐय्यारी के उपन्यासों में अद्भुत घटनाएँ, अद्भुत स्थल और अद्भुत कार्यकलाप रहते हैं, पर जासूसी उपन्यास में ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसका तर्कों, कारणों या विज्ञान की दृष्टि से समाधान न हो जाए।

जीवन-चरित्र—किसी व्यक्ति का पुस्तकबद्ध जीवनेतिहास। अंग्रेज़ी कवि लौंगफैलो की प्रसिद्ध उक्ति है कि "हम भी उन महान् चरित्रों के चरण-चिह्नों पर चलकर अपने जीवन को उत्कृष्ट बना सकते हैं", और यही भावना शायद उन अमर आत्माओं की जीवन-कहानी लिखे जाने का प्रधान हेतु बनी है। बाण का हर्षचरित्र भी संभवतः इसी भावना का प्रतीक था और हिंदी में हम इस परंपरा को 'गोसाईं चरित', 'तुलसी चरित' और वार्त्ताओं में विकसित होता हुआ पाते हैं। पर जहां उस समय के जीवन चरित्र महात्माओं के अतिरंजित प्रभावों और कार्यों से भरे पड़े थे, आज के जीवन-चरित्र सत्य की खोज, ईमानदारी और संतुलन को अपनाते हुए चलते हैं। वर्ण्य जीवन की प्रमुख घटनाओं पर बल देना, उनके कारणों और परिणामों की खोज करना और अप्रधान घटनाओं को छांटकर उसके जीवन का क्रमिक विकास उपस्थित करना, ये सब कला के उच्च आदर्श हैं जिस ओर आज के जीवन-चरित्र लेखक झुक रहे हैं। (और दे० आत्मकथा)।

जुगुप्सा—**दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा** —साहित्यदर्पण

दोष-दर्शन के कारण किसी (वस्तु) में उत्पन्न घृणा। यह वीभत्स रस का स्थायी भाव है।

ज्योतिःशिखा—पूर्वार्द्ध में प्रथम-द्वितीय चरण) में ३२ लघु और उत्तरार्द्ध (तृतीय-चतुर्थ चरण) मे १६ गुरु से बनने वाला विषम वृत्त छन्द। यह अनगक्रीडा (दे० यथा०) का ठीक उलटा है।

(झ)

झूलना (१)—मुनि (७), राम (३), गुनि, बान (५), युत ग ल झूलन प्रथम मतिमान; ७,७,७ और ५ पर यति वाली २६ मात्राओं और अंत में गुरु-लघु से बनने वाला महाभागवत जाति का सम मात्रा छन्द।

झूलना (२)—सैंतीस मात्रा यति दिशा (१०) दस, दिशा मुनि(७) याति रचि के द्वितिय झूलन बनावो, १०,१०,१०, और ७ पर यति वाली ३७ मात्राओं और अन्त में यगण से बनने वाला सम मात्रा दंडक। यह दूसरा झूलना है। पहला २६ मात्राओं का है।

डिम—रूपक के दस भेदों में एक भेद।

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधाद्भ्रान्तादिचेष्टितैः
उपरागैश्चभूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तिकः।
अंगी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाःपुनः
चत्वारोंऽका मता नेह विष्कंभकप्रवेशकौ।
नायिका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः
वृत्तयः कैशिकी हीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः
दीप्ताःस्युःषड्रसाः शान्तहास्यश्रृंगारवर्जिताः।

—साहित्यदर्पण

इस में इतिहास-प्रसिद्ध कथा होती है और माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, पागलों के काम और सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदि बहुत दिखाए जाते हैं। रौद्र रस प्रधान होता है, शेष अप्रधान। अंक चार होते हैं। विष्कंभक प्रवेशक नहीं होते। देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि अत्यन्त उद्धत १६ नायक होते हैं। कैशिकी छोड़ शेष वृत्तियाँ और विमर्श को छोड़ सन्धियाँ होती हैं और शान्त, हास्य और शृंगार को छोड़ शेष रस रहते हैं। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण त्रिपुर-दाह बताते हैं।

डिल्ला—डिल्ला अन्त भ मात्रा सोलह; सोलह मात्राओं और अन्त में भगण से बनने वाला संस्कारी जाति का सम मात्रा छन्द। इसमें ८-८ पर यति होती है।

(त)

तगण—दीर्घ दीर्घ ह्रस्व (ऽ ऽ ।) वाला वर्ण समूह । विशेष दे० गण ।

तद्गुण—तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें अपने गुण (विशेषतः वर्ण) का त्याग कर किसी समीपस्थ वस्तु के संसर्ग से अत्युत्कृष्ट गुण का ग्रहण बताया जाता है । जैसे—

सिय तुअ अंग रंग मिलि अधिक उदोत,
हार बेलि पहिराबो, चम्पक होत । —तुलसी ।

यहाँ सीता के देह के रंग के संसर्ग से श्वेत हार-बेली का रक्तिम चंपक वर्ण सा हो जाना बताया गया है ।

तद्रूप—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद । विशेष दे० रूपक ।

तनुमध्या—ता या तनुमध्या, प्रत्येक पाद में तगण और यगण (ऽ ऽ ।,। ऽ ऽ) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द ।

तन्मयता—कामातुरों की दश चेष्टाओं का एक भेद । विशेष दे० कामदशा ।

तपन—तपनं प्रियविच्छेदे स्मरावेगोत्थचेष्टितम् ।

प्रिय के वियोग में काम-वेग से उत्पन्न चेष्टायें । यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है । (दे० नायिकालंकार)

तमाल—उन्नीस कल यति गत है अन्त तमाल, १६ मात्राओं और अन्त में गुरु, लघु और विराम (यति) के होने से बनने वाला महापौराणिक जाति का सममात्रा छन्द ।

तरलनयन—न न न न शुभ तरलनयन, चार नगणों से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द ।

तर्क—शिल्पक नामक उपरूपक के २७ अंगों में से एक अंग । विशेष दे० शिल्पक ।

तांडव—नटराज शंकर का रौद्र नृत्य । विशेष दे० नृत्य ।

ताटंक—सोलह चौदह कल यति भाखहिं, है ताटंका मा अन्ता; १६-१४ पर यति वाली ३० मात्राओं और अन्त में मगण से बनने वाला महातैथिक जाति का सम मात्रा-छन्द ।

तात्पर्यवृत्ति—कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों के मत से पदों में उपस्थित पृथक्-पृथक् पदार्थों का अन्वय बताकर तात्पर्यार्थ बताने वाली शक्ति । अभिधा (दे० यथा०) का काम एक-एक पद का अलग-अलग अर्थ बताकर पूरा हो जाता है, तब अन्वय इसी शक्ति से जान कर उनका अर्थ लगाया जाता है। इससे बताया गया अर्थ तात्पर्यार्थ है। अभिहितान्वयवादियों के मत से इस तात्पर्याथ का बोधक वाक्य है। यह अभिधा, लक्षणा और व्यजना से अलग चौथी शक्ति मानी जानी चाहिए ।

तात्पर्याख्यं वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थञ्च वाक्यं तद्बोधकं परे । —साहित्यदर्पण

(दे० शब्द शक्ति) ।

तात्पर्यार्थ—भावार्थ । विशेष दे० तात्पर्य-वृत्ति ।

ताप (१)—शिल्पक नामक उपरूपक के २७ अंगों में से एक। विशेष दे० शिल्पक।

ताप (२)—कामातुरों की चेष्टाओं में से एक। विशेष दे० कामदशा ।

तापन—नाटक की दूसरी सन्धि प्रतिमुख के तेरह अंगों में से एक। विशेष दे० प्रतिमुख।

तारक—स स सा स ग जानत तारक छन्दा, चार सगणों और गुरु से बनने वाला अति जगती जाति का समवृत्त छन्द ।

तिरस्कार—एक अर्थालंकार जिसमें गुण रूप से प्रसिद्ध किसी पदार्थ का किसी चमत्कारपूर्ण दोष-विशेष के कारण उसके प्रति निरादर प्रकट किया जाता है।

जैसे—**सुख के माथे सिल परे, नाम हृदय ते जाय ।** —तुलसी

यहाँ हरिनाम भुला देने वाला होने के कारण सुख का तिरस्कार किया गया है।

तिलका—स स है तिलका, प्रत्येक पाद में दो सगण (।। ऽ, । । ऽ) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द ।

तीव्र—पाँच भकार मिले सगणा तब तीव्र भनत हैं। पाँच भगणों और एक सगण से बनने वाला धृति जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ८-१० पर यति होती है। इसे अश्वगति भी कहते हैं ।

तुक—अन्त में समान आवृत्ति वाले अनुप्रास का अन्य नाम। विशेष दे० अंत्यानुप्रास ।

तुल्यतर्क—नाटक में रस की पुष्टि करने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक विशेष दे० नाटक-लक्षण ।

तुल्यप्राधान्य—दे० गुणीभूत व्यंग।

तुल्ययोगिता—एक अर्थालंकार, जिस में केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत

बस्तुओं में एक धर्म (गुण या क्रिया रूप) के ही सम्बन्ध का वर्णन होता है।

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्यगोगिता। —साहित्यदर्पण

जैसे—उस मृदु तनुलतिका के आगे, हैं शशि, शिरीष, कदली कठोर।

यहाँ शशि, शिरीष और कदली इन तीन अप्रस्तुतों का एक गुण कठोरता से सम्बन्ध है।

खंजन-कमल चकोर अलि, जिते तीन मृग ऐन।
क्यों न बढ़ाई को लहै तरुनि! तिहारे नैन॥

यहाँ खंजन, कमल, चकोर, अलि, मीन और दृग इन सभी प्रस्तुतों का एक ही क्रिया 'जितै' से सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रस्तुतों के विषय में समझना चाहिए।

तेज—अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम्। —साहित्यदर्पण

दूसरों द्वारा किये गये आक्षेप और अपमान आदि का प्राण जाने पर भी सहन न करना। यह नायक का एक सात्विक-गुण है। (दे० सात्विक गुण)

तैथिक—१५ मात्राओं वाली मात्रा जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

तोटक (१)—गर्भ नामक नाटक की तीसरी सन्धि के तेरह अंगों में एक। विशेष दे० गर्भ।

तोटक (२)—कह तोटक चार सकार मिले। चार सगणों से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

तोमर—बारह कल गल तोमर, बारह मात्राओं और अन्त में गुरु और लघु से बनने वाला आदित्य जाति का सम मात्रा छन्द।

तौरिय—नाटक में संगीत का अधिपति।

त्रयी—ऋक, यजुः और सामवेद का एकत्र नाम। विशेष दे० चतुर्विद्या।

त्रास—निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः। —साहित्यदर्पण

वज्र-ध्वनि, बिजली-तारा आदि के टूटने आदि डराने वाले कारणों से पैदा चित्त की व्यग्रता। इसमें कंपन आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

देखते ही रौद्र मूर्ति वीर पृथ्वीराज की।
चौंक उठा राजा········· ॥ —आर्यावर्त

त्रासद—दुःख, और द्वन्द्व से भरा हुआ गम्भीर नाटक। यूरोपीय नाटक के कामद और त्रासद (कौमेडी और ट्रेजैडी) दो प्रधान भेद हैं, जिनको सुखान्त और

दुखान्त नाटक भी कहते हैं, पर त्रासद में अन्त ही दुखमय नहीं होता बल्कि उसकी कुछ और भी विशेषताएँ होती हैं। अरस्तू के मत से त्रासद गम्भीर पूर्ण तथा कुछ आयाम वाले किसी कार्य का ऐसा अनुकरण है, जिसमें भाषा प्रत्येक कलात्मक प्रकार से आभूषित रहती है और वे अलंकार उसी में उपलब्ध रहते हैं। यह अभिनय के रूप में होता है, वर्णन के रूप में नहीं तथा दया और भय की भावनाएँ इन मनोवेगों का प्रक्षरण कर देती हैं, जिसे कैथार्सिस (दे० यथा०) कहते हैं। शेक्सपियर के त्रासदों में किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति(नायक) की उसके ही अपने कार्यों द्वारा अपने ऊपर बुलाई गई भीषण आपत्ति के फलस्वरूप मृत्यु दिखलाई जाती है।

त्रासद में तनातनी को कम करने और तुलना द्वारा गम्भीरता को बढ़ाने के लिए कामद-विश्राम (दे० सुखान्त नाटक) का निवेश भी किया जाता है। इसमें कलात्मक विधान सम्बन्धी एकता और अन्विति भी आवश्यक रहती है। पर इसका प्राण द्वन्द्व या संघर्ष है। यह संघर्ष प्रधान पात्र और दूसरे पात्रों के बीच चलता है और कभी-कभी बाहरी संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष की तीव्रता अधिक रहती है। इस संघर्ष के फलस्वरूप त्रासद के नायक को बहुत दुख झेलना पड़ता है।

त्रिगत—वीथी नामक रूपक-भेद का एक अंग। विशेष दे० वीथी।

त्रिगूढ़—नाटक मे रसानुकूल यथासंभव प्रयुक्त होने वाला एक लास्यांग। विशेष दे० लास्यांग।

त्रिपताक—नाटक के एक विशिष्ट संवाद-प्रकार जनांतिक में विशिष्ट प्रकार से अंगुलि-विक्षेप। विशेष दे० नाट्योक्ति।

त्रिभंगी (१)—न न न न न न स स भ म स ग युत रुचिकर शशिशेखर को छन्द त्रिभंगी होय अनूपा, छः नगणों दो सगणों, भगण, मगण, सगण और गुरु से बनने वाला साधारण वर्णदंडक छन्द।

त्रिभंगी (२)—दस वसु वसु अंगा, यति ज न रंगा,छन्द त्रिभंगा,गांत भला, १०, ८, ८ और ६ पर यति वाली ३२ मात्राओं,और अन्तमें गुरु से बनने वाला लाक्षणिक जातिका सम-मात्रा-छन्द। इसमें जगण वर्जित है।

त्रिलोकी—चान्द्रायण और प्लवंगम (दे० यथा०) के मेल से बनने वाला २१ मात्राओं (त्रिलोक जाति) का सम-मात्रा-छन्द।

त्रिष्टुप—ग्यारह अक्षरों वाले वर्णवृत्तों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्त-जाति।

त्रैलोक—२१ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

त्रोटक (१)—गर्भ नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

त्रोटक (२)—उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद।

समाष्टनवपञ्चाङ्कदिव्यमानुषसंश्रयम् ।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यंकं सविदूषकम् ॥ —साहित्यदर्पण

इसमें देवता और मनुष्य दोनों ही प्रकार के पात्र होते हैं। प्रत्येक अंक में विदूषक रहता है। और ऐसे पाँच, सात, आठ या नौ अंक होते हैं। शृंगार प्रधान रस होता है। दर्पणकार के मत से संस्कृत में इसका पाच अंक वाला उदाहरण विक्रमोर्वशी है।

त्वरितगति—अमृतगति नामक मात्रिक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० अमृतगति।

दंडक—साधारणतः बड़े-बड़े छन्द, जिनकी जातियों की गणना नहीं की जा सकी है। वर्णिक छन्दों में एक वर्ण से २६ वर्णों तक के छन्दों और उनके भेदों और स्वरूपों की गणना की गई है, इससे अधिक वर्णों वाले छन्द वर्णदंडक कहे जाते हैं। इसी प्रकार ३२ मात्राओं से अधिक मात्राओं वाले छन्द मात्रादण्डक कहे जाते हैं। वर्णदंडकों के साधारण दंडक और मुक्तक दंडक दो भेद होते हैं। पहले में नियमित गणव्यवस्था वाले २६ से अधिक अक्षर होते हैं, दूसरे में गणव्यवस्था नहीं होती बस २६ से अधिक अक्षर भर होते हैं।

दंडनीति—विद्याओं का एक भेद। विशेष दे० चतुर्विद्या।

दंडसहाय—मित्र, राजकुमार, जंगलवासी, सामंत और सैनिक आदि, जो दुष्टों का निग्रह करने में नायक राजा के सहायक होते हैं।

दंडिका—वृत्तिका नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० वृत्तिका।

दक्षिण—**एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः** —साहित्यदर्पण

अनेक पत्नियों में एक समान प्रेम रखने वाले नायण को दक्षिण नायक कहते हैं। प्राचीन काल में जब बहुविवाह समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के लिए साधारण बात थी, इस प्रकार के व्यक्ति सम्भवतः अधिक अच्छे समझे जाते रहे होंगे।

दग्धाक्षरदोष—छन्द शास्त्र में क ख ग घ च छ ज द ध न य श स अक्षर शुभ और शेष अशुभ बताए गए हैं। अशुभ अक्षरों का छन्द के आदि में प्रयोग निषिद्ध है, क्योंकि यह दग्धाक्षर दोष है। 'भानु' ने झ ह र भ ष को विशेष दुष्ट ठहराया है—

> **"दीजो भूलि न छन्द के आदि झ ह र भ ष कोय,**
> **दग्धाक्षर के दोष तें छन्द दोषयुत होय।**

पर इस नियम का अपवाद भी वह बताते हैं—

> **"मंगल सुर वाचक सबद गुरु होवे पुनि आदि,**
> **दग्धाक्षर को दोष नहिं, अरु गण दोषहिं वादि।"**

इस प्रकार दग्धाक्षर दोष नहीं रहता और इसी कारण जगण, रगण, सगण और तगण इन अशुभ गणों की अशुभता का भी परिहार हो जाता है।

दयावीर—वीर रस का एक भेद। विशेष दे० वीर।

दाक्षिण्य—नाटक में रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले २६ नाटक लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

दान—नायिका का मान तोड़ने के लिए नायक द्वारा अपनाया जाने वाला एक उपाय। विशेष दे० मानभंग।

दानवीर—वीररस का एक भेद। विशेष दे० वीर।

दिक्पाल—आदित्य युगल सोहैं, दिक्पाल छन्द माहीं, १२-१२ पर यति और २४ मात्राओं से बनने वाला अवतारी जाति का सम-मात्रा-छन्द। इसे मंजुगति भी कहते है।

दिष्ट—नाटक मे रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले २६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

दीप—दीप कह दस मंत, नगण गुरु लघु अन्त, दस मात्राओं और अन्त में नगण, गुरु और लघु से बनने वाला दैशिक जाति का सम-मात्रा-छन्द।

दीपक—एक अर्थालंकार, जिसमें प्रकृत और अप्रकृत वस्तुओं में (दोनों ओर प्रकाश फैलाने वाले देहली पर रखे दीपक की भाँति) एक धर्म (गुण या क्रिया रूप) के ही सम्बन्ध का वर्णन होता है। अनेक क्रियाओं का एक कारक होने पर भी दीपक अलंकार होता है।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥ —साहित्यदर्पण

जैसे—

(१) सेवक सठ, नृप कृजन, कुमारी,
कपटी मित्र सूल सम चारी॥

यहाँ कपटी मित्र प्रस्तुत और शेष तीन अप्रस्तुतों-सभी को शूल समान बताया है।

(२) सती नार निश्चल प्रकृति, परलोकहु संग जात।

यहाँ एक क्रिया में प्रकृत, अप्रकृत दोनों समेटे गये हैं।

(३) सौंह करे, भौंहन हँसे, देन कहे, नट जाय।

यहाँ एक ही नायिका इन सारी क्रियाओं का कर्त्ता है।

दीप्ति—**कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते।** —साहित्यदर्पण।
अति विस्तीर्ण कान्ति को ही दीप्ति कहते है। यह एक नायिकालंकार है। विशेष देखिए नायिकालंकार।

दीप्तत्व—दे० सुकुमारता।

दुखान्त-नाटक—दुःखमय अन्त चित्रित करने वाला नाटक। पीछे से यह

शब्द ट्रेजेडी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, पर उसके लिए इस कोष में त्रासद शब्द प्रयुक्त किया गया है। अतएव विशेष दे० त्रासद।

दुर्बलता—कामातुरों की एक चेष्टा। विशेष दे० कामदशा।

दुर्मल्लिका—**दुर्मल्ली चतुरंकास्यात् कैशिकी भारतीयुता।**
अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता।
त्रिनालिःप्रथमोऽङ्कोऽस्यां विटक्रीडामयो भवेत्।
पंचनालिद्वितीयोऽङ्कोविदूषकविलासवान्।
षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान्।
चतुर्थो दशनालिःस्यादंकः क्रीडितनागरः।—साहित्यदर्पण।

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। यह शृंगारबहुला, एकांकी, कैशिकी-भारतीय वृत्तियों वाली, गर्भसंधि रहित, चतुर पुरुषों से युक्त और नीच नायक वाली होती है। पहला अंक ६ घड़ी का और विट की क्रीड़ा से भरा होता है, दूसरा १० घड़ी का विदूषक की क्रीड़ा से भरा होता है, तीसरा १२ घड़ी का पीठमर्द के विलास से युक्त होता है और चौथा २० घड़ी का होता है। इसमें चतुर पुरुषों की क्रीड़ा होती है। दर्पणकार के मत से इसका उदाहरण बिंदुमती है।

दुर्मिल—सगण जब आठ मिले तब हो कवि-दुर्लभ दुर्मिल चन्द्रकला। आठ सगणों से बनने वाला संकृति जाति का समवृत्त छन्द। इसे चन्द्रकला भी कहते हैं।

दुःश्रवत्व—श्रुतिकटु नामक दोष का अन्य नाम। विशेष दे० श्रुतिकटु।

दुष्क्रमत्व—लोक-प्रसिद्ध या स्वाभाविक क्रम के विरुद्ध बात कहने से उत्पन्न काव्य-दोष (दे० यथा)। जैसे 'घोड़ा देहु नाथ मोहि हाथी वा सवारी को' में पहले हाथी और फिर घोड़ा कहना चाहिए था। कोई आश्चर्य नहीं, यदि यह कहने वाले को राजा ने एक दुर्बल-सा घोड़ा पकड़ा दिया हो।

दूत—**निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः**
कार्यप्रेष्यस्त्रिधादूतो दूत्यश्चापि तथाविधः —साहित्यदर्पण

कार्यों में भेजने योग्य पुरुष या स्त्री। यह तीन प्रकार का होता है। भेजने वाले और जिसके पास भेजा गया है, दोनों के अभिप्राय को समझ स्वयं उचित उत्तर देकर काम बना लाने वाला "निसृष्टार्थ" दूत कहलाता है। परिमित बात कर काम बना लेने वाला दूसरा "मितार्थ" दूत होता है। केवल सन्देश को ही यथावत् पहुँचाने वाला तीसरा "संदेशहारक" दूत होता है।

देवघनाक्षरी—आठ आठ आठ नौ की यति से तैंतीसवर्ण; अन्त में तीन लघु हों, देवघनाक्षरी सुखद, तैंतीस अक्षरों के चार तुकांत पादों से बनने वाला मुक्तक वर्णदंडक छन्द। इसमें ८, ८, ८, ९ पर यति होती है और अंत में तीन लघु होते हैं।

दैनंदिनी—लेखक द्वारा अपनी निजी सुविधा या सन्तोष के लिए रखा गया दैनिक घटनाओं का विवरण। पर ये कभी कभी-कभी इतिहास या उपन्यास का आधार बन प्रकाशित भी हो जाती है।

दैन्य—दौर्गत्याद्यैरनोजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्। —साहित्यदर्पण

दुर्गति आदि से उत्पन्न ओजस्विता का अभाव। इस से मलिनता आदि पैदा होती है। यह एक संचारी भाव है। देखिये—

कहत परम आरत वचन राम राम रघुनाथ।

दैशिक—दस मात्राओं वाली मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

दोधक—दोधक तीन भकार गुरु दो, तीन भगण और दो गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द। इसे "नीलस्वरूप" और "लोकबन्धु" भी कहते हैं।

दोष—रसापकर्षकाः दोषाः। —साहित्यदर्पण।

मुख्यार्थहतिर्दोषः। —काव्यप्रकाश

काव्य में रस के अपकर्ष के कारण, अर्थात् रस की हीनता या उस का विच्छेद कराने वाले कारण। रस का यह अपकर्ष तीन प्रकार से होता है, (१) रस-प्रतीति या रसास्वादन के रुक जाने से, (२) रस की उत्कृष्टता को नष्ट करने वाली किसी वस्तु के बीच में पड़ जाने से और (३) रसास्वादन में विलंब करने वाले कारणों के बीच में पड़ जाने से। इनमें से कोई भी बात जिस कारण हो जाए, वही दोष है। यद्यपि श्रुतिकटु केवल शब्द का और अपुष्टार्थता केवल अर्थ का दोष है, और दोनों का ही रस से सीधा सम्बन्ध नहीं है, पर काव्य के स्वरूप का ज्ञान तो शब्द और अर्थ से ही होता है, जिसका ये अपकर्ष करते हैं।

ये दोष पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस में होने से पाँच प्रकार के हो जाते हैं। श्रुतिकटुत्व, अश्लीलत्व, अनुचितार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, ग्राम्यत्व, अप्रतीत्व, नेयार्थत्व, निहतार्थत्व, अवाचकत्व, क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारित्व और अविमृष्ट विधेयांशत्व (पद गत और वाक्य गत), इन में से कुछ तो पदांशों में भी रहते हैं, पर अधिकांश पदों में ही रहते हैं। निरर्थकत्व, असमर्थत्व और च्युतसंस्कारत्व केवल पदों में रहते हैं।

पद दोषों के विजातीय केवल वाक्य दोष निम्न हैं—प्रतिकूलवर्णत्व, लुप्तविसर्गत्व, आहतविसर्गत्व, अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व, कथितपदत्व, हतवृत्तत्व, पतत्प्रकर्षत्व, सन्धि-विश्लेष, संध्यश्लीलत्व, सन्धिकष्टत्व, अर्धांतरैकपदत्व, समाप्तपुनरात्तत्व, अभवन्मतसम्बन्धत्व, अक्रमत्व, अमतपरार्थत्व, वाच्यानभिधान, भग्नप्रक्रमत्व, प्रसिद्धित्याग, अस्थानपदत्व,

अस्थानसमासत्व, संकीर्णत्व और गर्भितत्व। फिर निम्नांकित अर्थदोष हैं—अपुष्टत्व, दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, व्याहतत्व, अश्लीलत्व, कष्टत्व, अनवीकृतत्व, निर्हेतुत्व, प्रकाशित-विरुद्धत्व, संदिग्धत्व, पुनरुक्तत्व, ख्याति विरुद्धत्व विद्याविरुद्धत्व, साकांक्षत्व, सहचर-भिन्नत्व, अस्थानयुक्तत्व, अविशेष में विशेष, अनियम में नियम, विध्ययुक्तत्व, अनुवादा-युक्तत्व और निर्मुक्तपुनरुक्तत्व। और फिर निम्नांकित रस-दोष हैं—रस का अपने शब्द (सामान्य 'रस' शब्द या 'शृङ्गार' आदि) द्वारा कथन और स्थायी या संचारी का स्वशब्द से कथन, विरोधी रस के अंगभूत विभावादि का ग्रहण, विभाव और अनुभाव का कठिनता से आक्षेप हो सकना, रस का असमयोचित विस्तार या विच्छेद या बार-बार उसे दीप्त करना प्रधान को भुला देना या बार-बार उसका बहुत विस्तार करना और अप्रधान का निरूपण, प्रकृतियों की उलट-फेर और अर्थ आदि का अनौचित्य।

दोषों की स्वतः स्पष्ट बड़ी नामावली का विस्तृत विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं। इनमें से बहुत से दोष प्रसंगानुसार गुण बन जाते हैं, जैसे—वक्ता के क्रुद्ध या उद्धत होने या रौद्रादि रसों में श्रुतिकटु गुण हो जाता है, इसी प्रकार गोष्ठी या सुरतारम्भ में अश्लीलता, श्लेष में निहतार्थता या अप्रयुक्तता, वक्ता और श्रोता दोनों के विद्वान् होने पर या स्वयंकथन में अप्रतीतत्व, पूर्वकथित के अनुवाद, विषाद, विषम, क्रोध, दैन्य, लाटानुप्रास, अनुकंपा, प्रसादन, अर्थांतर संक्रमित वाच्य, हर्ष और निश्चय में कथितपदता, व्याजस्तुति में पर्यवसायी संदिग्धत्व, वैयाकरण के वक्ता-श्रोता होने पर कष्टत्व, या श्रुतिकटु, नीच लोगों की उक्ति में ग्राम्यत्व, प्रसिद्ध वस्तु में निर्हेतुता, कविसमय (दे० यथा०) में ख्यात होने पर ख्याति विरुद्धता, आनंद डूबी उक्ति में न्यूनपदता आदि दोष अदोष हो जाते या गुण बन जाते हैं। कभी-कभी न्यूनपदता और समाप्तपुनरात्तता न दोष रहतीं हैं न गुण, कहीं-कहीं पर अधिकपदता, गर्भितत्व, पतत्प्रकर्षता संचारी का स्वशब्द से कथन आदि दोष नहीं रहते। विरुद्ध रस के अंग संचारी आदि को कहकर फिर दबा दिया जाए तो यह दूषित नहीं रहता। विरोधी भाव या रस के स्मरण, या दोनों के समानता से कहने या किसी प्रधान रस में दो विरोधी रसों को अप्रधान बना देने पर परस्पर विरोध दोष नहीं रहता। आलंबन की एकता, आश्रय की एकता या नैरंतर्य के आधार पर होने वाले रस विरोध (दे० यथा०) में तदनुकूल परिहार कर देने पर दोष नहीं रहता।

इन में से पद, पदांश, वाक्य और अर्थ के दोषों के भेदों की तो इस ग्रंथ में यथास्थान विवेचना की गई है, पर रस-दोषों को अलग से नहीं लिया गया, क्योंकि उनका उपर्युक्त विवरण ही पर्याप्त है।

दोहा—तेरह विषम न जादि है, सम शिव दोहा लांत, १३-११ पर यति

वाली २४ मात्राओं के दो पादों (कुल चार पादों), आदि में जगण न होने और अन्त में लघु होने से बनने वाला अर्द्धसम मात्रा छन्द। पुरानी चाल के दोहे में लिखा गया दूहा साहित्य प्राकृताभास हिन्दी का एक प्रमुख छन्द था और परवर्ती साहित्य में भी यह बहुत अपनाया गया है, शायद उतना ही जितना संस्कृत में अनुष्टुप् श्लोक। ग्रीक डोइस् से कुछ विद्वान् इसका जन्म खोजने का प्रयत्न करते हैं।

द्युति—विमर्श नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

दृश्य—नाटक का एक विभाग। अंकों को बाद में फिर दृश्यों में बाँटा जाता है। विशेष दे० नाटक।

दृश्य-काव्य—जो अभिनय करके दिखाया जा सके। यह काव्य के दो भेदों दृश्य और श्रव्य—में पहला है। नाटक के सभी भेदों आदि के लिये और स्वांगों, और नकलों आदि के लिए भी यह एक सामान्य नाम है।

दृश्य काव्य को रूपक भी कहते हैं, क्योंकि इस में अभिनेता में पात्र के स्वरूप का आरोप होता है। इसके दस भेद हैं, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग समवकार, डिम, ईहामृगा अंक, वीथी, और प्रहसन (दे० यथा०)।

दृष्टान्त (१)—नाटक मे रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

दृष्टान्त (२)—एक अर्थालंकार, जिसमें दो वाक्यों में आए हुए उपमेय और उपमान के धर्मों का बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है। दर्पणादि में पड़े प्रतिबिंब का बिंब से अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद-सा प्रतीत होता है, इसी को बिंब-प्रतिबिंब भाव कहते हैं।

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुतः प्रतिबिंबनम्। —साहित्यदर्पण

यह साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा दो प्रकार का हो जाता है। अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य और समर्थक वाक्यों में एक सामान्य होता है, एक विशेष दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में वस्तुप्रतिवस्तु भाव होता है, साधारण धर्म का बिंब-प्रतिबिंब भाव नहीं रहता। होता भी है तो दृष्टान्त की भाँति धर्म सहित धर्मों का प्रतिबिंबन नहीं होता बल्कि उपमेय और उपमान रूप धर्मियों का ही। उदाहरण—

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें सिल पर होत निसान॥

पूर्वार्द्ध उपमेय के दृष्टांत रूप में-उत्तरार्द्ध दिया गया है। जड़मति और सिल, करत करत अभ्यास और रसरी आवत जात तथा होत सुजान और होत निसान में बिंब-प्रतिबिंब भाव है। वैधर्म्य का जैसे—"तुम्हें देख सुन्दरी की कामव्यथा दूर हो जाती है, चंद्रोदय पर कुमुदावली की ग्लानि देखी ही गई है। यहाँ सुन्दरी और

कुमुदावली, नायक और चन्द्रमा एवं कामव्यथा और ग्लानि में बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

द्रव—विमर्श नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

द्रुतमध्या—तीन भ दो ग अयुग्म सुहाये, न ज ज य युग्म बने द्रुतमध्या, प्रथम-तृतीय चरणों में तीन भगणों और दो गुरु तथा द्वितीय-चतुर्थ चरणों में नगण, दो जगण और यगण से बनने वाला अर्द्धसम वृत्त छन्द।

द्रुतविलंबित—द्रुतविलंबित भाहि न भा भ रा, नगण, दो भगण और रगण से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

द्विगूढ़—नाटक में रस-पुष्टि के लिए प्रयुक्त १० लास्यांगों में एक। विशेष दे० लास्यांग।

(ध)

धर्म—उपमा के चार अंगों में से एक। विशेष दे० साधारण धर्म, उपमा।

धर्मवीर—वीर रस का एक भेद। विशेष दे० वीर।

धर्मसहाय—ऋत्विग्, पुरोहित, ब्रह्मवेत्ता (वेदज्ञ या आत्मज्ञ) और तपस्वी, जो नायक राजा के धर्म में सहायक होते हैं।

धीरललित—**निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।**—साहित्यदर्पण

चिन्ता रहित रहने वाला, अत्यन्त कोमल स्वभाव वाला और नृत्य गीत आदि कलाओं में निरन्तर आसक्त रहने वाला नायक धीर ललित कहलाता है। रत्नावली नायिका के वत्सराज जैसे नायक इस श्रेणी में आते हैं।

धीरशान्त—**सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरशान्तः स्यात्।**—साहित्यदर्पण

नायक के सामान्य गुणों में अधिकांश से युक्त ब्राह्मण आदि। शान्त स्वभाव वाले नायक धीरशान्त या धीरप्रशान्त कहे जाते हैं। मालतीमाधव का नायक माधव इस श्रेणी में आता है।

धीराधीरा प्रगल्भा—क्रुद्ध होने पर नायक को ताने देकर खिन्न करने वाली प्रगल्भा नायिका।

धीराधीरा मध्या—क्रुद्ध होने पर रोदन से प्रिय को खिन्न करने वाली मध्या नायिका।

धीरा-प्रगल्भा—क्रुद्ध होने पर नायक के प्रति बाहर से क्रोध को छिपा आदर सत्कार दिखाने वाली, पर सुरत में उदासीन प्रगल्भा नायिका।

धीरा-मध्या—क्रुद्ध होने पर प्रिय को सपरिहास वक्रोक्ति द्वारा घायल करने वाली मध्या नायिका।

धीरोदात्त—**अविकत्थनः क्षमावानतिगंभीरो महासत्त्वः।**
स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतःकथितः॥—साहित्यदर्पण

अपनी प्रशंसा न करने वाला, क्षमायुक्त, अत्यन्त गम्भीर स्वभाव वाला, महासत्त्व (अर्थात् हर्ष, शोक आदि से अपने स्वभाव को न बदलने वाला स्थिर प्रकृति) प्रच्छन्न गर्व रखने वाला, अपनी आन का पक्का दृढ़व्रत नायक धीरोदात्त नायक होता

है। रामचन्द्र और युधिष्ठिर के चरित्र इसी प्रकार के हैं। यह नायक के चार प्रकारों में सर्वश्रेष्ठ प्रकार कहा जाता है।

धीरोद्धत—मायावरः प्रचंडश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः

आत्मश्लाघानिरतो धीरैःधीरोद्धतःकथितः। —साहित्यदर्पण

मायावी, प्रचण्ड, चंचल, अभिमानी, घमण्डी तथा अपने मुख से अपनी बड़ाई करने वाला नायक धीरोद्धत नायक कहा जाता है। भीमसेन आदि जैसे नायक इसी श्रेणी में आते हैं।

धृति (१)—१८ वर्णों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

धृति (२)—**ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णस्पृहता धृतिः**

साहित्यवचनोल्लाससहायप्रतिभादिकृत्। —साहित्यदर्पण

तत्वज्ञान और इष्ट-प्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूरा हो जाना। इसमें संतृप्ति, उल्लासपूर्ण वचन, मधुर मुस्कान और बुद्धि का विकास आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—**देखने में मांस का शरीर है तथापि यह**

सह सकता है चोट वज्र की भी हँस के।—आर्यावर्त

धृष्टि—**कृतागा अपिनिःशंकस्तर्जितोऽपि न लज्जितः**

दृष्टदोषोऽमिथ्यावाक् कथितो धृष्टनायकः। —साहित्यदर्पण

जो नायक नायिका का परदारगमन अपराध करने पर भी निःशंक बना रहे, झिड़कियां खाने पर लज्जित न हो तथा दोष स्पष्ट हो जाने पर भी झूठ बोलता जाए, वह धृष्ट नायक कहां लाता है।

धैर्य (१)—**उक्तात्मश्लाघना धैर्य मनोवृत्तिरचंचला।** —साहित्यदर्पण

आत्मश्लाघा से युक्त अचंचल मनोवृत्ति। यह नायिका का एक अयत्नज अलंकार है। दे० नायिकालंकार।

धैर्य—(२) धृति नामक संचारीभाव का अन्य नाम। विशेष दे० धृति, संचारी भाव।

धैर्य—(३) **व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि।** —साहित्यदर्पण

बड़े से बड़े विघ्न के भी आ उपस्थित होने पर अपने काम में अडिग रहना। यह नायक का एक सात्विक गुण है। दे० सात्विक-गुण।

ध्वनि काव्य—**प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीसु महाकवीनाम्।**

—ध्वन्यालोक

मुख्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य (प्रतीयमान) अर्थ की प्रधानता वाला काव्य। यह मम्मट का उत्तम-काव्य है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा बताया है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यत्समाम्नातपूर्वः —ध्वन्यालोक

मम्मट ने इसके ५१ शुद्ध भेद और १०४०४ गौण भेद गिनाये हैं। पं० हरिमंगल मिश्र मम्मट द्वारा निरूपित ५१ शुद्ध भेद यों बताते हैं, अविवक्षित वाच्य के अर्थांतर संक्रमित और अत्यन्त तिरष्कृत दो भेद पद और वाक्यगत होने से चार हो जाते हैं। विवक्षितान्यपर वाच्य असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के पदप्रकाश्य, वाक्यप्रकाश्य पदैकदेशप्रकाश्य, रचनाप्रकाश्य, वर्णप्रकाश्य और प्रबंधप्रकाश्य कुल छः भेद होते हैं। ये दस हुए, शेष ४१ असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के भेद यों हैं—शब्द शक्तिमूलक व्यंग्य के पदगत वस्तु, पदगत अलंकार, वाक्यगत वस्तु और वाक्यगत अलंकार के ये चार भेद हुए और अर्थशक्तिमूलक के स्वतः संभवी, कवि प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, ये तीन भेद वस्तु और अलंकार के भेद से छः, फिर प्रत्येक के वस्तु व अलंकार के व्यंजक होने से बारह और फिर इनके पद, वाक्य और प्रबन्धगत होने से छत्तीस भेद हुए उभयशक्तिमूलक व्यंग्य वाक्यगत मात्र एक ही होता है। इस प्रकार शब्द, अर्थ और उभयशक्तिमूलक व्यंग्यों के क्रमशः ४, ३६ और १ ये इकतालीस भेद पहले के १० मिला कुल ५१ होते हैं। ये तीन संकरों और एक संसृष्टि के साथ आपस में मिल-जुलकर १०४०४ जो शुद्ध ५१ के साथ मिल १०४५५ हो जाते हैं। इसके सिवा पद (सुप् तिङ) के प्रकृति, प्रत्यय, और उपसर्ग तीनों भागों तीनों (चारों) रीतियों (दे० यथा०) और अक्षरों से भी रस आदि (रस, भाव, और उनके आभास, शबलता आदि आठों अलक्ष्यक्रमव्यंग्यों) की भी व्यंजकता होती है।

ध्वनि की ५ व्युत्पत्तियाँ पं० रामदहिन मिश्र ने अपने काव्यालोक में दी हैं। (१) जो ध्वनित करे-कराए, वाचक, लक्षक, व्यजक सभी किसी व्यंग्य अर्थ के व्यंजक होने पर ध्वनि कहे जाते हैं।

(२) जो ध्वनित हो वह ध्वनि है। वस्तु, रस, अलंकार ध्वनित होने से ध्वनि हैं।

(३) जिससे ध्वनि की उत्पत्ति हो वह ध्वनि है। ध्वनि से व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है।

(४) ध्वनित होना ध्वनि है। इससे वस्तु, अलंकार, रसादि की सूचना समझी जाती है। अभिव्यंजन ध्वनन सूचन इसके समानार्थक शब्द हैं।

(५) जिसमें वस्तु, रस, अलंकार आदि ध्वनित हों, वह ध्वनिकाव्य है।

ध्वन्यर्थ-व्यंजना—एक काव्य-कौशल, जिसमें अभिप्रेत अर्थ की शब्दों की ध्वनि से व्यंजना की जाती है। डा० लाल ने अपने "आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास" के पृष्ठ १४० पर एक बहुत बड़ी सूची दी है, जो यों है—

स्पंदन, स्तंभन, चीत्कार, थर्राना, उत्तालतरंग, अट्टहास, उल्लास, लोलहिलोर, पात, झूम-झूम, रोर, निर्झर, झर-झर, उच्छृंखल, घर्घर, नाद, कराहना, अहह, झंकार, निःश्वास, मुखरित, बिलखना, आह, बुद्‌बुद्, उमड़ना, कलरव, कलकल, छलछल, मर्मर, सनसन, टलमल, गुंजन, कसक, सिसकना, शून्य, धूमिल, पुलक, कंपन, चकित, उभार, लहर, झकोरना, गरजना, गुनगुन, हहर-हहर, मचलना, चंचल, कोलाहल, क्रन्दन, सलिल, हुलास, आदि। किन्तु यह कोई नई वस्तु नहीं है, तुलसी की "पुंज गुंजत मधुकरा" आदि पंक्तियाँ आज से शताब्दियों पहले लिखी गई थीं और उनसे भी पहले विद्यापति इसके गुण जानते थे। संस्कृत में भी माधुर्यादि गुणों की अवतारणा मे इसे उचित मान दिया गया था और "लतापुंजगुंजन्" श्लोक जो साहित्यदर्पण में उदाहरण-स्वरूप दिया गया है, अनूठा ही श्लोक है। (और दे० संवेदनावद)।

ध्वनि संप्रदाय—अलंकार शास्त्र के इतिहास में ध्वनि की कल्पना बड़ी ही सूक्ष्म आलोचना तथा गहन अध्ययन की परिचायिका है। ध्वनि सम्प्रदाय रससम्प्रदाय का ही विस्तृत रूप है। रस कभी वाच्य नहीं होता, प्रत्युत व्यंग्य हुआ करता है। ध्वनि-वादियों ने रस, रीति, गुण, दोष आदि काव्यांगों को अपने दृष्टिकोण से सुन्दर व्यवस्थापना की है।

व्यंग्य अर्थ को प्राधान्य देकर इस परम्परा का प्रवर्तन करने वाले आचार्य हैं आनंदवर्धन। उन्होंने व्यंग्य की स्वतन्त्र सत्ता तथा काव्य में उसकी अनिवार्यता पर बल दिया है। उनके पहले ध्वनि के अभाववाद, भक्तिवाद एवं अनिर्वचनीयवाद तीन मत थे, जिनका आनन्दवर्धन ने चमत्कार तथा युक्ति पूर्वक खंडन किया है। पीछे मम्मट ने ध्वनि की शास्त्रीय व्यवस्था की है।

रसध्वनि, वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि—ये ध्वनि के तीन प्रधान भेद हैं। पीछे इस सम्प्रदाय को भी अधिक अनुयायी न मिल सके।

वैयाकरणों की स्फोट-ध्वनि मीमांसा ने आलंकारिकों को विशेष सहायता दी है।

(न)

नकल—साधारण अर्थ में किसी का अनुकरण, पर विशेष अथ में किसी गम्भीर व्यक्ति की चेष्टाओं और बातों का अनुकरण, स्वांग भी इसी परिभाषा में आता है, पर दोनों में अन्तर यही है कि चेष्टाओं और बातों का अनुकरण तो नकल है। और उसके स्वरूप-वस्त्र आदि का अनुकरण स्वांग। इस सबका लक्ष्य परिहास और विनोद की सृष्टि है। जिस व्यक्ति की नकल या स्वांग किया जाए, उसके ऊपर कुछ छींटे कसना भी इस का अवांतर लक्ष्य है। स्वांग द्वारा लोगों की हँसी उड़ाना एक पुरानी परिपाटी है और कुछ इसको नाटक का जन्मदाता भी मानते हैं। किसी की कविता की नकल को जिसे अंग्रेजी में पैरोडी कहते हैं, हम व्यंग-काव्य नाम से पुकार सकते हैं। इसका लक्ष्य भी वही है, हिन्दी में लोग-प्रचलित गड़बड़ रामायण इसका उदाहरण है। किसी पात्र की किसी विशेष धारणा या दृष्टिकोण के उपहास के लिए यदि बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन हो, तो यह व्यंग्य-चित्र बन जाता है।

नख-शिख—पूरी देह का वर्णन। यह देव पात्रों का चरण की ओर से और मानवी पात्रों में सिर की ओर से आरम्भ किया जाता है।

नगण—निरंतर तीन ह्रस्व वर्णों (।।।) वाला वर्णसमूह। विशेष दे० गण।

नगस्वरूपिणी—प्रमाणिका नामक वर्णवृत्त का अन्य नाम। विशेष दे० प्रमाणिका।

नट—नाटक के अभिनेता का साधारण नाम, जो पीछे चलकर एक जाति बन गई। इनका मुखिया सूत्रधार होता था। (दे० सूत्रधार)

नटी—नाटक की अभिनेत्रियों का साधारण नाम। प्रस्तावना में आने वाली सूत्रधार की सहचरी भी इसी सामान्य नाम से पुकारी जाती थी।

नति—नायक द्वारा नायिका के मानभंग के लिए अपनाया जाने वाला एक प्रकार। विशेष दे० मानभंग।

नभ—शुभ नभ सोहै न या सा स किये, नगण, यगण और दो सगणों से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छंद। इसमें ६ ६ वर्णों पर यति होती है।

नर्म—प्रतिमुख नामक दूसरी नाटक संधि के तेरह अंगों में से एक। विशेष दे० प्रतिमुख।

नर्मद्युति—प्रतिमुख नामक दूसरी नाटक संधि के तेरह अंगों में से एक। विशेष दे० प्रति ुख।

नवनीत-पत्रिका—अंग्रेज़ी डाइजेस्ट। मौलिक लेखों के साथ ही दूसरी पत्रिकाओं में निकले स्थायी उपयोग या मनोरंजन के लेखों के सार या संक्षेप को भी उद्धत करने वाली पत्रिका।

नष्ट—प्रस्तार (दे० यथा०) की लम्बी प्रक्रिया के बिना ही किसी वर्णिक या मात्रिक छन्द के किसी विशिष्ट स्वरूप को बताने वाला प्रत्यय (दे० यथा०) (१) वर्ण-नष्ट जानने की विधि यों है—किसी संख्या के जिस रूप को जानना है, यदि वह सम हो तो लघु रखो और यदि विषम हो तो गुरु। फिर उसका आधा करने पर सम संख्या शेष रहे तो लघु और विषम संख्या शेष रहे तो गुरु चिन्ह लिखो। यदि शेष विषम रहे, तो उसमें एक जोड़कर आधा करो, और उसी नियम से तब तक गुरु-लघु लिखते जाओ, जब तक अभीष्ट संख्या पूरी न हो जाए। जैसे मान लो ६ वर्ण के प्रस्तार का १४ वां रूप जानना है। (१) १४ ंख्या सम होने के कारण पहले लघु (।) लिखो। (२) फिर आधा ७ विषम आया अतः दीर्घ (ऽ) लिखो। (३) इसमें १ जोड़ आधा करने से ४ सम आया, अतः लघु (।) लिखो। (४) ४ का आधा २ सम आया अतः लघु (।) लिखो। (५) फिर २ का आधा १ विषम आया, अतः गुरु (ऽ) लिखो। (६) इसमें १ जोड़ फिर आधा करने पर १ विषम आया, अतः गुरु (ऽ) लिखो। अब ६ संख्या पूरी हो गई और रूप यों बना—(।ऽ।।ऽऽ)। यही ६ वर्णों की संख्या का १४ वां रूप है।

(२) मात्रा नष्ट जानने की विधि यों है—जितनी मात्राओं के छन्द का स्वरूप जानना है, उतने लघु लिखकर मात्रा छन्दों के भेदों (दे० मात्रा जाति) की संख्या क्रमशः उनके ऊपर बाएँ से दाएँ लिखो। अब जितनी मात्राओं का नष्ट रूप पूछा गया है, उतनी मात्राओं की जाति की निश्चित भेद संख्या में से नष्ट स्वरूप की संख्या घटा दो। मान लो ७ मात्रा के प्रस्तार का ९वां रूप पूछा गया है, तो ७ मात्राओं की जाति संख्या २१ में से ९ घटाने पर १२ शेष रहे। अब यह देखना है कि लघु चिन्हों के ऊपर जो अंक (मात्रा-जाति संख्या वाले) लिखे गए हैं, उनमें से दाहिनी ओर से कौन-कौन इस संख्या में से घट सकते हैं। दाहिनी ओर से २१ और १३ तो बारह में से घट नहीं सकते। ८ घट सकता है और शेष ४ रहा। ४ में से आगे दाहिनी ओर ३ घट सकता है, शेष १ रहा। १ में से भी बस १ ही घट सकता है, और शून्य शेष रहेगा। यह प्रक्रिया शून्य प्राप्त करने तक चलानी पड़ती है। अब ८, ३ और १ ही

घटाये जा सके थे, इनके नीचे गुरु (ऽ) लिखो और शेष के नीचे लघु। अब गुरु चिन्हों के अनंतर जो लघु है, उनको हटा दो तो स्वरूप का पता चल जायेगा। निम्न विवरण इसे स्पष्ट कर देगा—

सूची संख्या	१	२	३	५	८	१३	२१
लघु रूप	।	।	।	।	।	।	।
घटाने पर गुरु	ऽ	।	ऽ	।	ऽ	।	।
स्वरूप	ऽ		ऽ		ऽ		।

नांदी—आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नांदीति संज्ञिता॥
मंगल्यशंखचन्द्राब्ज कोककैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टारभिर्वा पदैरुत॥ —साहित्यदर्पण

देव, द्विज, नृप आदि की आशीर्वादयुक्त स्तुति। यह नाटक के सब से पहले आने वाले पूर्वरंग का अवश्य करने योग्य अंग है। इससे लोग आनंदित होते हैं, इस लिये इसका नाम नांदी पड़ा। इसमें बारह या आठ पद और शंख, चंद्र, कुमुद, चक्रवाक आदि मंगल वस्तुओं का उल्लेख होना चाहिए।

नाक्षत्रिक—२७ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा-जाति।

नागराज—पंचचामर नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० पंचचामर।

नाटक—रूपक के दस भेदों में प्रमुख भेद। अपनी प्रधानता के कारण यह शब्द रूपक (दे० यथा०) का पर्याय ही बन बैठा और अब तो इसने रूपक शब्द को अपदस्थ ही कर दिया है। संस्कृत की नट् धातु से बनने के कारण नाचने से इस शब्द का सम्बन्ध जोड़ा जाता रहा है। वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रेरणा से मनुष्य दूसरों की जो नकल करने में प्रवृत्त होता है, उसी नकल में कथोपकथन का योग हो जाने से इसे साहित्यिक रूप प्राप्त हो जाता है। धार्मिक या ऋतु सम्बन्धी उत्सवों या देवपूजा और वीरपूजा के साथ होने वाले नृत्य-संगीत में इसका उद्भव खोजा गया है। यूनानी धान्य देवी डेमिटर की पूजा के समय तथा इसी प्रकार चीन, जापान, बरमा

आदि देशों में धार्मिक अभिनयों का उल्लेख मिला है। जापान में "नो" (दुखांत) नाटकों में चेहरे लगाकर नृत्य-अभिनय की प्रथा अब भी जीवित है। भारत में ऋग्वेद के प्रार्थना-मंत्रों और संवादों में इसकी प्राचीनतम झाँकी देखी जाती है। कहा जाता है कि ब्रह्मा ने चारों वेदों से क्रमशः पाठ, गान, अभिनय और रस लेकर इसे रचा। पाणिनि द्वारा शिलालिन् और कृशाश्व के उल्लेख द्वारा उनसे भी बहुत पहले भारत में नाटकों का विद्यमान होना सिद्ध हो जाता है। वाल्मीकि तक "वधूनाटकसंघैश्च संयुक्ता सर्वतः पुरीम्" कहते हुए नाटक का उल्लेख करते हैं। पतंजलि तो स्पष्ट ही कंसवध और बलिबंध के अभिनय का उल्लेख करते हैं। हरिवंशपुराण के कौबेरम्भाभिसार और भद्र बाहु के कल्प सूत्र में जड़वृत्ति साधु के उल्लेखों से भी इसी कथन की पुष्टि होती है। विनयपिटक में भी नाटक देखने के कारण भिक्षुओं को निर्वासन-दण्ड का उल्लेख है। पीछे भरत के नाट्य शास्त्र और भरत के नाटकों का युग आ जाता है। और उसके बाद तो यह परम्परा निरन्तर अक्षुण्ण दृष्टिगोचर होती है। पार्वती विषयक किंवदन्ती तथा गुणाढ्य और राजशेखर के उल्लेखों से कठपुतली-नाटकों के भी विवरण मिलते हैं। सूत्रधार और स्थापक (दे० यथा०) नाम भी इसी की उपज हैं। भरत ने रंगमंच (दे० यथा०) का भी पूरा-पूरा विवेचन किया है। सरगुजा की गुफा के प्रेक्षागृह ने सिद्ध कर दिया है कि अपने ढग के प्रेक्षागृहों की भरमार के बाद ही लोगों की प्रवृत्ति यूनानी प्रेक्षागृहों की ओर भी हुई थी। यूनान मे नाटकों के विकास से पहले ही यहाँ नाटकों के उल्लेख मिलने, यूनानी और भारतीय नाटकों के तत्त्वों में आकाश-पाताल का अन्तर होने, यूनानी नाटकों का अभिनय खुले में और भारतीयों का विशेष रंग-शालाओं में होने आदि कारणों से विद्वान् भारतीय नाटकों को यूनानी प्रभाव से स्वतन्त्र विकसित होता हुआ देखते हैं। वे उसे भारत की अपनी ही प्रतिभा की देन मानते हैं।

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंचसन्धिसमन्वितः।
विलासद्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।
पंचाधिक दशपरास्तत्रांका परिकीर्तिताः॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिः धीरोदात्र प्रतापवान्।
दिव्योऽथदिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः॥
एक एव भवेदंगी शृंगारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥
चत्वारा पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्॥ —साहित्यदर्पण

विश्वनाथ के मत से नाटक की कथा इतिहास-प्रसिद्ध हो, उसमें विलास-समृद्धि और ऐश्वर्य आदि का वर्णन हो। सुख-दुःख का उद्भव दिखाया जाए। नाना रस हों। ५ से लेकर १० तक अंक (दे० यथा०) हो। प्रसिद्ध वंशोत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान और दिव्य या दिव्यादिव्य नायक हो। शृङ्गार या वीर कोई एक रस (दे० यथा०) प्रधान हो और शेष अप्रधान। निर्वहण (दे० यथा०) सन्धि में कार्य (दे० अर्थ प्रकृति) की क्रमशः अद्भुत समाप्ति दिखाई जाए। इसमें ४-५ कार्यरत पुरुष होने चाहिएँ। ५ सन्धियों (दे० यथा०) ४ वृत्तियों (दे० यथा०) १० लास्यांगों (दे० यथा०), ३३ नाट्यालंकारों, (दे० यथा०) और ३६ नाट्य-लक्षणों (दे० यथा०) से सुशोभित होना चाहिए। ऐसे सुश्लिष्ट सुप्रयुक्त, अनिंदित चरित्रयुक्त-नाटक को महानाटक कहते हैं।

आचार्यों ने इसके वस्तु, नायक और रस (दे० यथा०) तीन ही तत्व माने थे, पर नए विद्वान् उपन्यास की भाति इसमें वस्तु (दे० यथा०) पात्र (दे० चरित्र-चित्रण), कथोपकथन, देश-काल, (दे० वातावरण), शैली (दे० यथा०) और उद्देश्य ये छः तत्त्व देखते हैं। कथोपकथन द्वारा स्वयं पात्र की बातों से और एक-दूसरे की बातों से पात्रों के अभिप्राय के साथ ही उनके चरित्र-चित्रण की भी सिद्धि होती है। नाटक के कथोपकथन के विशेष प्रकार नाट्योक्ति (दे० यथा०) के नाम से पुकारे जाते हैं। नाटक का उद्देश्य आरम्भ से ही धार्मिक के साथ लौकिक भी रहा है और आज तो मनोरंजन और शिक्षा दो ही प्रधान लक्ष्य हैं। यद्यपि नाटककार सामाजिक समस्या के किसी पहलू को अपने विशेष दृष्टिकोण से ही रखेगा। नाटक की वस्तु में पहले ५ से १० तक अंक और कुछ गर्भांक रहते थे (दे० अर्थोपक्षेपक)। कुछ वस्तु संसूच्य भी रहती थी। आज यह विभाजन तीन अंकों और अनेकों उपांकों या दृश्यों में हो गया है। यूरोप में नाटक के संकलनत्रय (दे० यथा०) पर भी एक समय आवश्यकता से अधिक बल दिया गया था, पर इब्सनोत्तर युग के नाटकों में संकलनत्रय की इतिश्री के साथ ही और भी परिवर्तन हुए हैं। ऐतिहासिक विषय छोड़ अब सामाजिक विषय अपनाए जा रहे हैं। अभिजातवर्ग को छोड़ मानव-मात्र में अभिरुचि बढ़ रही है। व्यक्ति को छोड़कर समाजगत संस्था में प्रेम बढ़ रहा है। स्वगतकथन आदि अस्वाभाविक अभिनय तो कम हो ही रहे हैं, बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष के प्रति रुझान भी बढ़ती जा रही है। प्रगतिवादी नाटक तो अब दूसरे चरम पर पहुँच रहा है।

नाटक-काव्य—कविता में लिखे गये संवादों वाला नाटक। हिन्दी के पुराने भक्तिकालीन और रीतिकालीन नाटक इसी कोटि में आते हैं। सुदामा-चरित्र (नरोत्तम-दास) भी एक नाटक काव्य है। आधुनिक नाटक-काव्य की शैली में प्रवाह अधिक आ गया है और चरित्र-चित्रण का विकास हुआ है। गुप्त जी (मै० श०) का अनघ,

निराला का पंचवटी प्रसंग, उदयशंकर भट्ट की मत्स्यगंधा सुन्दर नाटक काव्य हैं।

नाटक लक्षण—नाटक में रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले साधन। इनकी संख्या ३६ है। पहला अलंकारों और काव्य गुणों का संयोग 'भूषण' है। दूसरा विचित्र अर्थ वाले थोड़े से अक्षरों से किया गया-वर्णन 'अक्षर-संघात' है। जहाँ प्रसिद्ध अर्थ के साथ अप्रसिद्ध अर्थ भी प्रकाशित किया जाए वह श्लिष्ट, सुकुमार और विचित्र अर्थ वाली रचना 'शोभा' है। जहाँ समानार्थक वाक्यों द्वारा अभिमत प्रकट किया जाए, वह 'उदाहरण' है। संक्षिप्त वाक्य जहाँ हेतु बताकर अभिमत प्रदर्शन करे, वह 'हेतु' है। अज्ञात वस्तु का अनिश्चय 'संशय' है। पक्ष में अर्थ साधने के लिए हेतु देना 'दृष्टान्त' है। प्रकृत पदार्थ द्वारा तर्क करने को 'तुल्य तर्क' कहते हैं। अर्थ के अनुरूप पदों का गुंफन 'पदोच्चय' है। जहाँ दूसरे के पक्ष का खंडन करने के लिए प्रसिद्ध वस्तु का निरूपण हो, वह 'निदर्शन' है। सादृश्य के कारण असम्भव की कल्पना 'अभिप्राय' है। एक अंश से दूसरे अंश का अनुमान होना प्राप्ति है। युक्तियुक्त वाक्यों से अप्रत्यक्ष अर्थ का साधना 'विचार' है। देशकाल के अनुरूप वर्णन दिष्ट है। शास्त्रानुकुल मनोहर वचन 'उपदिष्ट' है। गुणों के विरुद्ध कार्य हो जाना 'गुणातिपात' है। साधारण गुणों की उत्कृष्टता 'गुणातिशय' है। अनेक प्रसिद्ध वस्तुएँ बता फिर एक में कुछ विशेषता बताना 'विशेषण' है। पूर्वसिद्धि अर्थ का निरूपण 'निरुक्ति' है। अभिमत सिद्धि के लिए अनेक बातें कहना 'सिद्ध' है। प्रमत्त या दुखित लोगों की बात कर अभिमत से विरुद्ध अर्थ करना 'भ्रंश' है। सन्देह के कारण विचार बदल देना 'विपर्यय' है। चेष्टा या वाणी द्वारा किसी के चित्त को प्रसन्न करना 'दाक्षिण्य' है। स्नेहपूर्ण वाक्यों से कार्यसाधन 'अनुनय' है। अभीष्टार्थ की सिद्धि के लिए अनेक अर्थों का प्रतिपादन 'माला' है। दूसरे अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति 'अर्थापत्ति' है। दोषोद्‌घाटन के समय की भर्त्सना 'गर्हण' है। प्रार्थनापरक वाक्यों से बात जानना 'पृच्छा' है। लोकप्रसिद्ध उत्कृष्ट अर्थों से अर्थ का साधना 'प्रसिद्धि' है। अनुरूप वस्तु की सरूपता के कारण क्षोभ बढ़ना 'सारूप्य' है। थोड़े में आत्मसमर्पण 'संक्षेप' है। गुणों का वर्णन 'गुणकीर्त्तन' है। सादृश्य बताते हुए वाक्य कहना 'लेश' है। दूसरे ढंग से अभिप्राय बताना 'मनोरथ' है। किसी विशेष पदार्थ की ऊहा का विस्तार 'अनुक्तसिद्धि' है। पूजनीय व्यक्ति में आदर दिखाने के लिए सहसा प्रिय वचन कहना 'प्रियोक्ति' है। ३३ नाट्यालंकार, और ये ३६ नाटक-लक्षण प्रायः एक ही हैं और बहुतों का गुण, भाव, अलंकार, सन्धि आदि में अन्तर्भाव भी हो जाता है। पर नाटक में इनकी विशेष आवश्यकता बताने के लिए इनका अलग निरूपण किया जाता है।

नाटक-संबोधन—पात्रों के पारस्परिक व्यवहार मे प्रयु होने वाले प्राचीन

संबोधन शब्द। शास्त्रकारों ने इन सम्बोधनों के कुछ नियम बनाये थे, जैसे राजा को बड़े सेवक देव या स्वामी कहें और निचले सेवक भद्र। राजर्षि और विदूषक उसे वयस्य कहते हैं। ऋषि राजन् या अपत्य-प्रत्यय लगा कर (यानी पौरव, दाशरथि) कहें। ब्राह्मण आपस में नाम लें या अपत्य प्रत्यय का प्रयोग करें। अन्य क्षत्रियादि ब्राह्मणों को आर्य कहें। राजा विदूषक को वयस्य कहे या नाम ले। नटी-सूत्रधार परस्पर आर्य-आर्यें कहें। पारिपार्श्विक सूत्रधार को भाव कहे और सूत्रधार उसे मारिष। अधम लोग परस्पर 'हंडे' कहें, मध्यम 'हंहो' और उत्तम 'वयस्य'। बड़े भाई को सब आर्य कहें। देवताओं, ऋषियों और संन्यासियों को सब भगवान् कहें। विदूषक रानी और चेटी को भवती कहे। रथी को सारथी आयुष्मन् कहे। वृद्ध को युवक और बालक तात कहें। शिष्य, छोटे भाई और पुत्र को वत्स, पुत्रक और तात कहा जाए या गोत्र-नाम लिया जाए। अधम पात्र अमात्य को आर्य कहें, ब्राह्मण इसे अमात्य या सचिव कहें। तपस्वियों को उत्तम पात्र 'साधो' कहें। शिष्य आदि आचार्य को पूज्य, सुगृहीत-नामेधय या उपाध्याय कहें, राजा को महाराज या स्वामी और युवराज को कुमार कहें। अधम पात्र या नौकर-चाकर युवराज को भद्र, सौम्यमुख या भर्तृदारक कहें और राजपुत्री को भर्तृदारिका। जैसे पति से कहा जाए तदनुरूप ही उनकी पत्नियों से जैसे ऋषिपत्नी को 'भगवती'। सखी को हला, दासी को हंजे, वेश्या को अज्जुका, कुट्टनी और बूढ़ी स्त्री को अंबा, और शकादि के अन्त में भद्र, दन्त लगाया जाए। शेष विद्या, जाति या कला के अनुरूप पुकारे जाएँ। यह सूची विश्वनाथ कविराज की है। स्पष्ट ही नए नाटकों में इनका प्रयोग न चल सका।

नाटकीय रूढ़ियाँ—नाटक देखते समय दर्शक द्वारा जान-बूझकर अविश्वास को निलंबित कर स्वीकार की गई कुछ अयथार्थ बातें। कुछ घण्टों में अधिक समय की घटना का समेटना, उसी मंच पर विविध स्थानों के दृश्य उपस्थित करना, कमरे आदि के दृश्य में सामने की चौथी दीवाल की अनुपस्थिति आदि अनेक नाटकीय रूढ़ियाँ हैं।

नाटकीय व्यंग—रंगमंच पर की गयी कोई बात, जिसका दर्शकों के निकट मंच के पात्रों की अपेक्षा कुछ अधिक मूल्य हो। पात्र उतनी घटना जानते हैं जितनी से उनका सम्बन्ध रहता है, पर दर्शकों को बहुत अधिक पता रहता है। इसी से व्यंग की सृष्टि हो जाती है।

नाटिका—**नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरंकिका।**
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः।
स्यादन्तःपुरसंबद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा।

संप्रवर्तेत नेताऽस्यां देव्यास्त्रासेन शंकितः ।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ।
पदे पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥

—साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। इसमें कथा कविकल्पित होती है। अंक चार होते हैं। नायक-प्रसिद्ध धीर ललित राजा होता है। और नायिका रनवास से सम्बन्धित, या गानेवाली या नवानुरागवती राजवंश की कोई कन्या होती है। स्त्रियां बहुत होती हैं। नायक का प्रेम देवी (महारानी) के भय से शंकायुक्त होता है। देवी राजवंश में उत्पन्न प्रगल्भा (प्रौढ़ा) नायिका होती है। यह पद-पद पर मान करती है। दोनों का संगम इसी के वश में होता है। कैशिकी वृत्ति और अल्प विमर्श या विमर्श-रहित अन्य सन्धियां होती हैं। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण रत्नावली बताते हैं।

नाट्य—नृत्य या भावों के अभिनय के साथ-साथ कथोपकथन का भी होना।

नाट्यगृह—रंगमंच का अन्य नाम। विशेष दे० रंगमंच।

नाट्यरासक—उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद।

नाट्यरासकमेकांकं बहुतालयस्थिति,
उदात्तनायकं तद्वत् पीठमर्दोपनायकम् ।
हास्योऽङ्गयत्र सश्रृंगारो नारीवासकसज्जिका,
मुखनिर्वहणे संधी लास्याङ्गानि दशापि च ।
केचित्प्रतिमुखं संधिमिह नेच्छन्ति केवलम् । —साहित्यदर्पण

इस एकांकी में ताल-लय बहुत रहती है। नायक उदात्त होता है। और उप-नायक पीठमर्द (दे० यथा०) श्रृंगार और हास्य धान रस होते हैं। नायिका वासक सज्जा (दे० यथा०) होती है। सभी लास्यांग और मुख और निर्वहण सन्धियां होती हैं। कुछ लोग इसमें प्रतिमुख को छोड़ शेष चारों सन्धियां बताते हैं। संस्कृत में इसके उदाहरण नर्मवती और विलासवती हैं।

नाटयशाला—रंगमंच का अन्य नाम। विशेष दे० रंगमंच।

नाट्यशास्त्र—नाटक रचना के नियम। अब अभिनेता की कला आदि का भी इस में समन्वय होने लगा है।

नाट्यालंकार—नाटक में रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले तैंतीस अलंकार। ये नाटक में आभूषण-तुल्य होते हैं। प्रियजनों का आशीर्वाद 'आशीष' है। शोक में विलाप 'आक्रंद' है। माया के कारण और का और रूप भासित होना

'कपट' है। जरा सा भी अपमान न सहना 'अक्षमा' है। घमंड वाले वाक्य का कहना 'गर्व' है। कार्य का आरंभ 'उद्यम' है। उत्कृष्ट गुणयुक्त कार्य के हेतु का ग्रहण 'आश्रय' है। अपने सज्जन मानने वाले असज्जन का उपहास 'उत्प्रासन' है। रमणीय वस्तु की आकांक्षा 'स्पृहा' है। आक्षेपयुक्त वचन कहलाने वाला 'क्षोभ' है। अज्ञान से किसी का तिरस्कार कर फिर दुखी होना 'पश्चात्ताप' है। अर्थसिद्धि के लिए कारण बताना 'उपपत्ति' है। आशा करना 'आशंसा' है। प्रतिज्ञा को 'अध्यवसाय' कहते हैं। अनिष्ट फल देने वाला कार्यारंभ 'विसर्प' है। कार्य का निर्देश करना 'उल्लेख' है। अपना कार्य साधने के लिये किसी को तेज शब्दों में प्रेरित करना 'उत्तेजन' है। डांटना 'परीवाद' है। शास्त्रानुकूल व्यवहार 'नीति' है। उपालंभ देने के लिए किसी की बात की अनेक प्रकार से आलोचना 'अर्थ विशेषण' है। किसी को प्रोत्साहित करना 'प्रोत्साहन' है। संकट के समय दूसरे के अनुकूल आचरण 'साहाय' है। अहंकार 'अभिमान' है। विनय पूर्वक अनुगमन 'अनुवृत्ति' है। अतीत कार्य का उल्लेख 'उत्कीर्तन' है। स्वयं या दूत से होकर कुछ मांगना 'याचना' है। किए हुए अनुचित कार्य की सफाई 'परिहार' है। अनभिमत कार्य का कहना 'निवेदन' है। काम का भली-भांति चलाना 'प्रवर्तन' है। पुरानी कहानी कहना 'आख्यान' है। अर्थ का निश्चय करना 'युक्त' है। बहुत हर्ष होना 'प्रहर्ष' है। शिक्षा देना 'उपदेशन' है। ३६ नाटक-लक्षण और ये प्राय: एक ही हैं और बहुतों का गुण, अलंकार और भाव आदि में अंतर्भाव भी हो जाता है। पर नाटक में इनकी आवश्यकता बताने के लिए इन का अलग निरूपण किया जाता है।

नाट्योक्ति—नाटक में पात्र का चरित्र और अभिप्राय प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले संवाद के प्रकार। ये पांच हैं।

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं यतम्।
सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवरितम्।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते।
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामंत्रणं यत्स्यात्तज्जनांते जनांतिकम्।
किं ब्रबीषीति यन्नाट्ये बिना पात्रं प्रयुज्यते।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम्। —साहित्यदर्पण

जो सभी (सामाजिक और ंच पर के दूसरे पात्र) सुनें, वह संवाद का प्रकार 'प्रकाश' कहलाता है। जो बात पात्र आप ही आप मन में कहता है, वह स्वगत-कथन (दे० यथा०) है। जो बात किसी एक से छिपाकर दूसरे पात्र से फिरकर कही जाए वह अपवारित का अपवार्य-कथन (दे० यथा०) है। त्रिपताक (अनामिका को झुका और

शेष अँगुलियां उठाकर उस हाथ से किसी पात्र की आड़ कर लेना) करके दूसरों से बचा कर कथा के बीच ही जो दो आदमी आपस में कुछ बात करने लगते हैं, वह 'जनांतिक' है। बिना किसी दूसरे पात्र के ही जब यदि कोई पात्र 'क्या कहा ?' प्रश्न पूछ उत्तर देने के लिए उसकी बात दुहराता है तब 'आकाशभाषित' होता है। जनांतिक और अपवारित में इतना ही भेद है कि पहले में त्रिपताक करके और लोगों से छिपा दूसरेसे बात की जाती है और दूसरे में घूमकर गुप्त बात कही जाती है। इन पांच भेदों के सिवा पर्दे के पीछे से कहे जाने वाले कथन को 'नेपथ्य कथन' कहते हैं। ये पुरानी रीतियां आज के नाटकों में प्रयुक्त नहीं की जातीं और केवल 'प्रकाश' कथन को ही अपनाया जाता है। कुछ लोग नाट्योक्ति के नियत श्राव्य, सर्वश्राव्य और अश्राव्य तीन भेद करते हैं, जो ऊपर स्पष्ट हैं। (विशेष दे० अपवार्य-कथन, स्वगत-कथन)।

नामौचित्य—भाष्यकार का कथन कि शब्द का उचित प्रयोग कामधेनु के समान वांछित अर्थ की सिद्धि देने वाला होता है, व्यक्तिवाचक शब्दों अथवा नामों के प्रयोग में और भी अधिक विचारणीय होता है। प्राचीन रससिद्ध कवि नामों के प्रयोग के औचित्य पर विशेष ध्यान रखते थे। वैसे तो मनोभव तथा पंचबाण दोनों ही कामदेव के नाम हैं, परन्तु प्रसंगानुसार जहाँ कामना का उद्भव हो वहाँ प्रथम नाम तथा जहाँ कामना द्वारा मानसिक पीड़ा की भावना अभिप्रेत हो, द्वितीय नाम अधिक सार्थक रहेगा। इस प्रकार के नामौचित्य का ध्यान तुलसी आदि हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों ने बहुत कुछ रखा है।

नायक—**त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रुपयौवनोत्साही**
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता। —साहित्यदर्पण

त्याग करने वाला, शीघ्र कार्य करने में कुशल, कृतज्ञ, कुलीन लक्ष्मीवान्, रूप, यौवन और उत्साह से युक्त तेजस्वी, लोगों की प्रेम-श्रद्धा का पात्र चतुर और सुशील पुरुष काव्यों और नाटकों में नायक कहा जाता है। यह नायक की पुरानी शास्त्रीय परिभाषा है। नाटकों के भेदों में नामत: समवकार और डिम में बारह और सोलह नायकों तक की बात कही गई है। किन्तु वस्तुतः एक सुसंम्बद्ध, संघटित एवं सुयोजित कथानक में एक ही पात्र ऐसा होगा, जिसमें समग्र पात्रों की श्रद्धा केन्द्रित हो और जो सारी घटनाओं का केन्द्रबिन्दु हो। उपन्यासों आदि में कभी-कभी संशय हो जाता है कि नायक कौन है, ऐसी स्थिति में उपर्युक्त सूत्र द्वारा ही एक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। आज नायक के लिए कुलीनता तथा सश्रीकता ये दो गुण आवश्यक नहीं रह गये हैं और इन गुणों से सर्वथा रहित पुरुषों को प्रमुख पात्र का स्थान दिया जाने लगा है। आचार्य परंपरा इसके धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर प्रशांत भेद बताती है। भेद दे० यथा०।

नायिका—काव्य, कहानी, नाटक उपन्यास आदि में प्रधान स्त्री-पात्र। शृंगार रस की आलंबन होने के कारण हमारे रीतियुग में इसके भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन हुआ है। अवस्था भेद से यह मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा-तीन प्रकार की मानी जाती है। कवियों द्वारा अवस्था-संधि या वयःसंधि के सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं। इसके अभिसारिका, प्रोषितपतिका कलहांतरिता, स्वकीया, परकीया, सामान्या (वेश्या आदि) आदि और भी न जाने कितने भेद गिनाए गये हैं। आचार्य म० प्र० द्विवेदी ने अपने रसज्ञरंजन ने नायिका-भेद पर एक उपयोगी निबन्ध लिख इस ओर दिए गये आवश्यकता से अधिक ध्यान की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

नायिकालंकार—यौवनागम पर नायिकाओं के सत्वसमुद्भूत २० अलंकार होते हैं। भाव, हाव और हेला ये तीन अंगज हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज हैं। ये अंगज और अयत्नज दस अलंकार नायकों के भी हो सकते हैं। इसके सिवा लीला, विलास, विच्छित्ति विलोक, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि ये अठारह अलंकार स्वभावज हैं, पर ये यत्नसाध्य भी हैं। ये सभी स्त्रियों में चमत्कार को बढ़ाते हैं। (भेद यथा० दे०)।

नारी—"नारी मा", प्रत्येक पाद में एक मगण (ऽऽऽ) वाला मध्या जाति का समवृत्त छन्द।

नाराच—पञ्चचामर नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० पञ्चचामर।

नालिका—वीथी नामक रूपक के तेरह अंगों में से एक। विशेष दे० वीथी।

निदर्शन—नाटक में रस-पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

निदर्शना—एक अर्थालंकार, जिसमें वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध संभव (अबाधित) या असंभव (बाधित) होकर, उनके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (दे० दृष्टान्त) का बोधन करता है।

> **संभवन्वस्तुसम्बन्धोऽसंभवन्वाऽपि कुत्रचित्।**
> **यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना॥**—साहित्यदर्पण

इसमें सादृश्य फल वाले दो उपात्त अर्थों में अभेद दिखाया जाता है। संभव वस्तु सम्बन्ध निदर्शना जैसे—"लोगों को व्यर्थ तपाने से किसे सदा सुख मिलता है, ग्रीष्म के दिन द्वारा यह बताता हुआ सूर्य अस्ताचल को चल दिया।" यहाँ बताने क्रिया में सूर्य का वक्ता रूप से सम्बन्ध हो सकता है और सूर्य के अस्त होने और तापदाताओं

के विपत्ति में पड़ने में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (सादृश्य) प्रतीत होता है। असम्भव वस्तु निदर्शना एक वाक्यगा और अनेक वाक्यगा दो प्रकार की होती है। एक वाक्यगा जैसे—"इस नायिका का कटाक्ष नील कमलों के, अधरोष्ठ पल्लव के और मुख चन्द्रमा के विलास को धारण करता है।" यहाँ वैसा विलास असंभव हो तत्सदृश विलास का प्रतिबिम्बन करता है। अनेक वाक्यगा यथा—

जंग जीति जे चहत हैं, तोसों बैर बढ़ाय।
जीवे की इच्छा करत कालकूट ते खाय॥

यहाँ बैर बढ़ा जीतने की इच्छा और कालकूट खाकर जीने की इच्छा दोनों सादृश्य फल वाले वाक्यों का अर्थ अभेद दिखाया गया है। यहाँ "जे" और "ते" का सीधा अन्वय न होने पर दोनों के सादृश्य का प्रतिबिम्बन होता है।

अपनी सदसत् क्रिया द्वारा शिक्षा देने में भी निदर्शना होती है—

है सुफूल फल दल सुद्रुम यह उपदेसत ज्ञान।
लहि सुख संपत कीजिए आये को सन्मान॥

माला निदर्शना देखिए—

भरिबो है समुद्र को शंबुक में छिति को छगुनी पर धारिबो है,
बंधिबो है मृणाल सों मत करी, जुहीफूल सों सैल विदारिबो है।
गनिबो है सितारन को कवि संकर, रेणु से तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढन को, सविता गहि भूमि में डारिबो है॥

निद्रा—चेतःसंमीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वास गात्रभंगादिकारणम् —साहित्यदर्पण

परिश्रम, ग्लानि, और नशे आदि से पैदा चित्त का समीलन या बाह्य विषय से निवृत्ति। इसमें जँभाई, अँगड़ाई, आँख मीचना और उच्छ्वास आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

होकर विदेह-सा विकार आत्म-चेतना,
बन्द हुई आँखें हुआ शिथिल शरीर भी। —आर्यावर्त

निपातवक्रता—पदवक्रता का एक भेद। विशेष दे० पदवक्रता।

निबन्ध—संक्षेप और अभिव्यक्ति की विचित्रता के गुणों से युक्त किसी विषय पर लिखा गया गद्य-प्रबन्ध यह लेखक के व्यक्तित्व से विशेष सम्बन्धित रहता है। कल्पना की काफी गुंजाइश रहती है। आकार और प्रकार की दृष्टि से इसके अनेक भेद किये गए हैं। शुक्ल जी के मत से गद्य यदि लेखक की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। विचारात्मक, भावात्मक और वर्णनात्मक इसके प्रमुख प्रकार हैं, जिनका मिश्रण भी देखने को मिलता है। लक्ष्यभेद से तथा लेखक के व्यक्तित्व के कारण शैलियाँ

भी अनेक प्रकार की हो जाती हैं। बेकन विचार रत्नावली (बेकन के निबन्धों का अनुवाद) और निबन्ध-मालादर्श (चिपलूणकर के मराठी निबन्धों का अनुवाद) नामक अनुवादों से हिन्दी में निबन्धों का आरम्भ हुआ, जो आचार्य द्विवेदी के काल से ही मशः पनपता रहा है और अब हिन्दी साहित्य का एक सुविकसित अंग हो गया है।

नियतश्राव्य—नाटक का एक विशिष्ट संवाद-प्रकार। विशेष दे० नाट्योक्ति।

नियताप्ति—नाटक में चौथी अवस्था। विशेष दे० अवस्था, अर्थप्रकृति, संधि, वस्तु।

निरंग—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

निरर्थकत्व—निरर्थक शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न दोष। (दे० यथा०)।

निरवयव—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

निरुक्ति (१)—एक शब्दालंकार, जिसमें किसी के नाम की दूसरी व्युत्पत्ति निकाली जाती है। जैसे—

भये साँचे जू गोपाल राच्यो राधा सों वियोग है।—दूलह

राधा से वियोग साध सकना सचमुच गोपालत्व (इन्द्रियजितत्व) है।

निरुक्ति (२)—नाटक में रस-दृष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

निर्णय—निर्वहण नाटक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

निर्मुक्तपुनरुक्तत्त्व—समाप्तपुनरात्तत्व नामक दोष का अन्य नाम। विशेष दे० समाप्तपुनरात्तत्व।

निर्वहण—नाटक की पाचवीं और अन्तिम सन्धि। वह कार्य अर्थप्रकृति (दे० यथा०) की अन्तिम अवस्था फलागम के समानान्तर चलने वाला नाटक की वस्तु का अन्तिम विभाग है। मुख आदि सन्धियों से होकर क्रमशः विकसित फल प्रधान मुख्य अर्थों का यहाँ एक ही प्रयोजन में समन्वय हो जाता है। प्रभाव को चिरस्थायी बनाने के लिए इसका सशक्त होना नितान्त अपेक्षित है और एक कला-विशारद नाटककार इस बात को बिसरा नहीं सकता। इसे साधारणतः उपसंहार भी कहते हैं।

बीजवन्तो मुखाद्यर्थाः विप्रकीर्णाः यथायथम्।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥ —साहित्यदर्पण

दर्पणकार इसके निम्न चौदह अंग बताते हैं। पहला अंग बीजभूत अर्थ की उद्भावना "संधि" है, दूसरा कार्य का अन्वेषण "विबोध" है, तीसरा कार्यों का ग्रथन "उपन्यास" है, चौथा अनुभूत अर्थ का कथन "निर्णय" है, पाँचवाँ निन्दा भरे वाक्य "परिभाषण" है, छठा प्राप्त अर्थ से शोकादि शमन "कृति" है, सातवां शुश्रूषा आदि "प्रसाद" है, आठवां अभीष्ट-प्राप्ति "आनन्द" है, नवाँ दुख निकल जाना "समय"

है, दसवां अद्भुत वस्तु की प्राप्ति "उपगूहन" है, ग्यारहवाँ साम और दान आदि "भाषण" है, बारहवाँ पूर्वोक्त अर्थ का उपदर्शन "पूर्ववाक्य" है, तेरहवां वर-प्राप्ति "काव्यसंहार" है और चौदहवा नृप और देश आदि की शान्ति "प्रशस्ति" है। (विशेष दे० संधि, अर्थप्रकृति, वस्तु, नाटक)

निर्वेद—तत्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निवेदः स्वावमाननम् ।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥ —साहित्यदर्पण

दरिद्रता, अपमान, व्याधि, इष्ट वियोग, तत्वज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्या आदि के कारण अपने को धिक्कारने का भाव। इससे दीनता, चिन्ता, आँसू, उच्छ्वास आदि पैदा होते हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

हाय दुर्भाग्य इन्हीं आँखों से देखा है।
मैंने आर्य-पति को गँवाते नेत्र अपने ॥ —आर्यावर्त

निर्हेतुत्व—पहली बात का हेतु बताकर भी दूसरी तत्समान बात का हेतु न बताने से उत्पन्न अर्थ दोष (दे० यथा०)। जैसे—'हे शस्त्र, पिता (द्रोण) ने पुत्र-शोक में तुमको छोड़ा था, तुम्हारा कल्याण हो, मैं (अश्वत्थामा) भी तुमको छोड़ता हूँ।' यहां अश्वत्थामा के शस्त्र-त्याग का कारण नही बताया गया।

निवृत्ति—भाणिका नामक उपरूपक के ७ अंगों में से एक। विशेष दे० भाणिका।

निवेदन—नाटक में रस-पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

निश्चय—एक अर्थालंकार जिसमें अन्य आरोप्यमाण (उपमान) का निषेध कर प्रकृत (उपमेय) का स्थापन किया जाता है।

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ।— साहित्यदर्पण

भ्रम को दूर कर वास्तविक बात बताने के कारण इसे तत्वाख्यानोपमा भी कहते हैं। जैसे—

बेसर मोती-दुति-झलक, परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछो जाय ॥

यहां आरोप्यमाण "चूने" का निषेध कर प्रकृत "मोती की झलक" का स्थापन किया गया है। इसे निश्चयान्त सन्देहालंकार नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें संशय और निश्चय एक ही में रहा करते हैं। यहां संशय नायिका को है। उसी ने झलक को चूना समझा है और निश्चय सखी को है। सन्देह में विरुद्ध ज्ञान की दोनों कोटियां बराबर रहती हैं। निश्चय में एक कोटि प्रबल हो जाती है। उधर नायिका को होने वाली भ्रान्ति के चमत्कार न होने से यह भ्रांतिमान् अलंकार भी नहीं है। सखी की

उक्ति ही चमत्कारक है, नायिका की खिन्नता-निवारण के लिए यह उसका कथन है। निश्चित न होने से यह रूपक ध्वनि भी नहीं। प्रकृत झलक के स्वरूप का निषेध न होने से यहाँ अपन्हुति भी नहीं। अतः यह अलग अलंकार है।

निश्चयमध्य सन्देह—सन्देह अर्थालंकार के सन्देह का एक भेद। विशेष दे० सन्देह।

निश्चयान्त सन्देह—सन्देह अर्थालंकार के सन्देह का एक भेद। विशेष दे० सन्देह।

निहतार्थता—दो अर्थ वाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करने से यह दोष (दे० यथा०) पैदा हो जाता है।

नीति—नाटक में रस-पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

नीलस्वरूप—दोधक नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० दोधक।

नृत्त—ताल के ऊपर पद-संचालन। यह समय की नाप-तौल पर चलता है।

नृत्य—नाचना, पर विशेषतः अंगविक्षेप (पद-विक्षेप भी) द्वारा भावों का अभिनय। तांडव नृत्य शिव का प्रलय नृत्य है, जिसमे कठोर मुद्राएँ होती हैं। लास्य उनके नृत्य का अनुद्धत और कोमल स्वरूप है।

नेपथ्य—नाटक के मंच पर यवनिका के पीछे का भाग। नाटकीय सज्जा को नेपथ्य-रचना कहते हैं। नेपथ्य-भाषण या नेपथ्य-कथन के लिए दे० नाट्योक्ति और भी दे० नाटक, रंगमंच।

नेयार्थता—रूढि और प्रयोजन के, जिनके कारण लक्षणा की आवश्यकता होती है, बिना ही लाक्षणिक पद का प्रयोग करने से पैदा होने वाला दोष (दे० यथा०), जैसे "तुम्हारे मुख ने कमल में लात मारी", यहाँ जीतने के लिए लात मारने में नेयार्थता है।

न्यायमूलक—अलंकारों का एक वर्ग। विशेष दे० अलंकार।

न्यायवृत्ति—वृत्ति का एक भेद। विशेष दे० वृत्ति।

न्यून-अभेद—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

न्यून-तद्रूप—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

न्यूनपदत्व—इष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाले पूरे पदों (शब्दों) का प्रयोग न होने से उत्पन्न होने वाला काव्य-दोष। बाबू गुलाबराय जी उदाहरण देते हैं—

उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुन की, बैर वितिक्रम जानि॥

इसमें बिना और शब्द जोड़े अर्थ नहीं बैठता।

पंकजवाटिका—एकावली नामक वर्णवृत्त का एक अन्य नाम। विशेष दे० एकावली।

पंकजावली—एकावली नामक वर्णवृत्त का एक अन्य नाम। विशेष दे० एकावली।

पंकावली—एकावली नामक वर्णवृत्त का एक अन्य नाम। विशेष दे० एकावली।

पंक्ति—"भा गग पंक्ति", प्रत्येक पाद में एक भगण और दो गुरु (ऽ।। ऽऽ) वाला सुप्रतिष्ठा जाति का समवृत्त छन्द।

पंक्ति—१० अक्षरों वाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्त-जाति।

पंचचामर—ज रा ज रा ज गा कहैं कवींद्र पंचचामरम् जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और गुरु से बनने वाला अष्टि जाति का समवृत्त छन्द। इसे नाराच और नागराज भी कहते हैं।

पंचसन्धि—नाटक में प्रयुक्त होने वाली पाँच संधियों का संयुक्त नाम। विशेष दे० संधि।

पणव—प्रणव नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० प्रणव।

पताका—नाटक की पाँच अर्थप्रकृतियों में तीसरी। विशेष दे० अर्थप्रकृति।

पताकास्थानक—नाटक में जहाँ प्रयोग करने वाले पात्र को तो अन्य अर्थ अभिलषित हो किन्तु सादृश्य आदि के कारण आगंतुक (अचिन्तित रूप में आए) पदार्थ द्वारा कोई दूसरा ही प्रयोग हो जाए। इसके चार भेद हैं। पहले में उपचार द्वारा झट अधिक गुणयुक्त अर्थसम्पत्ति पैदा हो जाती है, जैसे रत्नावली में सागरिका को वासव-दत्ता समझ उपचार करके फाँसी से बचाते समय राजा को पता लगता है कि यह सागरिका है और पहले से अधिक अभीष्ट हो जाता है। दूसरे में अनेक बन्धों में आश्रित अत्यन्त श्लिष्ट बात कही जाती है, जैसे बेणीसंहार में कौरवों के स्वस्थ (स्वर्गस्थ या हृष्टपुष्ट) होने की बात कही गई है। तीसरे में दूसरे अर्थ को बताने वाली अव्यक्त अर्थ

वाली विशेष निश्चय-युक्त बात भी होती है और उसका वैसा ही उत्तर भी, जैसे बेणीसंहार में कंचुकी और राजा दुर्योधन की 'भग्नं भग्नं' वाली बातचीत जिसमें कंचुकी तो भीषण पवन द्वारा पताका के गिर पड़ने की बात कहता है, पर दुर्योधन और दर्शकों के निकट भीम द्वारा दुर्योधन की जाँघ टूटने का अर्थ निकलता है। चौथे में भी सुन्दर, श्लिष्ट और द्व्यर्थक वचन-विन्यास द्वारा प्रधान अर्थ की सूचना होती है जैसे रत्नावली में राजा के सागरिका पर अनुराग और वासवदत्ता का मुख क्रोध में लाल होने की सूचना लता को देखते हुए वासवदत्ता को चिढ़ाने वाली राजा की कल्पना में है।

पतत्प्रकर्षत्व—अनुप्रास आदि के क्रम से गिरते-गिरते अन्त तक बिलकुल गिर जाने से उत्पन्न वर्ण-दोष (दे० यथा०)।

पत्र—प्रकाशन के लिए अनुभिप्रेत व्यक्तिगत रूप का साहित्य। कभी-कभी सार्वजनिक उपयोग का होने के कारण प्रसिद्ध व्यक्तियों का पत्र-व्यवहार प्रकाशित भी हो जाता है। लेखक के प्रतिष्ठित होने पर वह समकालीन घटनाओं आदि की आलोचना करता है और अपने अनुभव के सहारे प्रौढ़ टिप्पणियाँ देता है और इस प्रकार अनजाने ही अपने चरित्र और दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है। पत्रात्मक कहानियाँ या पत्र-गीतियाँ भी लिखी जाती हैं।

पत्र-गीति—पत्र के रूप मे लिखी जाने वाली कविता। अंग्रेज़ी के एपिस्टिल पहले पत्र के ही पर्याय थे, पीछे उनसे कुछ बाइबिल सम्बन्धी विशेष निबन्धों का अर्थ निकलने लगा। हडसन इन कवित्वपूर्ण पद्यात्मक पत्रों को गीति-काव्य में समेटते हैं। इसमें गीति-काव्य की अभ्यांतरिकता अवश्य होती है, पर यह गेय नहीं होता। शैली भी वर्णनात्मक होती है। बँगला के माइकेल मधुसूदनदत्त की वीरांगना के अनुकरण में हिन्दी में भी पत्रगीतियाँ लिखी गईं। गुप्तजी की पत्रावली इसी शैली में है। 'पृथ्वीराज का राणा ताप को पत्र', मुंज का अपने चाचा भोज को पत्र, और 'कर्णावती का हुमायूँ को पत्र', हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रगीतियाँ हैं। (दे० गीति-काव्य)।

पत्रिका—कहानी, निबन्ध, लेख, आलोचना, एकांकी आदि विविध विषयों से युक्त और निश्चित समयावधि पर प्रकाशित होने वाला सामयिक साहित्य।

पद—प्रयोग के योग्य, अनन्वित एक अर्थ के बोधक वर्णों को पद कहते हैं, जैसे 'घट'। यह घ और ट इन दो वर्णों का समुदाय प्रयोग के योग्य है तथा यह दूसरे पदार्थ से असम्बद्ध (अनन्वित) एक अर्थ (घड़े) की प्रतीति कराता है, अतः यह पद है। कभी-कभी एक वर्ण का भी एक पद हो जाता है, यदि वह वर्ण प्रयोग के योग्य हो और दूसरे पदार्थ से असम्बद्ध एक अर्थ की प्रतीति कराए।

पद-दोष—दोषों का एक वर्ग। विशेष दे० दोष।

पद-परार्ध-वक्रता—पद के उत्तरार्ध के कारण कुछ लोग इसे प्रत्यय-वक्रता के नाम से भी पुकारते हैं। इसमें काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह या तीनों प्रकार के (कर्तृ, कर्म, भाव) वाच्य, निपात और अव्यय आदि के चमत्कारपूर्ण प्रयोग द्वारा निष्पन्न होने वाली वक्रता का ग्रहण किया गया है। कुंतक ने इसको वक्रोक्ति के ६ प्रधान भेदों में गिना है। पद-पूर्वार्ध-वक्रता के साथ पद-परार्ध-वक्रता का भी निर्देश करके उन्होंने उसे दो भागों मे भी बाँट दिया है।

पद-पादाकुलक—सोलह मात्राओं और प्रारम्भ में द्विकल (दो मात्राओं का एक साथ पढ़ा जाने वाला समूह) होने से बनने वाला संस्कारी जाति का सम-मात्रा-छन्द। इसे इन्दुकला भी कहते हैं।

पदपूर्वार्धवक्रता—कुंतक द्वारा किए गए वक्रोक्ति के ६ प्रमुख भेदों में से एक यह भी है। उन्होंने इसके अन्तर्गत इन वक्रताओं का निरूपण किया है—रूढ़िगत शब्दों की वक्रता, पर्यायवाचक शब्दों की वक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण-वक्रता, संवृत्ति-वक्रता, वृत्ति (समास और तद्धित प्रत्यय) वक्रता, भाव-वक्रता, लिंगवक्रता तथा क्रियावक्रता। वस्तुतः पदपूर्वार्ध का अर्थ है शब्द के पूर्वार्ध में लगने वाले उपसर्ग आदि की वक्रता और पद परार्धवक्रता में शब्द के पीछे लगने वाले प्रत्यय आदि की वक्रता का निरूपण किया ही जाता है। फिर यह वर्गीकरण जिसमें कुछ प्रत्ययों को पदपूर्वार्ध-वक्रता में तथा अन्य प्रत्ययों को पदपरार्ध वक्रता में मनमाने ढंग से विभाजित कर दिया गया है। कुछ अनोखा-सा ही प्रतिभासित होता है।

पदवक्रता—नाम (संज्ञा), आख्यात (धातु), उपसर्ग तथा निपात (अव्यय)—इन चारों प्रकार के पदों की वक्रता का अन्तर्भाव इस वक्रता में होता है। संज्ञा और धातु की वक्रताओं की चर्चा अन्यत्र इन्हीं नामों की वक्रताओं द्वारा की गई हैं। कुंतक ने यहाँ पर उपसर्ग तथा अव्यय पदों का ही ग्रहण किया है, जहाँ वाक्य में जीवित रूप से स्फुरित होने वाले रसादि की द्योतना उपसर्ग और निपात करते हैं, वहाँ पदवक्रता होती है। जैसे "प्रिया से सुदुःसह वियोग तथा वर्षाकाल एक साथ उपनत हुए" यहाँ सुदुःसह और उपनत में 'सु' और 'उप' उपसर्ग चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं। और इसी प्रकार वियोग और वर्षाकाल को जोड़ने वाला 'तथा अव्यय'। यह ध्यान में रखना चाहिए कि उपसर्ग भी निपातों में गिने गए हैं, अतः इस वक्रता को पदवक्रता न कह निपातवक्रता ही कहना अधिक उपयोगी होगा।

पदांश-दोष—दोषों का एक वर्ग। विशेष दे० दोष।

पदोच्चय—नाटक में रस-पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

पदौचित्य—पद या शब्द के उचित या अनुचित प्रयोग का ज्ञान। विशेष

दे० शब्दौचित्य ।

पद्धरि—पद्धरि ज अन्त कल आठ-आठ, आठ-आठ मात्राओं पर यति के क्रम से और अन्त में जगण से बनने वाला सोलह मात्राओं (संस्कारी जाति) का सम-मात्रा-छन्द ।

पद्मबन्ध—अक्षरों का ऐसा विचित्र विन्यास कि उसे एक प्रकार से सजाने से पद्म का आकार बन जाए । विशेष दे० चित्रकाव्य ।

पद्य—छन्दोबद्ध रचना । पद्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कवित्वपूर्ण ही हो । ताल, तुक, लय, यति, वर्ण, मात्रा आदि छन्दों के नियमों का पालन करने से बनी कोई भी रचना पद्य कही जा सकती है ।

परंपरित—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद । विशेष दे० रूपक ।

परकीया—दूसरे की विवाहिता स्त्री या अविवाहिता कन्या—इन दो भेदों वाली पराई स्त्री । यात्रा आदि में बाहर जाकर पर-पुरुषों से मिलने वाली कुलटा स्त्री ।

परिकर—एक अर्थालकार, जिसमें विशेषणों के साभिप्राय होने से प्रकृत अर्थ के साधक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है ।

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः । —साहित्यदर्पण ।

जैसे—

अच्युतचरन तरंगिनी, सिव सिर मालति माल।
हरि न बनायो सुरसरी कीजौ इन्दव भाल ॥

अर्थात् गंगे मुझे विष्णु न बना, शिव बनाना, यहां पूर्वोक्त दो विशेषण साभिप्राय होकर गंगा के भक्त के अभीष्ट व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं ।

परिकर—मुख नामक नाटक-संधि का एक अंग । विशेष दे० मुख ।

परिकरांकुर—एक अर्थालंकार जिसमें विशेष्य साभिप्राय रहता है, जैसे—

वामा भामा कामिनी कहि बोलौ प्रानेस,
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस । —(बिहारी)

परिणाम—परिणामो भवेतुल्यातुल्याधिकरणोद्विधा । साहित्यदर्पण—

एक अर्थालंकार, जिसमें आरोप्य पदार्थ विषय (उपमान) के स्वरूप से ही प्रस्तुत कार्य में उपयोगी होता है । जैसे—(१) मेरे दूर से लौटने पर उसने मुझे स्मित रूप भेंट दी और मेरे साथ आलिंगन रूप बाजी लगायी । यहां नायक के आदर और द्यूत में स्मित और आलिंगन के रूप से भेंट और पण का उपयोग किया गया है, जो दूसरी जगह वसनाभरण का होता । रूपक में आरोप्य का आह्लादकत्व भर ही होता है, उसकी कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता नहीं होती । दोनों की विभक्तियों के समानाधिकरण्य में इसे तुल्याधिकरणक और वैसा न होने पर अतुल्याधिकरणक कहते हैं । रूपक में

आरोप्य का आह्लादकत्व भर होता है, उसकी कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता नहीं होती। दूसरा उदाहरण—

करकंजनि खंजन-दृगनि, ससिमुख अंजन देति,
बिज्जु हास तें दास जू मन विहंग गहि लेति। (दास)

परिन्यास—मुख नामक नाटक-संधि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

परिपार्श्व—पात्रों के घूमने-फिरने के लिए लेखक द्वारा तैयार किया गया अमूर्त्त वातावरण। विशेष प्रकार के परिपार्श्व (अंग्रेजी सैटिंग) देखे जाते हैं। प्रत्येक ग्रंथ की भौगोलिक या सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार परिपार्श्व में परिवर्तन भी होता रहता है।

परिभावना—मुख नामक नाटक-संधि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

परिभाषण— निर्वहण नाटक-संधि का एक अंग विशेष। दे० निर्वहण।

परिवृत्ति—परिवृत्तिर्विनियमः समन्यूननाधिकैर्भवेत्। —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें समान न्यून या अधिक के साथ कुछ विनिमय (लेना-देना, बदला) वर्णित किया जाता है। इसमें कवि कल्पित होने से चमत्कारपूर्णता आ जाती है। जैसे—

ले लिया हृदय उसने मेरा अपना मादक कटाक्ष देकर।
मैंने भी हृदय उसे देकर पाया है दाहक मदन ज्वर॥

यहाँ पहले चरण में समान से विनिमय है, दूसरे में न्यून से। इसी प्रकार अधिक से विनिमय भी समझना चाहिए।

परिसंख्या—प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनोभवेत्।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा॥
परिसंख्या —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें प्रश्न से या बिना प्रश्न ही कही हुई वस्तु से तत्समान शाब्दिक या आर्थिक व्यावृत्ति अन्यत्र होती है, एक वस्तु की नियत स्थान से अन्यत्र संख्या (गिनती) की जाती है। जैसे—

(१) उत्तम भूषण कौन ? यश, नहिं कनकालंकार,
कहा काम्य ? पद परम है, कहा त्याज्य ? संसार।

पूर्वार्ध में कनकालंकार को शाब्दिक व्यवच्छेद कर देने से शाब्दी प्रश्नपूर्विका परिसंख्या है। उत्तरार्ध में शाब्दिक व्यवच्छेद न होने से आर्थी है।

(२) अति मतवारे जहाँ दुरदै ही निहारियत,
तुरगन ही में चंचलाई परतीति है। —भूषण।

यहां बिना प्रश्न ही व्यावृत्ति बताई गई है। श्लेषमूला होने से इसमें और भी वैचित्र्य बढ़ जाता है।

परिसर्प—प्रतिमुख नामक नाटक-संधि का एक अंग । विशेष । दे० प्रतिमुख ।

परिहार—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक । विशेष । दे० नाट्यालंकार ।

परीवाद—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यलांकारों में से एक । विशेष दे० नाट्यालंकार ।

परुषा—रेफ, श, ष, स, टवर्ग तथा रेफ मिश्रित संयुक्ताक्षरों की बहुलता जहां पर पाई जाए, उसे परुया वृत्ति कहते हैं । कहना न होगा कि इन वृत्तियों का प्रयोग रसानुकूल ही किया जाता है । परुषा वृत्ति में कर्णकटु तथा कठोर वर्णों का विन्यास रहता है तथा इसी कारण यह रौद्र, वीर तथा भयानक जैसे उग्र रसों के लिए अधिक उपयोगी होती है ।

पर्यस्तापन्हुति—अपह्नुति नामक अर्थालंकार का एक भेद । विशेष दे० अपन्हुति ।

पर्याय—**क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्,**
भवति क्रियते वाचेत्तदा पर्याय इष्यते । —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो एक वस्तु अनेकों में या अनेक वस्तु एक में एक क्रम से होने या किये जाने पर होता है । क्रमशः उदाहरण—

(१) "वर्षा की पहली बूँदे पहले तपस्विनी पार्वती के पलकों पर ठहरीं, फिर अधरों पर, फिर उन्नत पयोधरों पर फिर त्रिवली में और बहुत देर में नाभि तक पहुँचीं" । यहा एक बूंद अनेकों में स्थित है ।

(२) "तुम्हारे रिपु के नगर में जहां भारी जघनों वाली स्त्रिया चलती थीं, वहां अब भेड़िये कौए और सियार घूमते हैं, यहां एक नगर में अनेक वस्तुएँ बताई गई हैं । इसी प्रकार किये जाने के उदाहरण समझने चाहिएँ ।

पर्यायवक्रता—समानार्थवाचक शब्द 'पर्याय' कहे जाते हैं । संस्कृत भाषा में शब्दों का इतना बड़ा भंडार है कि एक-एक शब्द के अनेकों पर्यायवाची शब्द मिल जाते हैं, किन्तु प्रत्येक शब्द की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी होती है और सूक्ष्म विचार करने पर यह अंतर अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है । समानार्थी होने पर भी अनेक शब्द अपने विलक्षण अभिव्यंग्य अर्थ के कारण एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हो जाते हैं । उचित स्थान पर उचित पर्याय का प्रयोग अद्भुत चमत्कार का जनक होता है इसे ही पर्याय वक्रता कहते हैं । इसे भी कुंतक ने पदपूर्वार्ध वक्रता में गिना है ।

इस पर्यायवक्रता के अनेक प्रकार होते हैं—

१. अभिधेयान्यतरतम—अर्थात् उस पर्याय का प्रयोग जो अभिधेय से अत्यन्त घनिष्ठ है तथा उसके इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ का उन्मीलन करता है, जितना कोई

दूसरा पर्याय नहीं कर सकता।

२. अर्थातिशयपोषक—अर्थात् अभिधेय अर्थ के अतिशय को पुष्ट करने वाला पर्याय।

३ असंभाव्यार्थपात्रत्वगर्भित—अर्थात् वह पर्याय जो किसी असंव्याअर्थ की सूचना करने की योग्यता से गर्भित रहता है।

दो-तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे। सिंह दिलीप से कहता है—"महीपाल! तुम्हारा श्रम बस हो चुका।" यहाँ 'महीपाल' शब्द धरती के स्वामी का श्रम एक सिंह के आगे कुंठित होने के कारण अत्यन्त चमत्कार है। वह वाल्मीकि सीता को रोता देख उसके पास दौड़े आये, जिनका शोक बाणविद्ध क्रौंच को देख श्लोक बन गया था, यहां वाल्मीकि का विशेषक उपवाक्य चमत्कार बढ़ा रहा है। भारी कानों वाला हाथी भी कहीं संगीत का पात्र हो सकता है, इसी से उसने मद-लोभ से आए हुए, गुँजायमान भौंरे को भगा दिया, वह तो 'मातंग' (हाथी, चाडाल) ही ठहरा। यहा 'मातंग' शब्द अपने दो अर्थों के कारण एक व्यंग्यार्थ दे रहा है।

पर्यायोक्त—**पर्यायोक्तं यदा भंग्या गम्यमेवाभिधीयते।** —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें दूसरे रूप (भंगी) से व्यंग्य बात को ही अभिधा से ही कह दिया जाता है। जैसे—

मातुपितहिं जनि सोक बस करसि महीस किसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥ —तुलसी

यहां 'मार डालूँगा' व्यंग्य अर्थ भग्यंतर से कह दिया गया है।

पर्युपासन—प्रतिमुख नामक नाटक-संधि का एक अग। विशेष दे० प्रति-मुख।

पलायन—जीवन से ऊबकर भाग उठना। विशेष दे० पलायनवाद।

पलायनवाद—जीवन से पलायन (भाग) कर कला या कविता को एकांत में खींच ले जाने वाली धारा। जीवन विषमताओं से भरा हुआ है। इसकी वेदनाओं से त्राण-कला के एकांत अनुशीलन में ही मिल सकता है। कला स्वांतःसुखाय ही होती है। उसका उपदेश देने या समाज का मनोरंजन करने से कोई प्रयोजन नहीं। ये बातें पलायनवाद का दर्शन हैं। (विशेष दे० कलावाद)।

पश्चात्ताप—रसपोष के लिए नाटक में प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

पहेली—शब्द-विन्यास चातुरी से किसी गुप्त अर्थ या शब्द का प्रश्न करने-वाला खिलवाड़। रस-विरोधी होने से इसकी गणना अलंकारों मे नहीं होती। आज-कल वर्ग-पहेलियाँ बहुत प्रचलित हो रही हैं।

पांचाली—वर्णैःशेषैः पुनर्द्वयोः

समस्तपंचषपदो बंधः पांचालिकामता । —साहित्यदर्पण

माधुर्यव्यंजक (दे० वैदर्भी) और ओज व्यंजक (दे० गौड़ी) वर्णों को छोड़कर शेष वर्णों वाली रचना-शैली या रीति। इसमें समास भी न बहुत बड़े होते हैं और न बहुत कम। भोज के मत से ५-६ पदों वाले समास वाली, ओज और कांति-गुणों से पूर्ण मधुर और सुकुमार रीति पाचालो कही जाती है। कभी यह पाचालवासी पंडितों की प्रिय शैली रही होगी। कुछ पंडितों के मत से शब्दाडम्बर वाली गौड़ी और ललित पदावली वाली वैदर्भी से मिश्रित रीति पांचाली होती है। विशेष दे० रीति, गुण, शैली।

पांडुता—कामातुरों की एक विशेष चेष्टा। विशेष दे० कामदशा।

पाक्षिक—दो मात्राओं वाले छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा-जाति।

पाद—प्रत्येक छन्द के सामान्यतः किये जाने वाले चार भागों में एक भाग। इसे चरण भी कहते हैं। कुछ छन्दों में पादों की संख्या चार से कम भी होती है। छप्पय आदि में यह संख्या ६ हो जाती है। मिलिंदपाद छन्द किसी चार पाद वाले छन्द के ही ६ चरणों से बनता है। मिलिंद (भौंरे) के ६ चरणों के कारण इसे यह नाम मिला है।

पादाकुलक—चार चतुष्कल पादाकुलका, चार चौकलों (दे० यथा०) के क्रम से बनने वाले सोलह मात्राओं के संस्कारी जाति के सम-मात्रा-छन्द। पद्धरि, अरिल्ल, डिल्ला आदि (दे० यथा०) इसी कोटि में आते हैं।

पात्र—कहानी-नाटक आदि में एक व्यक्ति। विशेष दे० चरित्र, चरित्र-चित्रण।

पात्र-परिचय—नाटक के आरम्भ में दी गई नाटकीय पात्रों की सूची, जिसमें परस्पर सम्बन्ध भी दिया रहता है। रंगमंचीय नाटकों में अभिनेताओं और उनके द्वारा खेली जाने वाली भूमिका के नाम आदि बताती हुई जो सूची आरम्भ में बाँटी जाती है, वह भी इसी नाम से पुकारी जाती है।

पारिपार्श्विक—नाटक में सूत्रधार का सहायक। विशेष दे० सूत्रधार।

पिहित—एक अर्थालंकार, जिसमें पराई बात जानकर चेष्टा से प्रकट की जाती है। जैसे—

बिथुरे कच सरवर वसन, समुझि सखी मुख मोरि।
दई तरुनि को बिहँसि कै, अरुण पाट की डोरि॥

सखी ने सुरत-चिह्न देख लाल डोरा दे चेष्टा से भाव प्रकट कर दिया है। रुद्रट

इसे एक वस्तु के गुण द्वारा दूसरी वस्तु को ढँक लेने पर मानते हैं, और अनेक आचार्य इसे पृथक् अ ंकार नहीं मानते ।

पीयूषवर्ष—दिसि निधि पीयूषवर्ष त अंत लगा, १०–६ पर यति वाली १६ मात्राओं और अन्त में लघु-गुरु के होने से बनने वाला महापौराणिक जाति का सम-मात्रा-छन्द ।

पुनरुक्त—एक बार कही गई बात का फिर अनावश्यक रूप में ही दुहराना । भाषणों में किसी विशेष बात पर बल देने के लिए यही गुण हो सकता है, पर साधारण रचना में तो स्पष्ट ही यह दोष है । जैसे—'वीरता से यश मिलता है और कायरता से अपयश मिलता है ।' यह अर्थ-दोष (दे० यथा०) है । इसी को कथितपदत्व भी कहते हैं ।

पुनरुक्तवदाभास—आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥—साहित्यदर्पण

एक शब्दालंकार, जिसमें ऊपरी दृष्टि से तो एक ही अर्थ की भिन्न स्वरूप वाले दो समानार्थक शब्दों द्वारा पुनरुक्ति प्रतीत होती प्रतीत होती है, पर निपुण विवेचन पर समाधान हो जाता है । जैसे—

अली भौंर गूंजन लगे, होन लगे दल पात ।

यहां अली और भौंर तथा दल और पात पहले-पहले एकार्थक मालूम पड़ते हैं और पुनरुक्ति प्रतीत होती है । पर विचार करने पर पता चलता है कि अली सखी के अर्थ में और पात गिरने के अर्थ में आने के कारण वस्तुतः पुनरुक्ति नहीं है ।

पुराण—वेदव्यास के लिखे हुए १८ विशाल ग्रन्थ, जिनमें प्राचीन कहानियां भरी पड़ी हैं । सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर और वंशानुचरित-पुराण के ये पांच लक्षण बताए गए हैं १८ प्रधान पुराण ग्रन्थों (ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, शैव या वायवीय, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्मांड) को छोड़ उपपुराण भी बताए जाते हैं, जिनकी संख्या वस्तुतः और भी अधिक है ।

पुरुषवक्रता—जहाँ पुरुषों का विचित्रता की सिद्धि के लिए विपर्यय किया जाता है, उत्तम या मध्यम पुरुष के स्थान पर प्रथम (अन्य) पुरुष का प्रयोग होता है, वहाँ पुरुषवक्रता होती है । अपने आपको "मैं" कहने में कोई विचित्रता नहीं है किन्तु जब लोग 'अयं जनः' (यह व्यक्ति) कहने लगते हैं, तो चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । इसे पुरुषवक्रता कहते हैं ।

पुष्प—प्रतिमुख नामक नाटक-संधि का एक अंग । विशेष दे० प्रतिमुख ।

पुष्पगंडिका—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले १० लास्यांगों में एक

विशेष दे० लास्यांग।

पुष्पिताग्रा—असम नगण दोर और या हो, न ज ज र गा सम होत पुष्पिताग्रा, प्रथम-तृतीय चरणों में दो नगणों, और यगण तथा द्वितीय-चतुर्थ चरणों में नगण, दो जगणों, रगण और गुरुसे बनने वाला अर्धसमवृत्त छन्द।

पूर्णोपमा—उपमा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० उपमा।

पूर्वरंग—**यन्नाट्यवस्तुनःपूर्वं रंगविघ्नोपशान्तये।**
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरंगः स उच्यते ॥

नाट्य-वस्तु के पहले नाट्यशाला के विघ्नों को दूर करने के लिए नटों आदि द्वारा की गई पूजा। यद्यपि इसके प्रत्याहार आदि अनेक अंग हैं, पर नांदी (दे० यथा०) तो अवश्य की जानी चाहिए।

पूर्वराग—सौन्दर्य आदि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायिका की समागम से पहली दशा। यह चार प्रकार के विप्रलंभ शृंगारों में से एक है। यह श्रवण-पूर्वराग दूत, भाट, सखी आदि द्वारा गुणों का श्रवण सुन पैदा होता है, जैसे नल-दमयन्ती के पूर्वराग का उदय हंस द्वारा कहे गये पारस्परिक गुणों के श्रवण से हुआ। दर्शन-पूर्वराग इन्द्रजाल में, चित्र में, स्वप्न में (जैसे उषा का अनिरुद्ध के प्रति) या साक्षात् दर्शन होने पर (राम सीता का) होता है।

इसके तीन भेद होते हैं। बाहरो चमक-दमक न दिखा हृदय से कमी दूर न होने वाला "नीलीराग" पहला पूर्वराग है। बहुत शोभित होकर फिर चले जाने वाला दूसरा कुसुंभी राग है। और तीसरा मंजिष्ठा राग वह है, जो चला भी न जाये और शोभित भी खूब हो।

पूर्वरूप—एक अर्थालंकार, जिसमें निकट की वस्तु से लिया हुआ गुण छोड़ कोई अपना पुराना गुण पुनः प्राप्त कर लेता है, जैसे—

मुकुत हार हरि के हिये, मरकत मनिमय होत।
पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकानि उदोत॥ (मतिराम)

पूर्ववाक्य—निर्वहण नामक नाटक-संधि का एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

पृथ्वी—ज सा ज स य ला ग को कहत छन्द पृथ्वी भला। जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, लघु और गुरु से बनने वाला अत्यष्टि जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ६-६ पर यति होती है।

पैंफलेट—किसी सामयिक घटना के सम्बन्ध में प्रचार के लिए लिखा गया पर्चा या छोटी-सीं पुस्तिका।

पौराणिक—१८ मात्राओं के छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा-जाति।

प्रकरण—रूपक के दस भेदों में से एक भेद। इसमें कहानी लौकिक और कविकल्पित (मौलिक) होती है। प्रधान रस शृंगार होता है। नायक धर्म, अर्थ, काम में लीन धीरप्रशांत होता है और विघ्नों से लड़ता है। वह ब्राह्मण (मृच्छकटिक में), मन्त्री (मालतीमाधव में) या वैश्य (पुष्पभूषित में) होता है। नायिका कभी कुलस्त्री होती है, कभी वेश्या (रंगवृत्त में) कभी दोनों (मृच्छकटिक में)। इसलि स तीन भेद हो जाते हैं, तीसरे भेद में धूर्त, जुआरी, विट, चेट आदि भरे होते हैं।

> **भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।**
> **शृंगारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्।**
> **सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशांतकः।**
> **नायिका कुलजा क्वापि वेश्याक्वापि द्वयं क्वचित्।**
> **तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।**
> **कितवद्यूतकारादिविटचेटक संकुलः।** —साहित्यदर्पण

प्रकरणवक्रता—प्रकरण का अर्थ है पूरे प्रबन्ध का एक देश अर्थात् एक प्रसंग या एक वर्ण्य-विषय। एक देश अथवा एक अंग के सदोष होने पर अंगी गुणपूर्ण नहीं हो सकता, अतः प्रकरणवक्रता का भी अत्यंत महत्त्व है तथा कुन्तक ने इसे भी वक्रोक्ति के ६ प्रमुख प्रकारों में गिना है। प्रकरण को चमत्कृत, सरस या उपादेय बनाने वाले अनेक प्रसंग होते हैं, इनका चयन तथा परिपोषण कवि के लिए आवश्यक है। कभी नायक अथवा रसविरोधी प्रकरणों को छोड़ तदनुकूल कल्पना भी की जा सकती है ऐसा दशरूपककार धनंजय का मत है। तुलसी ने जयंत द्वारा सीता के चोंच मारने की बात न मान इसे चरण में मारा जाना बताया। इसी प्रकार 'उदात्तराघव' ने तो बालिवध प्रसंग को ही उड़ा दिया तथा मारीचवध के लिए पहले लक्ष्मण को भेज दिया। यह एक प्रकार की प्रकरणवक्रता है। कौत्स का रघु के पास दान की समाप्ति में आना तथा फिर अन्त में रघु द्वारा अधिक देने तथा याचक कौत्स द्वारा कम लेने की हठ वाले प्रकरण की सृष्टि भी अद्भुत ही है। शकुन्तला को भुला देने के लिए दुर्वासा के शाप वाले प्रकरण की उद्भावना भी अनूठी है। उत्तर रामचरित में चित्रदर्शन के समय राम द्वारा जृंभक अस्त्रों का सीता की सन्तान के पास स्वतः जाने का उल्लेख परवर्ती घटना में अनुकूलता के कारण चमत्कारपूर्ण है। नाटकों में विशिष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए गर्भांक द्वारा नए प्रकरण का अवतरण किया जाता है। ये सब प्रकरणवक्रता के ही भेद हैं।

प्रकरणिका—**नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका।**
समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका। —साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। इसमें व्यापारी नायक और उसी की

सजातीया नायिका होती है। शेष बातें नाटिका (दे० यथा०) जैसी ही होती हैं।

प्रकरणौचित्य—प्रबन्ध में प्रकरण या प्रसंग के उचितानुचित का विवेक। विशेष दे० प्रबन्धौचित्य।

प्रकरी—नाटक की चौथी अर्थप्रकृति। विशेष दे० अर्थप्रकृति।

प्रकर्ष—घटनाओं, भावों आदि का एक पराकाष्ठा तक क्रमिक उत्थान। वस्तु का एक निश्चयात्मक चरम बिन्दु। इसका विरोधी अपकर्ष होता है, जिसमें पराकाष्ठा की प्राप्ति के बाद क्रमशः अवपतन दिखाया जाता है। इसे घटनाओं का आरोह-अवरोह भी कहते हैं।

प्रकाश-कथन—नाटकीय संवाद का सामान्य प्रकार। विशेष दे० नाट्योक्ति।

प्रकाशितविरुद्धत्व—किसी बात के विरुद्ध अर्थ प्रकाशित करने से उत्पन्न अर्थ-दोष (दे० यथा०) जैसे "हे राजन्, तुम्हारा कुमार सम्राट् बने", यहाँ यह विरुद्ध अर्थ निकलता है कि तुम मर जाओ, अतः यह दोष है।

प्रकृत—उपमा के एक अंग उपमेय का अन्य नाम। विशेष दे० उपमेय।

प्रकृति—२१ वर्णों के वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्त-जाति।

प्रकृतिवाद—प्रकृति से अनुराग और प्रकृति से सामंजस्य रखनेवाली काव्य-शैली। अंग्रेजी साहित्य में १८वीं शताब्दी की प्रतिक्रिया में स्वच्छन्दतावाद (दे० यथा०) के साथ इसका भी उदय हुआ, जो विषय, स्वर और शैली प्रत्येक दृष्टि से 'प्रकृति की ओर लौटो' का सन्देश था। इसमें न केवल देहाती दृश्यों और देहाती जीवन में अनुराग दिखलाया जाता है, बल्कि जीवन और कला से सम्बन्धित कृत्रिम रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भी रहता है। हिन्दी में श्रीधर पाठक के बाद पंत आदि में वह प्रकृति-प्रेम दिखाई देता है, जो वाल्मीकि कालिदास आदि कवियों की वाणी में दिखाई पड़ा था।

प्रगतिवाद—मार्क्सवाद (साम्यवाद) से प्रभावित साहित्यधारा। गांधीवाद और छायावाद में जो सामंजस्य था मार्क्सवाद और प्रगतिवाद में भी वही सामंजस्य है। कविता को जनक्रान्ति का माध्यम बनाना और उसके द्वारा किसान-मजदूरों को वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए विद्रोही बनने को उकसाना, निम्न और दलित वर्ग की समस्याओं का चित्रण और उच्च वर्ग की नीति का भंडाफोड़, यथार्थ का चित्रण और आदर्श का बहिष्कार, समाज की प्राचीन मान्यताओं का विरोध, नारी-स्वातन्त्र्य, सरल भाषा, चलते छन्द, प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने का यत्न, 'धर्म, नीति और सदाचार (साहित्य) का मूल्यांकन है जनहित' मानना "धूलि, सुरभि, मधु-रस, हिमकण' को छोड़ 'सिगरेट के डिब्बे खाली पन्नी चमकीली' की ओर आकर्षण,

इत्यादि प्रगतिवाद के पहलू हैं। भगवतीचरण वर्मा की भैंसागाड़ी, निराला की 'वह कूटती पत्थर, देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर'' और 'विधवा' या 'भिक्षुक', नवीन की 'जूठे पत्ते' आदि हिन्दी-कविता प्रगतिवाद के पथ का अच्छा प्रतिनिधित्व करती हैं। पर हृदय की रागात्मक अनुभूति और कला की रंगीनी के अभाव, रोटी या पंथ सम्बन्धी स्वर के तीव्र होने के कारण और प्रगतिवाद के अर्थ के संकुचित होते जाने से सहृदयों का आकर्षण इधर कम हो चला है, यद्यपि उत्साही जोशीले युवक अब भी इसके पढ़ने-लिखने में चाव से तत्पर होते हैं।

प्रगमन—प्रतिमुख नामक नाटक-सन्धि का एक अंग। विशेष दे० प्रतिमुख।

प्रगल्भता—निःसाध्वसत्वं प्राल्भ्यम्। —साहित्यदर्पण

काम-क्रीड़ा आदि में नायिका के निडर होने का भाव। यह नायिका का एक अयत्नज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)।

प्रगल्भा—स्मरान्धा गाढ़तारुण्या समस्तरतकोविदा।
भावोन्नतादरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका। —साहित्यदर्पण

कामांध, अच्छी तरह जवान, सारे रति-रहस्य को जानने वाली, भावोन्नता, बहुत कम लज्जा करने वाली और नायक का अतिक्रमण करने वाली नायिका। यह स्वकीया का एक भेद है। नायक के प्रति कम या अधिक प्रेम रखनेवाली धीरा, अधीरा, और धीराधीरा के भेद से इसके छः भेद होते हैं। इसे प्रौढ़ा भी कहते हैं। (भेद यथा० दे०)।

प्रच्छेदक—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले १० लास्यांगों में एक। विशेष दे० लास्यांग।

प्रणयमान—नायक-नयिका में भरपूर प्रेम होने पर भी उनका एक दूसरे पर अकारण रूठना। (दे० मान)। यदि यह मनाने (अनुनय) के समय तक न टिके, तो यह मान विप्रलम्भ का भेद न होकर संभोग-संचारी भाव भर रह जायेगा।

प्रणव—मा ना या ग प्रणव हो जाता, प्रत्येक पाद में मगण, नगण, यगण और गुरु (S S S, I I I, ISS, S) वाली पंक्ति जाति का समवृत्त छन्द। इसे पणव भी कहते हैं।

प्रतिकूलवर्णत्व—रसों के विरुद्ध वर्णसंघटना से उत्पन्न दोष। (दे० यथा०) कोमल रस में कठोर वर्णों के चुनाव और प्रदीप्त रस के वर्णन में कोमल वर्णों के चुनाव से यह दोष होता है।

प्रतिनायक—नायक का प्रतिद्वन्दी अथवा प्रतिस्पर्द्धी, जिसके साथ नायक का संघर्ष होता है, जैसे रावण, दुर्योधन आदि राम, युधिष्ठिर आदि के साथ में प्रतिनायक कहे जाएँगे। यह धीरोद्धत (दे० यथा०) और पापी होता है और काम-क्रोध से

उत्पन्न व्यसनों में फँसा होता है। ईर्ष्या तो इसका सर्वस्व ही है। इसे खलनायक भी कहते हैं।

प्रतिपत्ति—शिल्पक नामक उपरूपक का एक ंग। विशेष दे० शिल्पक।

प्रतिभा (१)—कलाकार की जन्मजात शक्ति। विशेष दे० कल्पना।

प्रतिभा(२)—१४ मात्राओं के मात्रिक छन्द विजात का अन्य नाम। विशेष दे० विजात।

प्रतिमुख—नाटक की दूसरी सन्धि। यह कार्य अर्थप्रकृति (दे० यथा०) की दूसरी अवस्था यत्न के लगभग समानांतर चलने वाला नाटक की वस्तु का दूसरा विभाग है। मुख नामक पहली संधि में विकसित फलप्रधान उपाय का कुछ लक्षित और अलक्षित आगे की ओर विकास तिमुख-सन्धि है।

फल प्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।

—साहित्यदर्पण

दर्पणकार इसके निम्न तेरह अंग बताते हैं। पहला अंग रति आदि के भोग के लिए स्त्री-पुरुष की चेष्टा 'समीहा' है, दूसरा खोई हुई या वियुक्त वस्तु का अन्वेषण 'परिसर्प 'है, तीसरा किये गये अनुनय को स्वीकार न करना 'विधुत' है, चौथा किसी उपाय का दिखाई न पड़ना 'स्वापन' है, पाँचवां परिहास वाक्य 'नर्म' है, छठा परिहास से पैदा द्युति 'नर्मद्युति' है, सातवां उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वाक्य 'प्रगमन' है, आठवां दुख आ पड़ना 'विरोध' है, नवां रूठे को मनाना 'पर्युपासन' है, दसवां प्रेम पैदा करने वाले विशेष वाक्य वाला 'पुष्प' है, ग्यारहवां प्रत्यक्ष ही निष्ठुर वचन वाला 'वज्र' है, बारहवां प्रसन्न बनाना 'प्रसादन' है और तेरहवां ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के समागम वाला 'वर्णसंहार' है। (विशेष दे० सन्धि, अर्थ कृति, वस्तु, नाटक)।

प्रतिवस्तूपमा—**प्रतिवस्तूपमा सा यस्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।**
एकोऽपिधर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यतेपृथक्।

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें दो वाक्यार्थों के प्रतीयमान (वाच्य नहीं) सादृश्य के एक ही साधारण धर्म को पृथक्-पृथक् शब्दों से कहा जाता है। उपमा में समान धर्म एक ही बार कहा जाता है और उसका उपमेय-उपमान दोनों से सम्बन्ध रहता है। यहाँ एक ही धर्म दोनों के साथ पृथक-पृथक् और भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है। दीपक में इसकी भांति भिन्न-भिन्न शब्दों में न कह समान धर्म एक ही शब्द से बताया जाता है। जैसे—

तिनहिं सुहाइ न अवध बधावा।
चोरहिं चाँदिनि रात ना भावा॥

यहाँ वही बात 'सोहाइ' और 'भावा' दो शब्दों द्वारा पृथक-पृथक् कही गई है।

प्रतिवस्तूपमा माला भी होती है—

सिंहों के लेंहड़े नहीं, हंसों की नहिं पात।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥

यह साधर्म्य से भी होती है और वैधर्म्य से भी। उपर्युक्त उदाहरण साधर्म्य के हैं। वैधर्म्य यथा—

मुखहिं अलक को छूटिवो, अवसि करे दुतिमान।
बिन विभावरी के नहीं, जगमगात सितभान॥

यहाँ दुतिमान और जगमगात एक ही धर्म है, और उपमान वाक्य में निषेध रूप में साधारण धर्म का कथन होने से यहाँ वैधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा है।

प्रतिलिप्यधिकार—प्रकाशित ग्रन्थों के विषय में विधान द्वारा लेखक को दिया गया वैध अधिकार। इसके द्वारा लेखक की रचना का उसके अंश के अनधिकारी प्रकाशकों द्वारा काशित करने से रक्षा की जाती है। यह संरक्षण प्रायः लेखक के जीवन भर और उसकी मृत्यु के ५० वर्ष बाद तक रहता है।

प्रतिषेध (१)—एक अर्थालंकार, जहाँ प्रसिद्ध निषेध होने पर कारणवश पुनः निषेध होता है। जैसे—

न हों जंबुमाली, खरै जाहि मारो।
न हों दूषणै, सिन्धु सूनो निहारो॥
सदा जंग में देवता दाव दनैं।
महाकाल को काल हौं कुंभकर्नैं॥ —केशव

प्रतिषेध (२)—विमर्श नामक नाटक-संधि का एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

प्रतिष्ठा—४ वर्णों के वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्त जाति।

प्रतीकवाद—प्रकृति के कुछ मनोविकारों को जाग्रत करने वाले पदार्थों का उन अमूर्त्त भावनाओं के उद्बोधन के लिए प्रयोग कर उनका सजीव लाक्षणिक चित्र खींच देने वाली शैली। 'साहित्य में प्रतीकवादी आंदोलन' (सिंबोलिष्ट मूवमेंट इन लिटरेचर) के लेखक आर्थर साइमंस के शब्दों में 'यदि प्रत्येक महान् कल्पनाशील कवि की रचना में सदा से किसी-न-किसी रूप में प्रतीकों का प्रयोग न होता चला आया होता, तो आज प्रतीकवाद का कुछ मूल्य न होता।" आचार्य शुक्ल के मत

से ये प्रतीक दो प्रकार के होते हैं मनोविकारों या भावों (इमोशन्स) को जगाने वाले और भावना या विचारों (इंटैलेक्ट) को जगाने वाले। चन्द्रमा मृदु आभा का, समुद्र प्राचुर्य, विस्तार और गम्भीरता का, आकाश सूक्ष्म अनंतता का भौंर चातक निःस्वार्थ प्रेम का प्रतीक है। भावनाओं के शाश्वत होने पर भी प्रतीक योजना में देश-काल की स्थिति के अनुसार योग होते रहे हैं। हालावादी मधु, प्याला और बाला के प्रतीकों को अपनाएँगे और तुलसी आदि भक्त कवि चकोर, दीप, पतंग और चातक आदि को। ऐसे ही स्निग्ध श्यामल घटा में भारतीय को दिखाई देने वाला शीतल माधुर्य एक यूरोपीय को न दिखाई देगा, और वह उसे उदासी का ही प्रतीक मानेगा। आचार्य शुक्ल लाक्षणिकता को नई कविता की सबसे बड़ी विशेषता मानते हैं (चिन्तामणि–२२४) और उसके 'गहरे पेट' में प्रतीक योजना को भी समेटते हैं। पंत के'चाँदनी का स्वभाव में वास, विचारों में बच्चों की सांस (चांदनी–स्वच्छता, शीतलता, मृदुलता, बच्चों की सांस–भोलापन) का जो उदाहरण उन्होंने दिया है, वह कविता में संश्लिष्ट प्रतीक-योजना का प्रगल्भ उदाहरण है। इसी प्रकार प्रसाद के 'काँटों ने भी पहना मोती' (कँटीले पौधे—पीड़ा पहुँचाने वाले कठोर हृदय मनुष्य। पहना मोती—हिमबिन्दु धारण किया या अश्रुपूर्ण हुए) भी समझना चाहिए। हमारे साम्यमूलक अलंकारों के उपमान का लक्ष्य सादृश्य या साधर्म्य होता है, जबकि प्रतीक का लक्ष्य अपनी शक्ति से अमूर्त्त भावना को जाग्रत करना होता है।

हाल में रंगमंच पर प्रतीक विधान को वांछित मनोभावों के वहन का माध्यम बनाया गया है। सिनेमा में भी किसी पात्र की मृत्यु के समय दिये को बुझता दिखाना, मनोवृत्तियों की हलचल से समय खड़-खड़ करती रेलगाड़ी या तूफ़ान आदि की योजनाएँ प्रतीकवाद की ही परम्परा में हैं।

प्रतीकवाद को कुछ लोग चित्रभाषावाद भी कहते हैं।

प्रतीप—प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते।
उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुतः।
कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे।

—साहित्यदर्पण

एक साम्यमूलक अर्थालंकार जिसमें लोकप्रसिद्ध उपमान को उलटकर उसको उपमेय बना देने, उसका निष्फल हो जाना बताने अथवा उपमेय के सामने उसके अपकर्ष हो जाने का वर्णन होता है। उपमा में उपमान उत्कृष्ट रहता है, पर यहाँ उपमेय, इसी से इसे विपरीतोपमा भी कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं।

(१) जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाया जाए, जैसे—

"उतरि नहाए जमुन जल, जो सरीर सम स्याम।"

यहां श्यामल जमुनाजल (प्रसिद्ध उपमान) की शरीर (उपमेय) से समता की गयी है।

(२) जहां उपमेय की अद्वितीयता के खंडन के लिए उपमान रूप दूसरी सादृश्य वस्तु का वर्णन हो, जैसे—

कहा करति निज रूप को, गरब गहै अविवेक।
रमा उमा सचि सारदा, तो सी तीय अनेक। —काव्य-शिक्षा

यहाँ सुन्दरी की अद्वितीयता के रूप-गर्व के खंडन के लिए लक्ष्मी, पार्वती, इन्द्राणी और सरस्वती आदि अनेको स्त्रियां बताई गई हैं।

(३) जहां उपमान की अद्वितीयता के खंडन के लिए उपमेय रूप दूसरी सादृश्य वस्तु का वर्णन हो, जैसे—

गरब करत कत बावरे, उमगि उच्च गिरिश्रृंग।
जस गौरव सिवराज को, इत नभ तेंहु उतंग॥

यहां उच्च गिरि-श्रृंग की अद्वितीयता के खंडन के लिए शिवाजी के यश की ऊँचाई से किया गया है।

(४) जहां पहले उपमेय की उपमान से समता कल्पित करने के बाद फिर उसका खंडन कर दिया जाए, जैसे—

बहुरि विचार कीन्ह मन माहीं।
सीय वदन सम हिमकर नाहीं॥

यहा मुख की चन्द्र के साथ समता कल्पित कर फिर उसका निषेध किया गया है।

(५) जहां उपमेय के सामने उपमान को व्यर्थ बताया जाए, जैसे—

राव भावसिंह जू के दान की बढ़ाई देखि,
कहा कामधेनु है कछू न सुरतरु है। —मतिराम

यहा भावसिंह के दान के आगे कामधेनु—कल्पवृक्ष आदि उपमान व्यर्थ ठहराए गए हैं।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे॰ उत्प्रेक्षा।

प्रत्यनीक—प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः। —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो शत्र का प्रतीकार न कर सकने पर शत्रु के किसी साथी आदि के तिरस्कार करने पर होती है। जैसे—

(१) तनुमध्या ने अपनी कमर से मेरी कमर को जीत लिया है, यह सोच शेर-कामिनी के कुच जैसे गजराज मस्तक को विदीर्ण करता है। यहाँ प्रधान शत्रु तनुमध्या (नायिका) है, गजराज नहीं, पर तिरस्कार गजराज का हुआ है।

(२) तो मुख छवि सों हारि जग भयो कलंक समेत।
सरद इन्दु अरविन्द-मुखि अरविन्दन दुख देत॥

(३) हिन्दुन के पति सों न बिसाति सतावत हिंदु गरीबन पाइ कै।

प्रत्यय—ज्ञान, प्रतीति, ज्ञान-साधन। व्याकरण में वे क्रिया के अन्त में लगने वाले साधनभूत चिह्न, जो नये अर्थ की प्रतीति बताते हैं। छन्द-शास्त्र में वे साधन जिनसे हमें छन्दों के भेद उनकी संख्या, स्वरूप आदि का बोध होता है। वहाँ पर ये ६ प्रकार के होते हैं—सूची, प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, पाताल, मेरु, खंडमेरु, पताका और मर्कटी। इनमें से प्रथम चार (दे० यथा) ही मुख्य हैं, और शेष का उन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रत्ययवक्रता—प्रत्ययों के रमणीय प्रयोग के कारण जो वक्रता उत्पन्न होती है, उसे प्रत्ययवक्रता कहते हैं। वैसे तो अनेकों प्रसिद्ध प्रत्ययों का अलग-अलग ग्रहण किया जा चुका है तथा उनके नाम से अलग-अलग वक्रताएँ मानी गई हैं, किन्तु यहाँ कुंतक के मत से जहाँ प्रत्यय के बाद लगाया गया दूसरा प्रत्यय सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वहां प्रत्ययवक्रता होती है। संस्कृत में क्रिया के साथ लगने वाले 'तरप्' 'तमप्' द्वारा तारतम्य की श्रेणी के निर्वाचन से कहीं अर्थाभिव्यक्ति चमत्कारपूर्ण हो जाती है। कवि और आलोचक में मैं आलोचक की अधिक वन्दना करता हूँ (वन्देतराम्) यहाँ 'तराम्' द्वारा तुलनात्मक चमत्कार की सृष्टि होने से प्रत्यय-वक्रता है।

प्रस्तुत औचित्य के चमत्कार को अपनी महिमा से पुष्ट करता हुआ प्रत्यय पदों के बीच में अनूठी ही वक्रता की उद्भावना करता है, ऐसा 'वक्रोक्ति जीवित' (२।१७) में बताया गया है। मेघदूत में यक्ष ने अपने आपको 'सुभगंमन्य' (अपने को अभिमान से सुभग मानने वाला) कहा है, यहां मुम् के आगम के साथ खश् प्रत्यय से बनने वाले इस शब्द ने कई अनूठे भावों की सूचना दी है, यह प्रत्ययवक्रता का उदाहरण है।

प्रपंच—वीथी नामक रूपक के १३ अंगों में एक। विशेष दे० वीथी।

प्रबन्ध—निबन्ध के रूप में पर साधारणतः अधिक ध्येयात्मक रूप में किस विषय पर लिखा गया लेख।

प्रबन्ध काव्य—किसी कथा-प्रबन्ध (कहानी) को लेकर की गई सांगोपांग और सर्वांगीण पद्यबद्ध रचना। वर्ण्य-कथा के स्वरूप के आधार पर इसके दो भेद होते हैं—

महाकाव्य और खंडकाव्य (दे० यथा०)। प्रबन्ध-काव्य में सफलता प्राप्त करने के लिए कथा का निर्वाचन और निर्वाह, धार्मिक स्थलों की पहचान, विविध वर्णनों का यथोचित विनिवेश, पात्रों का क्रमिक विकास, आधिकारिक और प्रासंगिक वस्तु (दे० यथा०) का स्वस्थ चयन और पारस्परिक मिश्रण एकता, नाटकीयता, संबद्धता, युक्ति-संगतता, क्रमबद्धता आदि बातें अपेक्षित होती हैं। इसी कारण मुक्तक (दे० यथा०) रचना की अपेक्षा प्रबन्ध-रचना में अपार और अथक प्रयास आवश्यक होता है। यह ठीक है कि इधर-उधर दो-चार छन्द भरती के हो सकते हैं और मुक्तक की भांति प्रत्येक शब्द और पंक्ति के स्तवक को सजाने की आवश्यकता इस महोद्यान में नहीं होती, पर फिर भी पूरे भवन का सौन्दर्य प्रत्येक ईंट के अपने आप में पू होने पर ही टिक सकेगा। एकता और कतानता सदा उपादेय रहेंगी ही। (विशेष दे० प्रबन्ध-वक्रता, प्रबन्धौचित्य, महाकाव्य, खंडकाव्य)।

प्रबन्ध-ध्वनि-औचित्य—औचित्य विचार-चर्चा में क्षेमेन्द्र—इसे भी प्रबंधौचित्य में गिनते हैं। विशेष दे० प्रबन्धौचित्य।

प्रबन्धवक्रता—कविव्यापार का चरम प्रबन्धवक्रता की योजना है। प्रबन्ध का अर्थ समस्त दृश्य या श्रव्य-ग्रन्थ है, अतः प्रबन्धवक्रता का आश्रय एक पद वाक्य आदि न होकर सारा ग्रन्थ ही है। समस्त काव्य के गुण-दोष विवेचन में क्रियाशील होना प्रबन्धवक्रता का कार्यक्षेत्र है। अन्य सारी वक्रताएँ इसका अंग मात्र ही होती हैं। अंगी के सौंदर्य के बिना अंगों के पृथक् सौंदर्य की कोई सत्ता नहीं। प्रबन्धवक्रता के विविध अंगों में पारस्परिक सौहार्द, सामंजस्य, अनुकूलता तथा उपकारिता वांछनीय है।

इसके अनेक भेद होते हैं। उन सब भेदों का एकत्रीकरण अभी तक नहीं किया गया है। निम्न ४-५ भेद प्रमुख हैं—

(१) साभिप्राय रस परिवृत्ति—जैसे वेणीसंहार नाटक में महाभारत के मूल रस शान्त को बदलकर वीर रस का अपनाना या भवभूति द्वारा उत्तररामचरित में करुण का वर्णन करने पर भी शृंगार को ही अंगी मानना।

(२) साभिप्राय इतिवृत्त परिवृत्ति—जैसे भारवि द्वारा दुर्योधन के अन्त तक का वर्णन न कर अर्जुन द्वारा पाशुपत-प्राप्ति तक का ही वर्णन, अथवा तुलसी द्वारा राम के राज्यारोहण तक ही कथा को सीमित करना।

(३) साभिप्राय नामकरण—भी एक प्रबन्धवक्रता है, जैसे अभिज्ञान शाकुंतल, मुद्राराक्षस नाम सार्थक तथा चमत्कारपूर्ण है, रामचरित, सूर-सागर आदि नीरस।

(४) साभिप्राय दृष्टिकोण—कथाचयन के साथ ही कवि के दृष्टिकोण की विदग्धता भी आवश्यक है। रामायण और महाभारत पर ही आश्रित अनेकों ग्रंथ अनेकों दृष्टिकोण लेकर आते हैं। इनका विदग्धतापूर्ण होना भी एक प्रबन्धवक्रता है।

(५) अवान्तर लक्ष्यप्राप्ति—नायक द्वारा लक्ष्य के साथ ही अन्य फल की प्राप्ति भी प्रबन्धवक्रता है। नागानन्द नाटक में नायक पिता की आज्ञा से वन में जाता है, पर वह पिता की आज्ञा के पालन के साथ ही विश्वमैत्री का प्रतीक बनता है तथा मलयवती से विवाह भी करता है।

प्रबन्धौचित्य—प्रबन्ध की अर्थ-सिद्धि के लिए उचित बातों का समावेश प्रबन्धौचित्य कहा जाएगा एवं तद्विरोधी बातों का समावेश प्रबन्ध दूषण। बलदेव उपाध्याय ने अपने भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रबन्धौचित्य की चर्चा करते हुए उसकी पुष्टि में मेघदूत के उस श्लोक का उदाहरण दिया है, जहाँ यक्ष मेघ के वंश की प्रशंसा करते हुए उसमें चेतनत्व का आरोप करता है। क्षेमेन्द्र ने कालिदास द्वारा शिव-पार्वती के सुरत चित्रण को प्रबन्धार्थ के लिए अनुचित बताया है। उन्होंने प्रबन्ध-ध्वनि के औचित्य को भी प्रबन्धौचित्य संज्ञा दी है। तथा प्रकरण-ध्वनि को प्रबन्धौचित्य की।

आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध-ध्वनि-औचित्य या प्रबन्धौचित्य का विस्तृत विवेचन किया है। वृत्त तथा उत्प्रेक्ष्य दोनों प्रकार के इतिवृत्तों के औचित्य की चर्चा करते हुए उन्होंने रसाभिव्यंजक कथाओं और घटनाओं को ही उपादेय बताया है। उसमें रसानुकूल परिवर्तन भी न्याय्य है। काव्य तथा नाटक दोनों में ही प्रा ंगिक कथा, सन्धि-निवेश तथा ऋतु-वर्णन आदि का रसानुकूल उपयोग होना चाहिए, उनकी अति न हो, अंग कभी भी अंगी का स्थान न ले ले। प्रासंगिक विषयों में आत्यासक्ति बड़े-बड़े काव्यों में भी प्रबन्ध-दोष बन जाता है। सारांशतः निम्न दोषों से प्रबन्धौचित्य भंग होता है—

१. अंग का अति विस्तृत वर्णन।

२. अंगी अथवा प्रधान व्यक्ति का ही अननुसन्धान (विस्मरण)।

३. अनंग (रसानुपकारक वस्तु) का वर्णन, तथा

४. पात्रों की प्रकृति का व्यत्यय (परिव र्न)। अरस्तू ने भी पात्रों को प्रारम्भ से अन्त तक एक प्राकृतिक रखने पर बल दिया है।

प्रबोधन—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

प्रबोधिता—मंजुभाषिणी नामक वर्णिक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मंजुभाषिणी।

प्रभाववाद—किसी वस्तु या कला-कृति द्वारा हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव को ही सब कुछ मानने वाली धारा या शैली। प्रभाववादी किसी वस्तु के या दृश्य के चित्रण में उसके विवरणों की संश्लिष्ट योजना को आवश्यक नहीं मानते। वे कवि या कलाकार द्वारा उस वस्तु या दृश्य को देख अपने हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन ही उसके कर्त्तव्य की इतिश्री मानते हैं। प्रभाववादी आलोचक भी किसी काव्य

आदि को उत्तमता की सच्ची परख यही बताते हैं कि उससे हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है या उससे किस प्रकार की अनुभूति होती है। उनको उसके रसमय या दोष-मय होने से कोई प्रयोजन नहीं। रिंचर्म के 'न्यू क्रिटिसिज्म' से उद्धरण देते हुए आचार्य शुक्ल अपने चिंतामणि (पृ० ६३) में कहते हैं, "विद्वत्ता से सम्बन्ध रखने वाला निर्णयात्मक आलोचक और रुचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक हैं। एक पुरुष है, दूसरी स्त्री। एक सक्रिय है, दूसरी निष्क्रिय। एक प्रतिष्ठित आदर्श को लेकर किसी काव्य की परीक्षा में प्रवृत्त होता है और उसके प्रभाव में न आकर अपनी क्रिया में तत्पर रहता है। दूसरी उस काव्य के प्रभाव को चुपचाप ग्रहण करती हुई उसी में मग्न हो जाती है।" शुक्ल जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य में अनुभूति की प्रधानता होते हुए भी प्रभाववादी साधनहीन अधिकारियों की रोक-टोक न रहने से साहित्य-क्षेत्र में कूड़ा-करकट भर जायेगा।

अंग्रेजी में वर्जीनिया वुल्फ और डोरोथी रिचार्डसन आदि की अनेक कहानियां प्रभाववाद की कोटि में आती हैं। ये लोग थोड़े से विवरण या घटनाएँ एकत्र कर उनके द्वारा तत्काल पैदा किये गये प्रभाव का वहन करते हैं। (दे० संवेदनावाद)। इन्हीं विवरणों को लेकर यथार्थवादी (दे० यथा०) और प्राकृतवादी (दे० यथा०) सविवरण कैमरे-सा चित्र खींचते हैं और अभिव्यंजनावादी (दे० यथा०) अपना सम्बन्ध बाहरी विवरण से न रखकर आंतरिक भावनाओं का चित्र उपस्थित करता है। (और दे० प्राकृतवाद, यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद, आदर्शवाद)।

प्रमाणिका—ज रा ल गा प्रमाणिका, प्रत्येक पाद में जगण, रगण, लघु और गुरु वाला अनुष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द। इसे नगस्वरूपिणी और प्रमाणी भी कहते हैं।

प्रमाणी—प्रमाणी नामक वर्णिक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० प्रमाणिका।

प्रमिताक्षरा—प्रमिताक्षरा स ज स सा विलसे, सगण, जगण और दो सगणों से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

प्रयत्न—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

प्रयोगवाद—"उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अथवा अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणावश सीधी-तिरछी लकीरों, सीधे या उलटे अक्षरों आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियों की रचना अज्ञेय के शब्दों में प्रयोगवादी रचना है।" (नंददुलारे वाजपेयी)। कविता-संग्रह 'तारसप्तक' की 'विवृत्ति' में अज्ञेय प्रयोगवादी कवियों के विषय में कहते हैं कि 'ये प्रयोगवादी कवि किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। राही या राह पर चलने वाले भी नहीं हैं। ये हैं केवल राहों के अन्वेषी।' तारसप्तक के कवियों में उनके विचार से "मतैक्य नहीं है।

सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग-अलग है। जीवन के विषय में समाज-धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के विषय में, छंद और तुक के विषय में, कवि के दायित्वों के विषय में प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, वे सब एक दूसरे की रुचियों और आशाओं-विश्वासों पर एक दूसरे की जीवन-परिपाटी पर और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हसते हैं।"

यह है प्रयोगवाद की स्वयं उसके प्रणेता कवियों द्वारा निरूपित व्याख्या। एकदम नवीनता की ओर मोड़ लेने की झोंक में किए गए प्रयोगों के फलस्वरूप उद्भूत रचनाओं को एक सुलभ शब्द के अभाव में प्रयोगवादी रचना कहा जाता है। वह नाम भी स्वयं इस बाद के आविष्कारकों को सूझ है। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रयोगवाद कोई वाद नहीं है। प्रथित-पथ से ऊबे हुए कवि के हृदय में होने वाले कल्पना के नवोद्रेक के फलस्वरूप वह अनायास-अनजाने नए-नए प्रयोग करने लग जाता है। निराला की 'जुही की कली' या 'कुकुरमुत्ता' और पंत की 'धोबिन का नृत्य' कविताएँ इसी कारण प्रयोगवादी कोटि में गिनी जाती हैं। कुछ आचार्य तो प्रयोगवाद का यथार्थ जन्म वैदिक-वाङ्मय में खोजते हैं। उनके मत से प्रतिभाशाली प्रयोगवादी कवि स्वभाव से ही नई दृष्टि लेकर पैदा होता है और नई कला का स्वरूप विधान करता है। सारांशतः विषय, वस्तु, अलंकार, भाषा, शब्द-चयन-शैली, छंद-बंध सभी दृष्टियों से नई और अमर नूतनता वाली कविता प्रयोगवादी कविता है।

प्रयोगवादी कविता की आलोचना करते हुए पं० नंददुलारे वाजपेयी अपने 'आधुनिक साहित्य' के पृष्ठ १५ पर कहते हैं "हिन्दी काव्य-परम्परा में प्रयोगवादी शैली कभी भी अधिक सम्मानसूचक नहीं रही। योग शब्द से प्रायः नए अभ्यास, नवीन प्रयास, या नई निर्माण चेष्टा का अर्थ लिया जाता है। प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक कुम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्त्व न हो। वास्तविक सृजन और क्रांत-दर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है। सृष्टा और संदेशवाहक न होकर वह प्रवक्ता मात्र होता है।" वाजपेयी जी के मत से ये रचनाएँ नितान्त मूल्यहीन तो नहीं, परन्तु उनमें साहित्यिक परिष्कार की बड़ी आवश्यकता है।

प्रयोगवादी कविता के उदाहरणस्वरूप डा० सत्येन्द्र द्वारा दिया गया विचित्र व्याख्यापूर्ण उदाहरण देखिए।

यह है रोटी, बोटी नहीं है बोटी [1]
खेत में हल चलाकर जनक ने सीता निकाली [2]
जनक की पेशानी के चरागाह पर
दौड़ रही है तूफानों की नई हवाएँ—
टपक रहा है उससे अब श्रम से पैदा हुआ पसीना,
उसने बीज बखेरे
पदा हुआ अन्न
जो पीसा गया दो पाटों में
जैसे शादी शुदा भाई-भावज के बीच देवर की प्रतिमा हो।[3]
आटा बना।
गीला हुआ,
रोटी बनी,
तवे चढ़ी,
तपी, तपी
तो फूली, फूली देखकर मन[4]
वह फूली जैसे मेंढक फूला-फूला फटा[5]
फूलती रोटी फटी भाप निकली
रेल की सीटी बजते समय निकलती तेज भाप जैसी[6] इत्यादि

प्रयोगातिशय—नाटक की प्रस्तावना का एक भेद, जहाँ एक ही प्रयोग में दूसरे प्रयोग का आरम्भ हो जाए और उसीसे पात्र का प्रवेश भी, जैसे कुन्दमाला में सूत्रधार अपनी आर्या को बुलाना चाहता है, उसी समय लक्ष्मण सीता से "आर्ये इधर आए" कहते हुए दिखाए जाते हैं। सूत्रधार अपने प्रयोग से दूसरे प्रयोग के आरम्भ और पात्र-प्रवेश की सूचना देकर विदा लेता है।

प्रयोजनवती—लक्षणा नामक शब्द शक्ति का एक भेद। विशेष दे० लक्षणा।

---

१. नए ढंग से अहिंसा के तत्व का प्रतिपादन।
२. श्लेष से नई युक्ति द्वारा आदि काव्य के अन्नोत्पादन का श्रम।
३. शादी शुदा शब्द से सारगर्भित यथार्थ शैली, कवि की बहुज्ञता।
४. रोटी में अन्योक्ति, श्रमी का फूलना ही यथार्थ फूलना।
५. लोक वार्ता में मेंढक का प्रयोगवादी समन्वय।
६. उपमा का नया प्रयोग।

प्ररोचना (१)—विमर्श नामक नाटक-संधि का एक भेद। विशेष दे० विमर्श।

प्ररोचना (२)—भारती नामक वृत्ति का एक अंग। विशेष दे० भारती।

प्रलय—**प्रलयः सुख दुःखानां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः।** —साहित्यदर्पण।

सुख और दुःख के कारण चेष्टा और ज्ञान का नष्ट हो जाना। यह एक सात्विक भाव है।

प्रलाप—कामातुरों की दस चेष्टाओं में से एक। विशेष दे० कामदशा।

प्रवर्तक—नाटक की प्रस्तावना का एक भेद, जहाँ सूत्रधार समय या ऋतु आमि का वर्णन करे और उसी रूप में पात्र का प्रवेश दिखाया जाए।

प्रवर्तन—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

प्रवास—कार्यवश या सं म (घबराहट, भय) वश नायक का देशांतर-गमन। इसमें नायिकाओं के शरीर और वस्त्रों में मलिनता, सिर में एक चोटी, निःश्वास, उच्छ्वास और भूपतन रोदन आदि क्रियाएँ होती हैं। कार्यज प्रवास के भूत, वर्तमान और भावी तीन भेद हो जाते हैं।

प्रवृत्ति—वृत्ति का एक अपेक्षतया रूप प्रचलित नाम। विशेष दे० वृत्ति, रीति।

प्रवेशक—नाटक में संसूच्य वस्तु की सूचना देने के लिए प्रयुक्त किए जाने-वाले पाँच साधनों में से एक। विशेष दे० अर्थोपक्षेपक।

प्रशस्ति—निर्वहण नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

प्रसंग—विमर्श नामक नाटक-संधि का एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

प्रसक्ति—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

प्रसाद (१)—निर्वहण नामक नाटक-संधि का एक अंग। विशेष दे० निवहण।

प्रसाद (२)—आदि में त्रिकल, द्विकल गत अंत। सोलह मात्राओं, आदि में त्रिकल तथा द्विकल और अन्त में गुरु लघु होने से बनने वाला संस्कारी जाति का सम मात्रा छन्द। इसे शृंगार भी कहते हैं। तीन मात्राएँ एक साथ पढ़े जाने वाले समूह (या शब्द) में आने पर त्रिकल बनता है, इसी प्रकार दो मात्राओं से द्विकल।

प्रसाद (३)—**चित्तं व्यापप्रोतियः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानिलः।**

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः। —साहित्यदर्पण।

भरत के मत से काव्य-गुण अथवा दण्डी के मत से विदर्भी रीति का गुण प्रसाद तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा कल्पित काव्य के ओज माधुर्य के साथ तीसरे गुण

प्रसाद की कल्पना में अन्तर नहीं है। जहाँ शब्द के सुनने के साथ ही उसके रूढ़ या प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण अर्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है, वहाँ पर प्रसाद गुण बताया जाता है। किन्तु जहाँ पर प्रसिद्ध अर्थ के विपरीत यौगिक शब्दों से बने हुए शब्दों से दूर की कौड़ी लाने वाला अर्थ निकाला जाता है, इस गुण का अभाव माना जाता है।

प्रसादन—प्रतिमुख नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० प्रतिमुख।

प्रसिद्धि—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

प्रसिद्धि त्याग—लोकप्रसिद्ध बात छोड़ देने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०), जैसे बादल चिल्ला रहे हैं, यहाँ बादलों की गरजना ही प्रसिद्ध है, चिल्लाना नहीं।

प्रसिद्धि विरुद्धत्व—लोक में प्रसिद्ध अर्थ के विपरीत वर्णन से उत्पन्न अर्थ-दोष (दे० यथा०) जैसे तब शंकर गदा लेकर दौड़े, यहाँ शंकर की गदा लोक में प्रसिद्ध नहीं। अतः यह दोष है।

प्रस्तार—छन्दों के सम्पूर्ण भेदों (दे० सूची) में प्रत्येक का स्वरूप बताने वाला प्रत्यय (दे० यथा०)। (१) वर्णिक छन्दों के प्रस्तार की विधि यों है—जितने वर्णों की जाति की छन्द-संख्या जाननी हो, उतने गुरु (ऽ) ऊपर की पंक्ति में रख लेने चाहिएँ। दूसरी पंक्ति में बाईं ओर से जो सबसे पहला गुरु हो, उसके नीचे लघु (।) रखकर शेष यथावत् उतार लेना चाहिए। आगे वाली पंक्तियाँ भी इसी नियम से क्रमशः पिछली-पिछली पंक्ति के आधार पर उतारनी होती हैं, हाँ, प्रस्तावित लघु (ऊपर के सबसे पहले गुरु के स्थान पर लिखे जाने वाले लघु) के पहले यदि पिछली पंक्ति में कोई लघु हो, तो उसे गुरु (ऽ) कर दिया जाता है। इन्हीं नियमों के सहारे तब तक बढ़ते जाना चाहिए, जब तक सब लघु न आ जाएँ। २, ३ और ४ वर्णों वाली जाति के प्रस्तार के निम्न नमूने इन नियमों को स्पष्ट कर देंगे—

(२ वर्ण) अत्युक्ता		(३ वर्ण) मध्या		(४ वर्ण) सुप्रतिष्ठा	
संख्या	रूप	संख्या	रूप	संख्या	रूप
१	SS	१	SSS	१	SSSS
२	IS	२	ISS	२	ISSS
३	SI	३	SIS	३	SISS
४	II	४	IIS	४	IISS
		५	SSI	५	SSIS
		६	ISI	६	ISIS
		७	SIS	७	SIIS
		८	III	८	IIIS
				९	SSSI
				१०	ISSI
				११	SISI
				१२	IISI
				१३	SSII
				१४	ISII
				१५	SIII
				१६	IIII

(२) मात्रिक छन्दों की प्रस्तार-विधि थोड़ी-सी भिन्न है—मात्राओं की संख्या से बनने वाले गुरु उपयुक्त रीति से रखने चाहिये, हाँ, विषम मात्राओं वाले छन्दों से एक लघु बचेगा, वह गुरुओं के बाईं ओर रख देना चाहिए। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक पंक्ति में मात्राओं की संख्या पर ध्यान रखना पड़ता है कि वह न्यूनाधिक न हो जाए। फिर पहले गुरु के नीचे लघु और शेष यथावत् उतार लेने के उपयुक्त क्रम से बढ़ना चाहिए और बाईं ओर के लघु के नीचे गुरु रख देना चाहिए, पर ऐसा करने से यदि एक मात्रा बढ़ती हो, तो लघु के नीचे लघु ही रख दो और उसके नीचे गुरु या लघु लिखे बिना ही मात्राएँ पूरी हो जाएँ, तो उसके नीचे खाली छोड़ दो। और लघु के नीचे गुरु रखने से मात्राओं की संख्या में कमी आ जाए, तो जितनी कमी हो, उतने लघु बाईं ओर रखो।

३, ४ और ५ मात्राओं की जाति के प्रस्तार के नमूनों से ये नियम स्पष्ट हो जाएँगे—

३ मात्रा छन्द		४ मात्रा छन्द		५ मात्रा छन्द	
संख्या	रूप	संख्या	रूप	संख्या	रूप
१	IS	१	SS	१	ISS
२	SI	२	IIS	२	SIS
३	III	३	ISI	३	IIIS
		४	SII	४	SSI
		५	IIII	५	IISI
				६	ISII
				७	SIII
				८	IIIII

प्रस्तावना—आमुख या भूमिका का ही अन्य नाम। विशेष दे० आमुख।

प्रस्तुत—उपमा के एक अंग उपमेय का अन्य नाम। विशेष दे० उपमेय।

प्रस्तुतांकुर—एक अर्थालंकार जिसमें अनिच्छित वाच्य रूप प्रस्तुत द्वारा व्यंग्य रूप इच्छित प्रस्तुत का द्योतन होता है—

सुवरन वरन सुवास युत, सरस दलनि सुकुमार,
चंपकली को तजत अलि, तैं ही होत गँवार।

—मतिराम

यहाँ कली से नवोढ़ा व्यंग्य है, और भ्रमर सम्बोधन द्वारा विषय भी व्यंग्य है।

प्रस्थानक—**प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः।**
दासी च नायिका वृत्तिःकैशिकी भारती तथा।
सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहृतिः
अंकौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तदा।

—साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। इसमें नायक दास, उपनायक नीच, नायिका दासी और वृत्ति कैशिकी और भारती होती है। सुरापान से वांछित फल-प्राप्ति होती है। दो अंक रहते हैं। और लय-ताल आदि का खूब विलास होता है। दर्पणकार

संस्कृत में इसका उदाहरण शृंगारतिलक बताते हैं।

प्रहरण कलिका—न न भ न ल ग है प्रहरण कलिका; दो नगणों, भगण, नगण, लघु और गुरु से बनने वाला शक्वरी जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ७-७ पर यति होती है। इसे प्रहरण लतिका भी कहते हैं।

प्रहरण लतिका—प्रहरण कलिका नामक वर्णवृत्त का ही अन्य नाम। विशेष दे० प्रहरणकलिका।

प्रहर्ष—(१) नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

प्रहर्ष (२)—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

प्रहर्षण—एक अर्थालंकार, जिसमें सहसा बिना यत्न इच्छित फल मिल जाता है, या इच्छितार्थ से अधिक मिल जाता है या यत्न की खोज में काम सध जाता है, क्रमशः—

(१) जाकी चित चाह तेई चौकी देन आये री।

—दूलह

(२) माँगे हम फूल पीउ पारिजात लाये री।

—दूलह

(३) हरि की सुधि को राधिका चली अली के भौन।
हँसत बीच हरि मिल गए, बरन सकै छवि कौन।

—मतिराम

प्रहसन—भाणवत्संधिसंध्यंगलास्यांगांकैर्विनिर्मितम्।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम्।
अंगी हास्यरसस्तत्र वीथ्यंगानां स्थितिर्न वा।
तपस्विभगवद्विपप्रभृतिष्वत्र नायकः।
एको यत्र भवेद्धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते।
आश्रित्य कंचन जनं संकीर्णमिति तद्विदः।
वृत्तं बहूनां धृष्टानां संकीर्णं केचिदूचिरे।
तत्पुनर्भवति द्व्यंकमथवैकांकनिर्मितम्।
विकृतं तु विदुर्यत्र षण्ढकंचुकितापसाः।
भुजंगचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युताः। —साहित्यदर्पण

रूपक के दस भेदों में एक भेद। यह भाण के समान एकांकी, और मुख और निर्वहण सन्धि तथा दसों लास्यांगों वाला होता है। इसमें निन्दनीय पुरुषों की कवि-कल्पित कहानी होती है। हास्य रसप्रधान होता है। वीथी के अंग (दे० यथा०) होते

भी हैं, नहीं भी होते। यह तीन प्रकार का होता है, शुद्ध संकीर्ण और विकृत। जहाँ तपस्वी, सन्यासी, ब्राह्मणों आदि नायकों में केवल एक ही धृष्ट हो, वह शुद्ध प्रहसन है, जैसे संस्कृत में कन्दर्पकेलि। किसी एक धृष्ट पुरुष का आश्रय लेकर रचा गया, या किसी-किसी के मत से बहुत से धृष्ट पुरुषों वाला संकीर्ण होता है, यह दो अंक का भी हो सकता है। संस्कृत में दर्पणकार के मत से इसके उदाहरण क्रमशः धूर्तचरित और लटकमेलक हैं। तीसरा विकृत प्रहसन वहाँ होता है, जहाँ नपुंसक, कंचुकी या तपस्वी, कामुकों, बन्दीजनों या वीरों आदि के वेष या बातों का अनुकरण करें।

प्रहेलिका—पहेली शब्द का ही संस्कृत रूप। रस विरोधी होने से इसे अलंकार नहीं माना गया। विशेष दे० पहेली।

प्राकृतवाद—साहित्य में स्वाभाविकता या यथार्थवाद (दे० यथा०) और विशेषतः जीवन का निकट से अनुकरण। नाटक में 'जीवन के खंड' को उपस्थित करने की इस धुन में फ्रांस के नाटककारों ने वस्तुयोजना तक को ठुकरा दिया। इन नाटकों में जीवन की इधर-उधर की बातचीत और ढेर सारे विवरण रहते हैं, उनको अनूठा बनाने वाला चुनाव या व्यवस्था नहीं। अनेक आलोचकों का मत है कि यह दूसरे चरम की ओर चला जाना है। टाम रावर्टसन को अंग्रेजी रंगमंच पर वास्तविक द्वार और खिड़कियाँ आदि लाकर सफलता नहीं मिली। अभिव्यंजनावाद (दे० यथा०) से इसका प्रधान अन्तर यही है कि वह आन्तरिक बातों की ओर विशेष ध्यान देता है, जब कि यह कैमरे की भाँति बाहरी जीवन का ही लेखा-जोखा खड़ा करता है। (और दे० यथार्थवाद, प्रगतिवाद)।

प्राप्ति (१)—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

प्राप्ति (२)—मुख नामक नाटक-सन्धि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

प्राप्ति (३)—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

प्राप्त्याशा—नाटक में पाँचवीं अर्थप्रकृति कार्य की तीसरी अवस्था। विशेष दे० अवस्था, अर्थप्रकृति, सन्धि, वस्तु।

प्रार्थना—गर्भ नामक नाटक-सन्धि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

प्रासंगिक—कला वस्तु का एक गौण विभाग। विशेष दे० वस्तु।

प्रियोक्ति—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

पृच्छा—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

प्रेखण—**गर्भविमर्शरहितं प्रेंखणं हीननायकम्**
असूत्रधारमेकांकमविष्कम्भप्रवेशकम्।

नियुद्धसंफटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम्

नेपथ्य गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना। —साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। जिसमें नायक हीन हो, गर्भ विमर्श संधियाँ, सूत्रधार, विष्कम्भक और प्रवेशक न हों, युद्ध संफेट और सब वृत्तियाँ हों ऐसा एकांकी प्रेंखण है। इस में नांदी और प्ररोचना ने पथ्य में पढ़ी जाती हैं। दर्पणकार इसका उदाहरण बालिवध बताते हैं।

प्रेक्षागृह—नाटकीय रंगमंच भवन का ही अन्य नाम। विशेष दे० रंगमंच।

प्रेत-लेखक—वह लेखक जिसकी कृति किसी दूसरे लेखक के नाम से (उपनाम से नहीं) छपे, और वह गुप्त बना रहे।

प्रेमाख्यान—प्रेम की कहानियों वाले काव्य ग्रंथ। हिन्दी-साहित्य में सूफियों ने अनेक अद्भुत प्रेमाख्यान लिखे हैं।

प्रेय—एक अर्थालंकार, जो भाव के गुणीभूत होकर किसी का अंग बन जाने पर होता है। अत्यन्त प्रिय होने के कारण इसे प्रेय कहते हैं। जैसे—(१) "शिथिल अधमुँदे नेत्रों वाली और मेरे कंठाश्लेष में ढीली हुई भुजलता वाली उस मृगाक्षी का स्मरण कर मेरा चित्त शान्त नहीं पाता"। यहाँ स्मरणाख्य भाव वियोग शृंगार का अंग है।

जगि-जगि बुझि-बुझि जगत में जुगनूं की गति होति।

कब अंतर परकास सों जगिहै जीवन जोति॥ —दुलारेलाल

यहाँ उत्कण्ठा भाव देव विषयक रति-भाव का अंग है।

प्रोत्साहन—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

प्रोषितपतिका—अनेक कामों में फँसकर जिसका प्रिय दूर देश चला जाए और जो कामवेग से पीड़ित हो, वह नायिका। यह नायिका के आठ अवस्था-भेदों में से एक है।

प्रोषितभर्तृका—दे० प्रोषितपातिका।

प्रौढ़ा—प्रगल्भा नामक नायिका का ही अन्य नाम। विशेष दे० प्रगल्भा।

प्रौढ़ोक्ति—एक अर्थालंकार, जिसमें ऐसा हेतु कहा (या माना) जाता है, जो वस्तुतः उत्कर्ष हेतु नहीं है, जैसे—

गंग नीर विधु रुचि झलक मृदु मुसुकानि उदोति,

कनक भौन के दीप लौं, जगमगाति तन जोति। —मतिराम

न गंगा में पड़ी चाँदनी में विशेष उज्ज्वलता होती है और न स्वर्णमन्दिर के दीप में विशेष ज्योति, अतः दो प्रौढ़ोक्तियां हैं।

प्लवंगम—गादि वसूराज्ञ नदी ज गांत प्लवंग में; २१ मात्राओं, प्रथम-अक्षर गुरु और अंत में जगण और गुरु तथा ८, १३ पर यति से बनने वाला त्रिलोक जाति का सम मात्रा छन्द।

(फ)

फल वृत्ति—उद्भट द्वारा प्रतिपादित तीसरी वृत्ति। विशेष दे० वृत्ति।

फलसंवित्ति—उद्भट द्वारा प्रतिपादित तीसरी वृत्ति। विशेष दे० वृत्ति।

फलागम—नाटक की पांचवी अर्थप्रकृति कार्य की पांचवीं अवस्था। विशेष दे० अवस्था, अर्थप्रकृति, संधि, वस्तु।

फलोत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० उत्प्रेक्षा।

बंध काव्य—अक्षरों के ऐसे विन्यास-विशेष वाला काव्य, जिसमें छन्दों के अक्षरों को विशेष प्रकार से रखने से नाना प्रकार के बंध बनते हैं। विशेष दे० चित्रकाव्य।

बयण सगाई—पुरानी राजस्थानी का एक शब्दालंकार, इसमें छन्द के एक चरण के पहले शब्द का जो पहला अक्षर होता था, वही उसी चरण के अंतिम शब्द का प्रथम अक्षर। जैसे—***अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।***
मेवाड़ो तिन माह, पोयरण फूल प्रतापसी॥

स्पष्ट ही पहले चरण के पहले और अन्तिम शब्द 'अ' से, दूसरे चरण के 'स' से तीसरे के 'म' से और चौथे के 'प्र' से आरम्भ होते हैं।

बर्बर-प्रयोग—ऐसे शब्दों आदि का प्रयोग, जो वर्तमान भाषा में न चलते हों और भाषा की विशुद्धता के नियम को भंग करते हों। प्रयोग से उठे हुए और विदेशी भाषाओं से लिये गये शब्द अथवा ऐसे शब्द भी, जो भाषा के शब्द-निर्माण की साधारण प्रथा का पालन किये बिना ही बन गये हों, बर्बरप्रयोगों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

बसंत तिलका—होती बसंत तिलका त भ जा ज गा गा, तगण, भगण, दो जगणों, और दो गुरु से बनने वाला शक्करी जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ८,६ की यतिव्यवस्था उचित ठहरती है। इसे उद्धर्षिणी और सिंहोन्मत्ता भी कहते हैं।

बासंती—मा ता ना मा गा गा भनत शुभ्रा बासंती, मगण, तगण, नगण, मगण, और दो गुरु से बनने वाला शक्करी जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ६ और ८ वर्णों पर यति होती है।

बिंदु—नाटक की दूसरी अर्थप्रकृति। विशेष दे० अर्थप्रकृति।

बिहारी—२२ मात्राओं १४-८ पर यति और क्रमशः दो चौकल, तीन त्रिकल और अंत में पाँच कल से बनने वाला महारौद्र जाति का सम-मात्रा-छन्द। (जैसे—जीते असंख्य शत्रु रहा दर्प दिखाता, आदि।)

बुद्धितत्व—कविता के हृदय-तत्त्व और बुद्धितत्त्व नामक दो तत्त्वों में से एक। इसका सम्बन्ध कला के रागात्मक पक्ष से न होकर कलापक्ष या निर्माण-कौशल से है। विशेष दे० कविता।

बीज—नाटक की पहली अर्थप्रकृति। विशेष दे० अर्थप्रकृति।

बृहती—६ वर्णों वाले वर्णवृत्तों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्त जाति।

(भ)

भगण—दीर्घ ह्रस्व ह्रस्व (ऽ । ।) वाला वर्णसमूह। विशेष दे० गण।

भग्न प्रक्रमत्व—एक क्रम (सम्बन्ध) से कही बात का फिर दूसरे प्रकार के क्रम से कहने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०) यह प्रकृति, प्रत्यय और पर्याय के क्रम को तोड़ देने से होता है। एक प्रकार से उठाई गई बात को उसी प्रकार से चलाते रहने से एकतानता रहती है। जैसे जलनिधि से धरती घिरी हुई है, वह तोय का आगार है, यहाँ या तो पहले तोयनिधि कहना चाहिए था या पीछे 'जल का आगार' अत: यहाँ पर्याय का भग्न प्रक्रमत्व है। ऐसे ही और भी जानने चाहिए।

भय—**रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्।** —साहित्यदर्पण

किसी भयावनी वस्तु की शक्ति से उत्पन्न चित्त में बेकली। यह भयानक रस का स्थायी भाव है।

भयानक—**भयानको भयस्थायिभाव: कालाधिदैवत:।**

स्त्रीनीचप्रकृति: कृष्णो मतस्तत्वविशारदै:

यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालंबनं मतम्।

चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुन:

अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्‌गदस्वरभाषणम्

प्रलयस्वेदरोमाञ्च कम्पदिक्प्रेक्षणादय:।

जुगुप्सावेगसंदोहसंत्रासग्लानिदीनता

शंकापरस्परसंभ्रान्तिमृत्य्वाद्या: व्यभिचारिण: —साहित्यदर्पण

भय स्थायी भाव, कृष्णा वर्ण, काल देवता तथा स्त्री और नीच पुरुषों के आश्रय वाला रस। आलंबन-जिस से भय पैदा हो। उद्दीपन-उसकी चेष्टाएँ आदि। अनुभाव-विवर्णता, गद्‌गद् भाषण, प्रलय, स्वेद, रोमांच, कंप, इधर-उधर ताकना आदि। संचारी भाव-जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दैन्य, शंका, अपस्मृति, भ्रान्ति, मृत्यु आदि। उदाहरण—

नभ से झपटत बाज लखि, भूल्यो सकल प्रपंच।

कंपित तन व्याकुल नयन, लावक हिल्यो न रंच।।—अलंकारकौमुदी

यहां बाज आलंबन, उसका झपटना उद्दीपन, चेहरे पर हवाइयां उड़ना, शरीर

कांपना, नेत्र व्याकुल होना आदि अनुभाव और आवेग, मोह, त्रास, दैन्य आदि संचारी भाव तथा भय स्थायी भाव है।

भरतवाक्य—नाटक के अन्त में आने वाली आशीर्वाद-युक्त पद्य। यह उस समय स्थित पात्रों में सर्वश्रेष्ठ पात्र द्वारा नायक को फल-प्राप्ति के साथ-साथ दिए गए आशीर्वाद के रूप में प्रयुक्त होता था। यूनानी नाटकों में कोरस (दे० यथा०) द्वारा वस्तु के समेटने की यह क्रिया संपन्न होती थी।

भागवत—१३ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

भाण—भाणः स्याद्धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः।
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पंडितो विटः
रंगे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा।
संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितै:
सूचयेद्वीरश्रृंगारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः।
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्ति: प्रायेण भारती
मुखनिर्वहणे संधी हास्यांगानि दशापिच। —साहित्यदर्पण

रूपक के दस भेदों में से एक भेद। यह एकांकी है, और धूर्तों के चरित्र, और अनेक अवस्थाओं वाला होता है। इसमें एक विट ही होता है, जो पंडित और निपुण होता है और अपने और दूसरों के अनुभवों को आकाशभाषित (दे० यथा०) द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति करके प्रकाशित करता है। वीरता और सौभाग्य का वर्णन कर वीर और श्रृंगार रस की सूचना दी जाती है। कथा कल्पित और वृत्ति भारती (कहीं कैशिकी) होती है। मुख और निर्वहण संधियां (दे० यथा०) और दसों लास्यांग (दे० यथा०) होते हैं। संस्कृत में इसका उदाहरण दर्पणकार ने लीलामधुकर बतलाया है।

भाणिकः—भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्याः मुखनिर्वहणान्विता।
कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकांकनिर्मिता।
उदात्तनायिका मन्दपुरुषात्रांगसप्तकम् —साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। इस एकांकी में वेषभूषा सुन्दर, मुख-निर्वहण संधियां, और कैशिकी-भारती वृत्तियां होती हैं। नायिका उदात्त होती है और नायक मंद। इसमें निम्न ७ अंग होते हैं। पहला किसी प्रसंग से कार्य का कथन 'उपन्यास' है, दूसरा निर्वेदपूर्ण वाक्यों का विस्तार 'विन्यास' है, तीसरा भ्रम दूर होना 'विबोध' है, चौथा मिथ्या-कथन 'साध्वस' है, पांचवां कोप या पीडा के कारण सोपालंभ वचन कहना 'समर्पण' है, छठा दृष्टांत देना 'निवृत्ति' है, और सातवाँ कार्य।

भाणिका—उपरूपक की समाप्ति 'संहार' है। दर्पणकार इस का उदाहरण कामदत्ता बताते हैं।

भारती—यह पाठ्य-प्रधान अ वा वाग्वृत्ति है। मधुकैटभ तथा विष्णु के वादविवाद के समय विष्णु द्वारा भूमि पर पदभार रखने से भारती का जन्म हुआ, भरतों नटों के वाग्विन्यास के कारण यह भारती हुई, दशरूपक तथा साहित्यदर्पण के अनुसार पुरुषों द्वारा प्रयुक्त (स्त्रियों द्वारा नहीं) संस्कृतप्रधान वाणी भारती वृत्ति कहलाई—

भारती पुरुषप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः। —साहित्यदर्पण

इस प्रकार इस विषय में कई मत हैं। नाट्यशास्त्र में इस वृत्ति के प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन चार अंग बताए गए हैं। प्रशंसा द्वारा श्रोता को प्रकृत वस्तु की ओर आकर्षित करना प्ररोचना है। (शेष यथा० दे०)

भरत ने भारती का क्षेत्र करुण और अद्भुत रस माना है। परन्तु ध्यानपूर्वक विवेचन के पश्चात् अन्य आचार्यों ने इसे अन्य रसों के लिए भी आवश्यक तथा प्रयोज्य माना है। स्त्रियों का इस वृत्ति के उपयोग में वर्जन सम्भवतः इस कारण किया गया था कि अपनी लज्जाशीलता के कारण वे शब्दों का प्रचुर प्रयोग न कर अन्य चेष्टाओं द्वारा ही अपने भावों का अधिकांश प्रकाशन करती हैं। भारती की उत्पत्ति भरत ने ऋग्वेद से मानी है तथा उसी वेद से पाठ्य की उत्पत्ति भी। अतः इस का पाठ्य-प्रधान या शब्द-प्रधान होना अनिश्चित है।

भालचन्द्र : रूपकांत नामक वर्णवृत्त का अन्य नाम। विशेष दे० रूपकांत।

भाव—निर्विकारात्मके चित्ते भाव : प्रथमविक्रिया। —साहित्यदर्पण

नायिका के जन्म से निर्विकार चित्त में उद्बुद्ध मात्र काम-विकार। यह नायिका का एक अंगज अलंकार भी है। (दे० नायिकालंकार)

भाव-ध्वनि—देवता, माता-पिता, गुरु, पूज्य-पुरुष और देश आदि में किसी रति, निर्वेद आदि भाव का प्रधान रूप में व्यंजित होना। यह रसात्मक उक्ति का एक प्रकार है। तुलसी और सूर की विनय के पद भाव-ध्वनि के ही उदाहरण हैं। यशोधरा के 'सखि वे मुझ से कहकर जाते' गीत में विषाद भाव की ध्वनि है, और सिद्धार्थ के 'घूम रहा है कैसा चक्र' में वितर्क भाव की ध्वनि है। इसी प्रकार उत्सुकता, चपलता, निर्वेद आदि अन्य भावों की व्यंजना को यथास्थल समझना चाहिए। रस की अपेक्षा भावों की व्यंजना भी कोई कम आनन्द नहीं देती। भावपूर्णता और सरसता प्रायः पर्याय बन जाते हैं। देवादिविषयक रति एकपक्षी होने से स्थायी रस नहीं बन जाती। ऐसी ही दशा अन्य उद्बुद्ध मात्र स्थायियों की रहती है। ये सब भाव ही रहते हैं। इसी प्रकार प्रधानता से ध्वनित होने वाले संचारी भाव भी भाव की कोटि में आते हैं।

भावपक्ष—कविता के कलापक्ष और भावपक्षों (क्रमशः शुद्धि तत्त्व और हृदय तत्त्व) में से एक। विशेष दे० कविता।

भाववैचित्र्यवक्रता—जहाँ पर भाव अर्थात् क्रिया की विचित्रता द्वारा चमत्कार उत्पादन किया जाए, भाववैचित्र्यवक्रता होती है। क्रिया साध्यरूपा होती है, और व्यापार निष्पादन से ही प्रयोजन रखती है। वक्रोक्तिजीवितकार के मत से जहाँ चमत्कार विधान के लिए भाव के साध्यरूप का तिरस्कार कर उसे सिद्ध रूप में प्रदर्शित किया जाए, वहां यह वक्रता होती है। तिङन्त साध्य पदों को छोड़ सुबन्त (कृदन्त आदि) सिद्ध क्रियापदों को अपनाने से यह चमत्कार उत्पन्न होता है।

भाव-शबलता—जहाँ अनेक भावों का मिश्रण हो। जिस प्रकार खंडरसों वाले व्यंजन में एक विलक्षण स्वाद आ जाता है, उसी प्रकार अनेक भावों के मेल से एक विलक्षण आनन्द की प्रतीति होती है। यह रसात्मक उक्ति का एक प्रकार है। उदाहरण—

जो सीतहिं में मैं मृतक तजी हा ! कियो पाप यह,
मो बिन वन में कहा जियेगी विधु-वदनी वह।
किमि सज्जन-मुख नैन यहै मम देखि सकेंगे।
अँगुरिन मोहि दिखाइ हाय ! वे कहा कहेंगे।
जाय राज्य पाताल कह, मोहि न याकी चाह है,
प्रानहु करें पयान मोंहि इनकी ना परवाह है। —हिन्दी रसगंगाधर

इस एक ही छप्पय में असूया, विषाद, मति, स्मृति, वितर्क, लज्जा और निर्वेद भावों को व्यंजित किया गया है। यहाँ अनेक भावों के मिश्रण से भाव-शबलता है।

भाव-शान्ति—पहले से वर्तमान किसी भाव की शान्ति। जैसे—

भामिनि अजहुँ न तजसि तैं, रिस, उनई घनपांति,
गयो सुतनु-दृग-कोन रंग, सुनि प्रिय बच इहिं भाँति।

यहाँ दृग-कोन-रंग से व्यंजित अमर्ष भाव का प्रिय वचन सुनकर शान्ति होती बतायी गयी है। यह रसात्मक उक्ति का एक प्रकार है। और देखिए—

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को। —हरिऔध

यहाँ औत्सुक्य की विषाद भाव से शान्ति है।

भाव-संधि—जहां दो भावों की एक साथ समान रूप में स्थिति हो। यह भावों के व्यंजित रहने और चमत्कार के होने पर ही होती है, दो भावों के एकस्थल में नाम

से वर्णन में नहीं। जैसे 'हर्ष विषाद हृदय अकुलानी' में इन भावों के व्यंजित न होने से भाव-संधि नहीं है, पर 'पर्वत-सुता न चली न ठहरी, हुई चित्ररेखा-सी भ्रान्त' में 'न चली' में उत्सुकता और 'न ठहरी' में लज्जा के एक ही स्थल में व्यंजित होने के कारण यहां भाव-संधि है। यह रसात्मक उक्ति का एक प्रकार है। इसी प्रकार देखिए—

प्रिय बिछुरन को दुसह दुख, हरस जाति प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियत, तजन प्रान एहि बार॥

भावाभास—जहां भाव-वर्णन में अनौचित्य हो, (दे० भावौचित्य) यह समाज की मर्यादा के उल्लंघन में होगा, जैसे नीच पुरुषों में धैर्य, मति आदि और उत्तम पुरुषों में जड़ता, उन्माद, आलस्य आदि भावों का निरूपण। जैसे कुबरी को देख लक्ष्मण का क्रोध—

हुमकि लात तकि कूबर मारा। इत्यादि।

यहाँ क्रोध भाव के आश्रय की महत्ता और आलंबन की हीनता के कारण क्रोध की अपुष्टि ही नहीं, वह उपहासनीय भी हो गया है।

भाविक—**अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः।**
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्।

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो भूत या भविष्य की किसी बात के प्रत्यक्षवत् होने पर होता है। जैसे (१) तुम्हारे इन नेत्रों की वह अवस्था जब इन में अंजन लगा था अब भी मेरे सामने है और आगे होने वाले भूषणों से रमणीय तुम्हारी आकृति भी मेरे सामने खड़ी है। यह प्रसाद-गुण, अद्भुत रस और अतिशयोक्ति भ्रांतिमान् और स्वभावोक्ति अलंकारों से भिन्न है।

(२) और देखिए—

सुनि तोसों ऐहैं इहां काल्हि जु जमुना तीर।
सो अब ही मोरे दृगन बस्यो आइ बलबीर। —बैरीशाल

भावोदय—पूर्वस्थित किसी दूसरे भाव के शान्त होने पर किसी दूसरे का भाव उदय। जैसे यशोधरा से राहुल यह कहता हुआ अनेक कल्पनाएँ बांधता है—

"विहग समान यदि अंब पंख पाता मैं,
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं। आदि

पर अन्त में उसे याद आ जाती है।

"किन्तु बिना पंखों के विचार सब रीते हैं।
हाय पक्षियों से भी मनुष्य गये-बीते हैं।

इस से विषाद भाव का उदय हो जाता है।

यह रसात्मक उक्ति का एक प्रकार है।

भाषौचित्य—भोजराज ने अपने अलंकार-प्रकरण में जाति अलंकार का निर्देश किया है, उनका अभिप्राय पात्रों द्वारा उचित अवसरों पर उचित भाषा का प्रयोग है। भावानुसारिणी भाषा का प्रयोग तो सर्वत्र आवश्यक है ही, पात्र विशेष की स्थिति के अनुसार भाषा का प्रयोग भी क्या वांछित है अथवा नहीं, इस प्रश्न को लेकर अभी हाल में कुछ विवाद खड़ा हो गया है। प्रचीन काल में तो संस्कृत के आचार्यों ने इस विषय में विशेष नियम बनाए थे। स्त्रियों तथा अपढ़ पात्रों के लिए संस्कृत का प्रयोग निषिद्ध ठहराकर प्राकृत का प्रयोग निश्चित किया गया था। भरत ने नाट्य-शास्त्र के १८वें अध्याय में भाषा-विधान पर विस्तृत प्रकाश डाला है। भोज ने इसे वक्तृ-औचित्य तथा पात्रानुरूपभाषात्व-गुण बताया है।

भाषौचित्य का अपना अलग महत्त्व है। स्वाभाविकता की सिद्धि के लिए वक्ता की स्थिति के अनुरूप भाषा ही श्रोताओं को अधिक रोचक लगेगी। अरस्तू ने भी इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डाला है। भाषा हृदय के भावों के प्रकाशन का माध्यम है, अतः दोनों का अनिवार्य रूप से वांच्छित सामंजस्य इस सिद्धान्त के पालन से ही संभव है। विषय की सुकुमारता तथा कठोरता की दृष्टि से भी भाषा को तदनुरूप बनाना चाहिए। आजकल यह तो उचित नहीं है कि हिन्दी-नाटकों के मुसलमान पात्र संस्कृत गर्भित हिन्दी बोलें, पर ऐसी फारसी-अरबी गर्भित भाषा का प्रयोग भी उपादेय नहीं हो सकता जो हिन्दी-पाठकों की समझ से ही बाहर हो जाय। यह तो ऐसा ही होगा जैसा चीनी पात्र से चीनी तथा अन्य विदेशी पात्र से उसी की भाषा में भाषण दिलवाना। अतएव यह भाषौचित्य को भंग ही करेगा।

भाषण—निर्वहण नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

भुक्तिवाद—रस की भट्ट नायक द्वारा की जाने वाली व्याख्या। विशेष दे० रस सम्प्रदाय।

भुजंग प्रयात–भुजंगप्रयाता बने चार या सो। चार यगणों से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

भुजंगी—य या या ल गा से भुजंगी रचो। तीन यगण, लघु और गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द।

भूपति—मध्य गुरु (।ऽ।) मात्रा गण का, जिसका अन्तर्भाव जगण नामक वर्णिक गण में होता है, अन्य नाम। विशेष दे० गण।

भूषण—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

भृंग—न न न न न न, गुरु अरु लघु लसत ललित भृंग, ६ नगण, गुरु

और लघु से बनने वाला कृति जाति समवृत्त छन्द। इसमें ६, ६ और ८ पर यति होती है।

भेंट—किसी लब्धप्रतिष्ठ और प्रतिष्ठित व्यक्ति के साथ पत्रकार और लेखक की भेंट के बाद उससे पूछे गये प्रश्नों के आधार पर लिखा गया उसके व्यक्तित्व पर संक्षिप्त लेख।

भेद (१)—नायक द्वारा नायिका का मान तोड़ने के लिए अपनाया जानेवाला एक उपाय। विशेष दे० मानभंग।

भेद (२)—मुख नायक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

भेदकातिशयोक्ति—अतिशयोक्ति नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० अतिशयोक्ति।

भ्रंश—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

भ्रम—**साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान्प्रतिभोत्थितः।**

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें सादृश्य के कारण दूसरी वस्तु (उपमेय) में किसी दूसरी वस्तु (उपमान) का सुन्दर और कल्पित (मिथ्या) निश्चयात्मक ज्ञान निरूपित किया जाता है। पागल या भ्रान्त व्यक्ति का रस्सी में सांप का भ्रम चमत्कारपूर्ण न होने से इस अर्थालंकार का विषय नहीं होता। सन्देह में अनेक कोटियों वाला अनिश्चयात्मक ज्ञान रहता है, यहाँ विरुद्ध प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे—

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाडिम का समझकर भ्रान्ति से,
देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है।

यहां मोती में अनार और नाक में तोते का चमत्कारपूर्ण सादृश्यमूलक भ्रम है। इसे भ्रान्तिमान् भी कहते हैं। (और दे० उत्प्रेक्षा, आरोप)

भ्रमर-विलसिता—मा भा न ल्गा भ्रमर-विलसिता, मगण, भगण, नगण, लघु और गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द। इसमें यति चौथे वर्ण के बाद और पदान्त पर होती है।

भ्रमरावली—भ्रमरावलि सोहति पंच सकार मिलें, पाँच सगणों से बनने वाला अतिशक्करी जाति का समवृत्त छन्द।

भ्रान्तिमान्—भ्रम नामक अर्थालंकार का अन्य नाम। विशेष दे० भ्रम।

मंच निर्देश—नाटक के लिखित अंश में नाटककार द्वारा दिए गए निर्देश। पुराने नाटकों में ये निर्देश अत्यन्त सूक्ष्म रहते थे, पर अब नये नाटकों (विशेषतः रेडियो-नाटकों और एकांकी नाटकों) में ये बहुत अधिक—दो-तीन पृष्ठ तक—लम्बे होने लग गये हैं। इसमें नाटककार को स्वयं कुछ टिप्पणी करने का अवसर मिल जाता है।

मंजरी—सात जगण और एक गुरु से बनने वाले वाम सवैया का अन्य नाम विशेष दे० वाम।

मंजुगति—दिक्पाल नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० दिक्पाल।

मंजुभाषिणी—स ज सा ज गा कहत मंजुभाषिणी, सगण, जगण, सगण, जगण, और गुरु से बनने वाला अतिगजती जाति का समवृत्त छन्द। इसे सुनन्दिनी, कनकप्रभा, प्रबोधिता और कोमलालापिनी भी कहते हैं।

मंथान—मंथान है ता त, प्रत्येक पाद में दो तगण (SSI, SSI) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द।

मन्दाक्रान्ता—मन्दाक्रान्ता म भ न त त गा गा कहैं छन्दवेत्ता, मगण, भगण, नगण, दो तगणों और दो गुरु से बनने वाला अत्यष्टि जाति का समवृत्त छन्द।

मन्दारमाला—हैं सात ता एक गा, वृत्त मन्दार माला उसे गाइये ध्यान से। सात तगणों और एक गुरु से बनने वाला आकृति जाति का समवृत्त छन्द। इसमें दसवें अक्षर और पादान्त में यति होती है।

मकरन्द—सात जगण और एक गुरु से बनने वाले वाम सवैया का अन्य नाम विशेष दे० वाम।

मगण—गुरु गुरु गुरु (SSS) वाला वर्णसमूह। विशेष दे० गण।

मणिमाल—स ज जा भ रा स ल देख लो कह दो उसे मणिमाल। सगण, दो जगणों, भगण, रगण, सगण और लघु से बनने वाला अतिवृत्ति जाति का समवृत्त छन्द। इस में १२-७ पर यति होती है।

मति—नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः
स्मेरता धृतिसन्तोषौ बहुमानश्च तद्भवः।

—साहित्यदर्पण

। । ।, ऽ) वाला उष्णिक् जाति का समवृत्त छन्द ।

मध्या—३ वर्णों वाले वर्णवृत्तों की जाति का नाम । विशेष दे० वृत्त जाति ।

मध्या—मध्या विचित्रसुरता प्ररूढ़स्थिरयौवना ।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीड़िता मता । —साहित्यदर्पण

विचित्र-सुरता, प्ररूढ़ कामविकार और प्ररूढ़ यौवन वाली कुछ पटु वचन बोलने वाली और मध्यम लज्जा करने वाली नायिका । यह स्वकीया का एक भेद है और नायक के प्रति कम या अधिक प्रेम रखने वाली धीरा, अधीरा या धीरा-धीरा के भेद से इसके छः भेद हो जाते हैं । भेद दे० यथा० ।

मनमोहन—मनमोहन चौदह न अंत, चौदह मात्राओं और अन्त में नगण से बनने वाला मानव-जाति का सममात्र छन्द । इसमें ८-६ पर यति होती है ।

मनविश्राम—पाँच भकार तथा न य हों जब बोलत मनविसरामा । पाँच भगणों नगण और यगण से बनने वाला प्रकृति जाति का समवृत्त छन्द । इसमें ११-१० पर यति होती है ।

मनहंस—स ज जा भ रा मनहंस छन्द सुहावना । सगण, दो जगणों, भगण और रगण से बनने वाला अतिशक्करी जाति का समवृत्त छन्द । इसे मानहंस, रणहंस और मानसहंस भी कहते हैं ।

मनहरण—घनाक्षरी नामक वर्णिक दण्डक का अन्य नाम । विशेष दे० घनाक्षरी ।

मनोरथ—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में एक । विशेष दे० नाटक-लक्षण ।

मनोरम—आदि ग हो म वा य अन्ता, चौदह मनोरमहिं मंता । चौदह मात्राओं आदि में गुरु और अन्त में मगण या यगण से बनने वाला मानव-जाति का सममात्रा छन्द ।

मरण (१)—रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ।
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकांक्षितं तथा ।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः । —साहित्यदर्पण

कामातुरों की दसवीं या अन्तिम चेष्टा । इसका काव्य में सीधा निरूपण नहीं किया जाता, क्योंकि तब शृंगार करुण में परिणत हो जाएगा । विशेष दे० काम-दशा ।

मरण(२)—शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत् । —साहित्यदर्पण

बाण आदि लगने पर प्राणों को छोड़ना । इसमें शरीर का पतन आदि होता है । यह एक संचारी भाव है । देखिए—

आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्यपुत्र तो
अजर अमर हैं सुयश के शरीर में। —आर्यावर्त

मरहटा—दिसि (१०) वसु (८) शिव (११) कल यति अन्त गाल रचि करिय मरहटा छन्द। १०-८-११ पर यति वाली २६ मात्राओं और अन्त में गुरु-लघु होने से बनने वाला महाभौतिक जाति का सम-मात्रा-छन्द।

मल्लिका (१)—सुमुखी नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० सुमुखी।

मल्लिका (२)—मल्लिका सु रा ज गा ल, प्रत्येक पाद में रगण, जगण, गुरु और लघु (ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।) वाला अनुष्टुप जाति का समवृत्त छन्द। इसे समानी भी कहते हैं।

महाकाव्य—**सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक सुरः।**
सद्वंशः क्षत्रियोवापिधीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवाःभूपाः कुलजा बहवोऽपिवा।
शृंगारवीरशान्तानामेकऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपिरसाः सर्वे नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव च।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैःपद्यैःरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वांतवासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीयाः यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्ग नाम तु। —साहित्यदर्पण

प्रबन्ध-शैली पर सर्गबद्ध बड़ी कविता। इसमें एक देवता या अनेक सत्कुलीन राजा नायक होते हैं। शृंगार, वीर, शान्त में से एक रस अंगी होता है, अन्य गौण।

सभी नाट्य-सन्धियाँ (दे० यथास्थान) होती हैं। कथा इतिहास या लोक-प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग में से एक फल होता है। आरम्भ में आशीष, नमस्कार या वर्ण्य-वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलनिन्दा और कहीं सन्त-स्तुति होती है। न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द होता है, किन्तु अन्तिम छन्द भिन्न होता है और कहीं-कहीं उसी सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिये। सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रभात, मध्याह्न, शिकार, पर्वत, सभी ऋतुओं, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि-आदि विविध बातों का यथासम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। इसका नाम कवि के नाम से, चरित्र के नाम से या नायक के नाम से होना चाहिए। सर्ग की वर्ण्य-कथा से सर्ग का नाम रखना चाहिए। ऋषि प्रणीत महाकाव्य में सर्गों का नाम आख्यान होता है, प्राकृत-महाकाव्यों में आश्वास और अपभ्रंश महाकाव्यों में कुडवक।

यह महाकाव्य की पौर्वात्य धारणा है। पश्चिम में इसे वीरतापूर्ण चरित्रों का वर्णन करती हुई उत्कृष्ट शैली में लिखा वर्णनात्मक पद्य मानते हैं। इसके विशेष गुण हैं—(१) साधारण कथानक में एकता के निर्वाह के साथ एक केन्द्रीय वस्तु में प्रासंगिक कथाओं का समावेश, (२) दैनिक जीवन की तुच्छताओं से परे पौराणिक या उच्च आदर्श वाली प्राचीन भव्य कथा का निरूपण, (३) आदर्श गुण वाले प्रधान तथा अन्य पात्रों का चित्रण, (४) माधुर्य और प्रसादपूर्ण भव्य शैली और (५) विषय-प्रधान रीति की रचना और कवि की अध्यांतरिक भावनाओं का प्रकट न किया जाना।

इससे स्पष्ट है कि महाकाव्य के लिए प्रतिभा, अभ्यास और कुशलता अत्यन्त अपेक्षित हैं, जिससे शैली और विषय दोनों को ही उदात्त गौरव और आदर्श रूप दिया जा सके। कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान और उनका चुनाव, आधिकारिक और प्रासंगिक कथा-वस्तु का उचित निर्वाह और शृंखलन, अनावश्यक वर्णनों को चलते-चलते निपटाकर उपयोगी कथांगों पर ठहरना, पात्रों का यथोचित चित्रण, एक वातावरण का तैयार करना, देश और काल के प्रति सापेक्ष और सतर्क रहना ऐसी बातें हैं, जो महाकाव्य के लिए अत्यन्त अपेक्षित है, और जो प्रतिभा, अध्ययन और अभ्यास बिना नहीं आ सकतीं। महाकाव्य शैली पर लिखे गए ग्रन्थ प्रबन्ध काव्य नाम से भी पुकारे जाते हैं।

महातैथिक—३० मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

महादेशिक—२० मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

महानाटक—यथासम्भव सभी अर्थप्रकृतियों, सन्धियों, लास्यांगों, नाट्यालंकारों और नाटक-लक्षणों आदि से आभूषित नाटक। विशेष दे० नाटक।

महापौराणिक—१६ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

महाभागवत—२६ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

महायौगिक—२८ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

महारौद्र—२२ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

महालक्ष्मी—तीन रेफा महालक्ष्मी, प्रत्येक पाद में तीन रगण (SISSISSIS) वाला बृहती जाति का समवृत्त छन्द।

महावतारी—२५ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

महासंस्कारी—१७ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष

मही—'मही लगा,' प्रत्येक पाद में एक लघु और एक गुरु (IS) वाला अच्युक्ता जाति का समवृत्त छन्द।

माणवक—भा त ल गा माणवका। प्रत्येक पाद में भगण, तगण, लघु और गुरु (S I I S S I I S) वाला अनुष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द। इसे मानवक्रीड़ा भी कहते हैं।

मात्रा—अक्षरों विशेषतः स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय का परिमाण। यह छन्दशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। व्यंजनों का उच्चारण बिना स्वरों की सहायता के न होने के कारण उनमें कोई मात्रा नहीं गिनी जाती। अ इ उ ऋ स्वरों को ह्रस्व कहते हैं और इनके उच्चारण के समय को एकमात्रिक गिनते हैं। छन्दशास्त्र में शेष सभी स्वर दीर्घ और द्विमात्रिक माने जाते हैं। ह्रस्व का चिह्न (I) और दीर्घ का चिह्न (S) है। अनुस्वार और विसर्ग भी दीर्घ हैं। इसके अतिरिक्त संयुक्ताक्षर के पहले का स्वर ह्रस्व होने पर भी उसके उच्चारण मे लगने वाले दूने समय के कारण दीर्घ और द्विमात्रिक माना जाता है। इसी प्रकार पाद के अन्त के स्वर को भी आवश्यकतानुसार कभी दीर्घ और ह्रस्व मान लेते हैं। अनुनासिक (अर्द्धचन्द्र) के कारण ह्रस्व स्वर दीर्घ नहीं होता। उपर्युक्त नियमों के अनुसार 'सलिल'

शब्द में तीन मात्रा हैं, 'राधा' में चार, कम्पन में चार, दुःख में तीन, हृदय में तीन चक्र में 'च' पर जोर पड़ने के कारण तीन, पर 'तुम्हारे' में 'तु' पर जोर न पड़ने के कारण पांच, 'लीला तुम्हारी अति ही विचित्र' में पादान्त 'त्र में दो मात्राओं के कारण 'विचित्र' शब्द में पांच मात्राएँ हैं। हंसि, नन्दलाल के अनुनासिक 'हं, नं' में एक ही मात्रा है। बृजभाषा पद्य में उच्चारण के अनुसार इन नियमों के अपवाद भी देखे जाते हैं—कह्यो, भज्यो आदि में, 'क' 'न' पर जोर न पड़ने के कारण तीन ही मात्राएँ गिनी जाती हैं, और इसी प्रकार 'जो' 'सो' 'करेहु' आदि को भी आवश्यकतानुसार ह्रस्व रूप में पढ़ लिया जाता है। कभी-कभी इसके लिए अक्षरों की तोड़-मरोड़ भी देखी जाती है। स्वयं तुलसी बहुत को 'बहूता' आदि लिखते देखे जाते हैं, और ऐसी निरंकुशताएँ प्रायः सभी पुराने कवियों में देखी जाती हैं।

मात्रागण—मात्राओं का समूह। ये पांच प्रकार के निर्दिष्ट किये गये हैं। विशेष दे० गण।

मात्राजाति—एक मात्रा से ३२ मात्राओं तक के मात्रिक छन्दों की जातियों के नाम और भेद आचार्यों द्वारा गिनाए गए हैं। ३२ से अधिक मात्रा वाले छन्द मात्रा दंडक कहे जाते हैं। इनका स्वरूप प्रस्तार की सहायता से जाना जाता है। ये इनके संभव भेद हैं।

विवरण निम्न हैं—

पाद की मात्रा-संख्या	जाति नाम	भेद
१	चान्द्र	१
२	पाक्षिक	२
३	राम	३
४	वैदिक	५
५	याज्ञिक	८
६	रागी	१३
७	लौकिक	२१
८	वासव	३४
९	आंक	५५
१०	दैशिक	८९
११	रौद्र	१४४
१२	आदित्य	२३३
१३	भागवत	३७७
१४	मानव	६१०

१५	तैथिक	९८७
१६	संस्कारी	१५९७
१७	महासंस्कारी	२५८४
१८	पौराणिक	४१८१
१९	महापौराणिक	६७६५
२०	महादैशिक	१०९४६
२१	त्रैलोक	१७७११
२२	महारौद्र	२८६५७
२३	रौद्रार्क	४६३६८
२४	अवतारी	७५.०२५
२५	महावतारी	१.२१.३९३
२६	महाभागवत	१.९६.४१८
२७	नाक्षत्रिक	३.१७.८११
२८	यौगिक	५.१४.२२९
२९	महायौगिक	८.३२.०४०
३०	महातैथिक	१३.४६.२६९
३१	अश्वावतारी	२१.७८.३०९
३२	लाक्षणिक	३५.२४.५७८

मात्रादंडक—३२ मात्राओं से अधिक मात्राओं वाले छन्द दंडक कहे जाते हैं। विशेष दे० दंडक।

मात्रानष्ट—मात्रा छन्दों के रूप जानने की रीति। विशेष दे० नष्ट।

मात्राप्रस्तार—मात्रा छन्दों के रूप जानने की रीति। विशेष दे० प्रस्तार।

मात्रिक छन्द—मात्राओं की गणना के आधार पर गिने जाने वाले छन्द। इनका दूसरा नाम जाति भी है।

मात्रिक सवैया—वीर नामक मात्रिक छन्द का अन्य नाम। विशेष देखिये वीर।

माधवी—वाम नामक सवैया का अन्य नाम विशेष। विशेष दे० वाम।

माधुर्य (१)—संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितः।

—साहित्यदर्पण

घबड़ाहट के कारणों के उपस्थित होने पर भी न घबड़ाना—यह नायक का एक सात्विक गुण है। दे० (सात्विक-गुण)

माधुर्य (२)—सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता।

—साहित्यदर्पण

सभी विशेष अवस्थाओं में रमणीय होने का भाव। यह नायिका का एक अयत्नज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

माधुर्य (३)—**चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।**
मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडान्विना॥
रणौलघु च तद्व्यक्तौवर्णाःकारणेतांगताः।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्या मधुरा रचना तथा॥

—साहित्यदर्पण।

भरत के मत से दस सामान्य काव्य-गुणों तथा दण्डी के मत से वैदर्भ मार्ग के दस गुणों में गिने गये माधुर्य-गुण में तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा काव्य के ओज और प्रसाद के साथ गिने गए तीसरे माधुर्य गुण में विशेष अन्तर नहीं है। माधुर्य का अर्थ मधुरता या रसवत्ता है। अन्तःकरण द्रुत करने वाला आनन्द विशेष माधुर्य है। सानुनासिक और र ण अक्षरों वाली, ट ठ ड ढ आदि कठोर अक्षरों-रहित और समास-रहित या नव समास वाली रचना माधुर्य पूर्ण होती है। शब्द तथा अर्थमाधुर्य नाम से यह दो प्रकार का हो जाता है। वैदर्भ मार्ग के प्रेमी श्रुत्यानुप्रास को छोड़ अन्य शाब्दिक माधुर्य को उतना नहीं अपनाते किन्तु गौड़ी रीति वालों का तो अभीष्ट ही आडम्बर है। अर्थमाधुर्य से आचार्यों का अभिप्राय गँवारू तथा अश्लील अर्थ भी बताने वाले शब्दों के बहिष्कार से भी रहा है।

मान—नायक-नायिका और विशेषतः नायिका का सकोप रूठना। इस के प्रणयमान और ईर्ष्यामान दो भेद हैं। (भेद दे० यथा०)। यह विप्रलंभ शृङ्गार का एक भेद है।

मानभङ्ग—नायिका के मान (दे० यथा०) को तोड़ने के लिए नायक द्वारा अपनाये गये उपायों द्वारा उसके मानका टूट जाना। इसके छः उपाय बताये गये हैं। मीठी बातें कर समझाना 'साम' है। नायिका की सखी को अपनी ओर तोड़ लेना 'भेद' है। किसी बहाने से भूषण आदि देना 'दान' है। पैर पर गिरना 'नति' है। इन चारों के असफल होने पर उपाय छोड़ बैठ रहना 'उपेक्षा' है। घबराहट, भय, हर्ष द्वारा मान टूट जाना 'रसान्तर' है।

मानव—१४ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

मानव क्रीड़ा—माणवक नामक वर्णवृत्त का अन्य नाम। विशेष देखिए माणवक।

मानवीकरण—मूर्त्त और अप्राण पदार्थों में रूपक की भांति मानवीय भावनाओं का आरोप। यह अंग्रेजी में एक काव्यालंकार माना गया है। 'मन' के हाथ-

पैर तोड़ने वाले महाकवि देव ने इसका प्रयोग किया था, पर हिन्दी में तब इसे अलंकार नहीं माना गया था। आज अलंकार के रूप में इसका प्रचुर प्रयोग होता है। पंत 'छाया' में कहते हैं।

कहो कौन हो दमयन्ती-सी तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई ?

मानसहंस—मनहंस नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मनहंस।

मानहंस—मनहंस नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मनहंस।

मानिनी—सुमुखी नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० सुमुखी।

माया—मा ता या सा गा शुभ माया तब सोहै, मगण, तगण, यगण, सगण और गुरु से बनने वाला अति जगती जाति का समवृत्त छन्द। इसके ४ और ६ वर्णों पर यति होती है। इसे मत्तमयूर भी कहते हैं।

मार्ग—गर्भ नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

मालती (१)—मत्तगयंद नामक सवैया का अन्य नाम। विशेष देखिए मत्तगयन्द।

मालती (२)—न ज ज र शोभित मालती शुभा, नगण, दो जगणों और रगण से बनने वाला समवृत्त छन्द। इसे यमुना भी कहते हैं।

माला—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

मालादीपक—तन्मालादीपकं पुनः।
धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम्। —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो अनेक धर्मियों के उत्तरोत्तर एक ध र्म से होते चले जाने पर होता है। जैसे—तुम्हारे युद्ध में आने पर धनुष ने बाण पाये, बाणों ने शत्रु के सिर पाये, शत्रुओं के शिरों ने धरती पायी, धरती ने तुम पाये और तुम ने यशपाया।

(२) नाक में नथुनी, नथुनी में लटकन।
लटकनि माँहि मोती मोती अधर पै राजै री॥ —दूलह

मालिनी—न न म य य गणों से मालिनी सोहती है। दो नगणों, मगण, और दो यगणों से बनने वाला अतिशक्करी जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ८-७ पर यति होती है।

मालोपमा—मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते। —साहित्यदर्पण

एक साम्यमूलक अर्थालंकार जिसमें एक उपमेय (दे० यथा०) की अनेकों उपमानों (दे० यथा०) से समता का वर्णन होता है। यह समता अनेक उपमानों के साथ एक ही समानधर्म को लेकर भी होती है और भिन्न धर्मों को भी। इससे इसके दो

भेद हो जाते हैं—समानधर्मा और भिन्नधर्मा। क्रमशः उदाहरण—

"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी।
तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी"॥ —और
"मैं सुमन सदृश हँस-हँसकर जग को भी साथ हँसाऊँ।
सौरभ समीर-सा लेकर मैं फैल विश्व में जाऊँ॥
कोकिल-सा पंचम स्वर में गा कर मैं रस बरसाऊँ।

—गोपालशरण सिंह

माल्यकृत—नाटक में उपयोगी मालाएँ तैयार करने वाला माली।

मिथ्याध्यवसित—एक अर्थालंकार, जिसमें एक झूठ के लिए दूसरा झूठ कहा जाता है, जैसे—

खल वचनन की मधुरता चाखि साँप निज सौन।
रोम-रोम पुलकित भयो, कहत मोहि गहि मौन॥ —मतिराम

साँप के न तो कान होते हैं न रोम।

मिलिंदपाद—छः पाद वाला समवृत छन्द। मिलिंद (भौंरे) के छः पैरों के कारण यह नाम दिया गया है। भुजंगी और भुजंगप्रयात आदि छन्दों के मिलिंदपाद अधिक प्रचलित हैं।

मिश्रबन्ध—समता नामक प्राचीन काव्य-गुण के लिए उपयुक्त बताए गए बन्धों में से एक। विशेष दे० समता।

मिश्रविष्कंभक—नाटक में संसूच्य वस्तु की सूचना देने वाले अर्थोपक्षेपकों का एक प्रभेद। विशेष दे० अर्थोपक्षेपक।

मीलित—**मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा।** —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो किसी तुल्य लक्षण वाली वस्तु किसी अन्य वस्तु के छिप जाने पर होता है। पर तुल्य लक्षण वस्तु कभी सहज होती है कभी बाहर से आई हुई। जैसे—विष्णु के वक्ष पर लगा लक्ष्मी के कुचों की कस्तूरी का चिन्ह विष्णु की शरीर-शोभा ने एकरूप हो जाने के कारण किसी से पहचाना नहीं गया। यहाँ श्यामल शरीर शोभा सहज है।

(२) रत्नकुण्डली की किरणों से सदा लाल रहने वाले कामिनियों के मुख क्रोध से लाल होने पर भी कामुकों को शंकित करते थे। यहाँ लालामी आई हुई है।

(३) और देखिए—

भइ जु छवि तन बसन मिलि, वरनि सकै सु न बैन।
आंग-ओप आंगी दुरी, आंगी आंग दुरै न॥ —बिहारी

मुकरी—छेकापन्हुति नामक अपन्हुति-अलंकार के एक भेद का अन्य नाम।

विशेष दे० अपन्हुति।

मुकुन्द—ता भा ज जा गल भजौ सुखदा मुकुन्द। तगण, भगण, दो जगणों गुरु और लघु से बनने वाला शक्करी जाति का समवृत्त छन्द। इसे हरि-लीला भी कहते हैं।

मुकुटकृत—नाटक में आने वाले मुकुटों को बनाने वाला।

मुक्तक (१)—संस्कृत शास्त्रकारों द्वारा समास-रहित गद्य को दिया गया नाम। विशेष दे० गद्य।

मुक्तक (२)—दूसरे से निरपेक्ष स्वतन्त्र रचना। यह जीवन के किसी एक पक्ष का या एक दृश्य या प्रकृति के एक विशेष पक्ष का चित्र मात्र होता है। पूरे जीवन का लेखा नहीं। गेय कविता प्रबन्ध-परम्परा में उतनी प्रस्फुटित नहीं हुई जितनी मुक्तक में। इसी कारण प्रत्येक देश-काल में इसका अपना महत्त्व रहा है।

किसी विशेष मानवीय भावना पर प्रकाश डालने के लिए, एक चुभती हुई-सी सूक्ति कहने के लिए, सरल भाषा में प्रकृति का एक चित्र उपस्थित करने के लिए, और चमत्कारपूर्ण उक्तियों और इहात्मक या व्यंग्यपूर्ण वक्रोक्तियों आदि के लिए मुक्तकों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया है। प्रबन्ध काव्य एक उद्यान है, जब कि मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसलिए केन्द्रीकरण, संक्षेप, वाग्वैदग्ध्य और प्रतिभा की कुशलता इसमें अपेक्षतया अधिक आवश्यक है।

मुक्तक-छन्द—वह छन्द जो सर्वथा स्वच्छन्द और मुक्त होता है और छन्द-शास्त्र का कोई भी बन्धन नहीं मानता। कविता देवी के उपादानों में नये-नये प्रयोगों आविष्कारों की यह रीति बिल्कुल नई है, पुराने कवि तो शास्त्रकारों द्वारा निरूपित छन्दों तक ही अपने को सीमित रखते थे। यद्यपि नन्ददास जैसे विरले कवि रोला जैसे पुराने घिसे हुए छन्दों में 'सुनो ब्रजनागरी' आदि टेक लगाकर कुछ नई उद्भावना कर लेते थे, पर पीछे चलकर रीतिकालीन दृष्टिकोण तो प्रायः आधे दर्जन छन्दों में ही संकुचित हो गया था। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया बिलकुल अनिवार्य थी।

खड़ी बोली में कविता आरम्भ होते समय यह समस्या सामने थी। आचार्य द्विवेदी संस्कृत वृत्तों के समर्थक थे, और उनकी प्रेरणा हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में मूर्तिमती हुई। उर्दू की बहरों, गजलों और लावनियों की दिशा में भी प्रयोग हुए। पर ये सब भाषा में स्वाभाविकता के आने में बाधक बने। अंग्रेज़ी के प्रभाव में तुकों के नये क्रमों के प्रयोग हुए। पर अतुकान्त मात्रिक छन्दों के प्रयोग ने दिशा ही बदल दी। प्रसाद ने अपने प्रेम-पथिक में इसे अपनाकर पुरानी परम्पराओं की धज्जियाँ उड़ा दीं और नये युग का सूत्रपात किया। पन्त के पास आकर तो युग की वाणी बिलकुल ही उन्मुक्त हो गई।

खुल गए छन्द के बन्ध, प्रास के मुक्त पाश,
अब भाव मुक्त औ, युगवाणी बहती अयास ।

उनका स्वच्छन्द छन्द आधुनिक भावों की कलापूर्ण अभिव्यंजना का महान् साधन बना। 'आँसू' 'उच्छ्वास' 'परिवर्तन' आदि कविताओं के स्वच्छन्द छन्द (यदि वे छन्द हैं) युगों तक इस कलाकार की साधना को अमर रखेंगे। छन्द के चरणों को कहीं छोटा और कहीं बड़ा बनाकर उनमें प्रभाव की सृष्टि की जाती है। आकस्मिक तोड़, या सहसा यति के बाद नई पंक्ति का खिंचाव नया सौंदर्य पैदा कर देता है।

पर हिन्दी के मुक्तक छन्द की कहानी निराला के नामोल्लेख बिना पूरी नहीं हो सकती। रबड़ छन्द, कैंचुआ छन्द या कंगारू छन्द—ये नाम भले ही उपहास में दिये गये हों, पर निराला का मुक्तक छन्द अपने आप में कला का उन्नत परिपाक है। जुही की कली देखिए—

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी,
अमल कोमल तन तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किए
शिथिल पत्रांक में ।

मुक्तक-गद्य—संस्कृत शास्त्रकारों द्वारा समास-रहित गद्य को दिया गया नाम। विशेष दे० गद्य।

मुक्तक दण्डक—२६ अक्षरों से अधिक अक्षरों वाले उन वर्णिक छन्दों का सामान्य नाम, जिनमें गणव्यवस्था नहीं होती। विशेष दे० दण्डक।

मुक्तहरा—जकार मिले जब आठ लखौ तब मुक्तहरा मनमोहन छन्द। आठ जगणों से बनने वाला संस्कृति जाति का समवृत्त छन्द।

मुक्तामणि—तेरह रवि यति, अंत गंग मुक्तामणि रचि लीजै, १३-१२ पर यति और अन्त में दो गुरु से बनने वाला २५ मात्राओं (महावतारी जाति) का सम-मात्रा-छन्द। दोहे के अन्तिम अक्षर को दीर्घ कर देने से यह छन्द बन जाता है।

मुख—**यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानारससमुद्भवा ।**
प्रारंभेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥ —साहित्यदर्पण

नाटक की पहली सन्धि। यह कार्य अर्थप्रकृति (दे० यथा०) की प्रथम अवस्था आरम्भ के समानान्तर चलने वाला नाटक की वस्तु का प्रथम विभाग है। फल की प्रथम हेतु बीज-अर्थप्रकृति की उत्पत्ति इसी भाग में होती है। इसमें नाना रसों और अर्थों की सम्भावना छिपी रहती है। आधुनिक विवेचना में भी इस नाटकीय आमुख का

विशेष महत्त्व है। पात्र, स्थिति, हित, स्वार्थ और संघर्ष सभी की झांकियां इसमें मिलनी चाहिएँ।

दर्पणकार इस सन्धि के निम्न बारह अंग बताते हैं। पहला अंग काव्यार्थ (इतिहास, प्रकृत-अभिधेय) की उत्पत्ति 'उपक्षेप' है, दूसरा उत्पन्न अर्थ की बहुलता बताने वाला 'परिकर' है, तीसरा उत्पन्न अर्थ की सिद्धि 'परिन्यास' है, चौथा गुण-कथन 'विलोभन' है, पाँचवाँ अर्थों का निर्धारण 'युक्ति' है, छठा सुख का आगमन 'प्राप्ति' है, सातवां बीज का आगमन 'समाधान' है, आठवां सुख-दुःख से मिश्रित अर्थ 'विधान' है, नवां कुतूहल भरी बातें 'परिभावना' है, दसवां बीजभूत अ ै का प्रौढ़ हो जाना उद्भेद है, ग्यारहवां प्रकृत कार्य के आरम्भ का नाम 'करण' है और बारहवां मिले हुओं में भेद डालना या किसी के मत से प्रोत्साहन देना 'भेद' है। (विशेष दे० संधि, अर्थप्रकृति, वस्तु, नाटक)

मुख्यार्थ—अभिधेय अर्थ का ही अन्य नाम। विशेष दे० अभिधा।

मुग्धा—प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा। —साहित्यदर्पण

ऐसी नायिका, जिसमें नवयौवन की शोभा और कामदेव का विकार पहले-पहले आये हो, जो रति में झिझकती हो, जिसका मान सरल और अचिरस्थायी हो और जो अधिक लज्जा करे। यह स्वकीया का एक भेद है।

मुद्रा—एक अर्थालंकार, जिसमें प्रस्तुत पदों में और भी सूचनीय अर्थ निकले, जैसे—

हंसि हंसि पहराई आपनी फूलमाला।
भुज गहि गहिराई प्रेम वीची विसाला॥
रति-सदन अकेली काम केली भुलानी।
ननुमय यह बानी मालिनी की सुहानी॥ —देव

यहां मालिन का वर्णन है और मालिनी छन्द (न न म य य) का उदाहरण भी है।

मुरजबन्ध—छन्द में अक्षरों का ऐसा चयन, जिसका विशेष रूप से विन्यास करने पर मुरज का आकार बन जाय। विशेष दे० चित्रकाव्य।

मूढता—शिल्पक नाम उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

मूर्च्छा—कामातुरों की दस चेष्टाओं में से एक। विशेष दे० कामदशा।

मूर्त्त विधान—कलाकार द्वारा किसी वस्तु या भाव को प्रस्तुत करते समय उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक आदि की कल्पना के सहारे उस भाव का सहायक एक बिम्ब या चित्र खींचना। कलाकार का अपना अनुभव उसकी कल्पना द्वारा खींचे गये ऐसे रूपों

या चित्रों द्वारा ही उसके अभीष्ट अभिप्राय को स्पष्ट कर उसे सफल बनाता है और यह रूपविधान या मूर्तविधान ही उसकी वास्तविक सफलता है। इस शैली को मूर्तविधान-वाद कहते हैं। इससे मूर्त्त और अमूर्त्त भावों का सम्बन्ध तो स्थापित होता है, वर्ण्य-विषय भी समृद्ध हो जाता है।

मूर्त विधानवाद—कल्पना के साथ मूर्त्त चित्र उपस्थित कर देने वाली शैली। विशेष दे० मूर्त्तविधान।

मृगी—'रा मृगी', प्रत्येक पाद में एक रगण (SIS) वाला मध्या जाति का समवृत्त छन्द।

मृति—दूसरी या अन्तिम कामदशा। काव्य में इसका साक्षात् वर्णन नहीं होता। विशेष दे० कामदशा।

मृदुबन्ध—समता नामक प्राचीन काव्यगुण के लिए उपयोगी निरूपित किये गये बन्धों में से एक। विशेष दे० समता।

मोटनक—ता जा ज लगा कहि मोटनका। तगण, दो जगण, लघु और गुरु के संयोग से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द।

मोट्टायित—**तद्भावभाविते चित्ते बल्लभस्य कथादिषु।**

मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकंडूयनादिकम्। —साहित्यदर्पण

प्रिय की कथा के प्रसंग में उसी के अनुराग में डूबी नायिका के कान खुल जाना आदि भाव। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

मोतियदाम—ज चार बने शुभ मोतियदाम। चार जगणों से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

मोद—पांच भकार मकार सकार गुरु इक होवे सुन्दर मोदा। पांच भगणों, मगण, सगण और एक गुरु से बनने वाला आकृति जाति का समवृत्त छन्द।

मोदक—मोदक चार भकार विराजत। चार भगणों से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

मोह—**मोहो विचित्रता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः।**

मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्। —साहित्यदर्पण

भय, दुख, घबराहट, अत्यन्त चिन्ता आदि से उत्पन्न चित्त की परेशानी। इसमे मूर्च्छा या चक्कर आना आदि होते हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

सुनत सुमन्त वचन नरनाहू।
परेउ धरनि उर दारुन दाहू।

मोहन—स ज मोहनाहिं। प्रत्येक पाद में सगण और जगण (IIS, ISI) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द।

मौग्ध्य—अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यपि वस्तुनः ।
वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्ववेदिभिः । —साहित्यदर्पण

नायिका द्वारा जानी-बूझी वस्तु को प्रिय के आगे अनजान बनकर पूछना। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

य

यगण—लघु गुरु गुरु (।SS) वाला वर्णसमूह । विशेष दे० गण ।

यति—पद्य की पंक्ति के बीच और अन्त में ठहरने का नियमित स्थान। प्रत्येक छन्द के यति विषयक नियम उसके लक्षण में ही बताये जाते हैं। उस नियम का पालन न होने पर यति-भंग का दोष हो जाता है।

यत्न—नाटक की पांचवीं अर्थप्रकृति कार्य की दूसरी अवस्था। विशेष दे० अवस्था, अर्थप्रकृति, सन्धि और वस्तु ।

यथार्थवाद—सत्य तथा ध्येय का ध्यान रखते हुए वास्तविक जीवन का चित्रण । प्रेमाख्यान में लेखक अपने विश्वास के सहारे स्वच्छन्दतापूर्वक जीवन का चित्रण करता है और एक आदर्श को अपनाकर चलता है, इसमें नहीं । इसे वस्तु-वाद या वास्तविकतावाद के नाम से भी पुकारते हैं । आधुनिक उपन्यास पुरानी आदर्श-वादिता की रूढ़ि को छोड़ इस ओर अधिक प्रवृत्त हो रहा है। स्वयं प्रेमचन्द्र तक में लोग यथार्थवाद खोज लेते हैं, जब कि उनकी उपदेशात्मकता सर्वविदित है। प्रसाद ने भी 'तितली' में आदर्शवाद को अपनाने के बाद 'कंकाल' में यथार्थवाद को अपना ध्येय बनाया था । तब से उपन्यास इसे बहुत अपनाता रहा है। नाटक में इब्सन ने पुरानी रूढ़ियों को जलाकर इसे जन्म दिया और उसके अनुयायियों ने तो जीवन का फोटो ही खींचकर अपने नाटकों में रखने का यत्न किया । गाल्सवर्दी का, जो प्रदर्शक लालटेन के वाहक (सीथ्रू ज लैटर्न बियरर) पुकारे जाते हैं, कथन है कि कैमरा किसी पदार्थ के सौन्दर्य का अंकन करने में यह नहीं देखता कि कौन भाग सुन्दर है और कौन असुन्दर । इसी प्रकार कलाकार को जीवन का चित्र खींचना चाहिए । कहना न होगा कि यथार्थवाद जीवन के असुन्दर और अश्लील रूप का ही माध्यम बनकर सामने आया, जब कि आदर्शवाद जीवन की उदात्त और उच्च सदाचारपूर्ण भावनाओं का समर्थक बना रहा । इस नाते यथार्थवाद का प्रगतिवाद से निकट सम्बन्ध है ।

और भी देखिए, प्रगतिवाद, अभिव्यंजनावाद, आदर्शवाद, प्रकृतवाद और प्रकृतिवाद ।

यथासंख्य—यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमणयत् । —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें कहे गये (उद्दिष्ट) पदार्थों का फिर उसी क्रम से कथन (अनदेश) होता है। इसे 'क्रम' भी कहते हैं। जैसे—

अमिय हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जिहि चितवत इक बार ॥

यहाँ अमिय, हलाहल, मद-भरे जिस क्रम से कहे गये हैं, उसी क्रम से उनके रंग और क्रियाएँ बताई गई हैं, जैसे—अमिय के 'सेत', और 'जियत', हलाहल के 'स्याम' और तथा 'मरत' 'मदभरे' के 'रतनार' और 'झुकि-झुकि परत'।

यमक—**सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।**
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते । —साहित्यदर्पण

एक शब्दालंकार, जिसमे स्वर-व्यंजन-समूह (शब्दों) की उसी क्रम से आवृत्ति होती है और यदि दोनो सार्थक हों तो अर्थ भिन्न होते हैं। दोनों सार्थक, दोनों निरर्थक और एक सार्थक एक निरर्थक—इस प्रकार इसके ३ भेद हो जाते हैं। क्रमशः उदाहरण—

(१) **जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं।**

यहाँ दोनों 'तारे' सार्थक हैं।

(२) **मन युधिष्ठिर को फिर क्यों हुई,**
विभवता-भवताप विधायिनी। —रामचरित उपाध्याय

यहाँ दोनों भवता निरर्थक हैं।

(३) **नेह सरसावन में मेह बरसावन में, सावन में झूलिवो सुहावनो लगत है।**
—पद्माकर

यहाँ पहले दो 'सावन' निरर्थक और तीसरा सार्थक है।

यमुना—मालती नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मालती।

यवनिका—नाटक में रंगमंच पर बाहर का परदा। इस शब्द को लेकर यह विवाद चला था कि यह भारत को यूनानी देन है और कुछ लोग तो भारतीय प्रेक्षागृहों और नाटकों तक में यूनानी प्रभाव ही नहीं, यूनानी अनुकरण तक की बात करने लगे थे। यूनानी कपड़े पर बनने के कारण या यूनानी चित्रकारी के कारण या यवनानी (यूनानी स्त्री) द्वारा खींचे जाने के कारण यह नाम यवनिका पड़ गया, ऐसी व्युत्पत्तियां उपस्थित की गई हैं। अस्तु, अनेक प्रभावों द्वारा यह तो सिद्ध हो ही गया है कि भारतीय नाटक यूनानी प्रभाव से स्वतन्त्र रूप में ही विकसित हुआ था।

यशोदा—विलास नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० विलास।

याच्ञा—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त किये जाने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

याज्ञिक—५ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति ।

यात्रा-साहित्य—शिक्षा, सूचना तथा मनोरंजन के लिए लिखा गया यात्राओं के विवरण का साहित्य। इसकी उपयोगिता निर्विवाद है।

युक्ति (१)—एक अर्थालंकार, जिसमें कुछ काम करके मर्म छिपा लिया जाय। जैसे—

देखि सूने सदन में ताहि मिलि रोई है। —दूलह

नायिका उपपति के साथ पकड़ी जाने पर उसे मायके का बताने के लिए रोने लगी।

युक्ति (२)—मुख नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

युक्ति (३)—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त किये जाने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

युग्म—दो पदों में एक वाक्य की पूर्ति या एक विषय का शृङ्खलित वर्णन होने पर वे दोनों पद-युग्म कहे जाते हैं।

युद्धवीर—वीर रस का एक भेद। विशेष दे० वीर।

यौगिक—२८ मात्राओं वाले मात्रा छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

र

रंगपीठ—रंगमंच के बाहरी भाग का भीतरी उपभाग। विशेष दे० रंगमंच।

रंगमंच—विशेष प्रकार से बनाया गया मंच, जिस पर नाटक का अभिनय होता हो। निःसन्देह आज के अधिकांश नाटक रंगमंच के लिए नहीं लिखे जाते, पर नाटक का मुख्य लक्ष्य तो उसका रंगमंच पर अभिनय ही है और इसी कारण उसे दृश्य काव्य माना गया है। भरत ने नाट्यगृह, नाट्यशाला, रंगशाला या प्रेक्षागृह (सब का अर्थ एक ही है) के बारे में बहुत-कुछ लिखा है। वे निर्माण के रूप की दृष्टि से उसके तीन भेद करते हैं। चौड़ाई से दूनी लम्बाई वाला 'विकृष्ट' होता है, बराबर चौड़ाई वाला 'चतुरस्र' और त्रिकोण के आकार का 'त्र्यस्र'। इनके भी आकार के हिसाब से ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद थे। विकृष्ट ही स्पष्टतः इनमें अधिक उपयोगी ठहरता है। इसके सबसे पीछे के पर्दे के भीतर के भाग को नेपथ्य कहते थे, जो कुछ सूचनाएँ देने, ध्वनि करने या वस्त्र-वेष बदलने के काम आता था। नेपथ्य के बाहर के रंगमंच के दो भाग होते थे—रंगशीर्ष और रंगपीठ। दोनों के बीच यवनिका रहती थी। शीर्ष पीठ से कुछ ऊँचा रहता था और इसमें विशेष अभिनय होता था। रंगपीठ या परदे के अगले भाग में नृत्य-गान होता था। और सूत्रधार यहीं से वस्तु की सूचना देता था। इसी में एक ओर संगीत-समाज का भी स्थान नियत रहता था। इसके आगे का भाग दर्शकों के लिए नियत रहता था। ब्राह्मणों के बैठने का स्थान सबसे आगे सफेद खम्भों से निर्दिष्ट रहता था, उसके पीछे क्षत्रियों का लाल खम्भों से, फिर वैश्य और शूद्रों का लाल और नीले खम्भों से। इस रंगमंच के विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह भी पता चलता है कि भारतीय रंगमंच सदैव एक जीवित संस्था रही थी और विदेशियों तक के आकर्षण का स्थान बनी। हमारे आज के रंगमंच में अनेक वैज्ञानिक सुधार हो गये हैं। इतने दिनों उपेक्षित रहने के बाद हिन्दी-रंगमंच भी अब बड़े नगरों में एक जीवित संस्था बनता जा रहा है, यह हर्ष का विषय है।

रंगशाला—रंगमंच का ही अन्य नाम। विशेष दे० रंगमंच।

रंगशीर्ष—रंगमंच का ही अन्य नाम। विशेष दे० रंगमंच।

रगण—गुरु लघु गुरु (ऽ।ऽ) वाला वर्ण समूह। विशेष दे० गण।

रगहंस—मनहंस नामक छन्द का अन्य नाय। विशेष दे० मनहंस।

रति—**रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।** —साहित्यदर्पण

प्रिय वस्तु में मन के प्रेमपूर्वक उन्मुख होने का भाव। यह शृङ्गार-रस का स्थायी भाव है।

रत्नावली—एक अर्थालंकार, जिसमें प्रस्तुत वर्णन से अन्य वस्तु का भी प्रसिद्ध क्रम निकलता है, जैसे—

हाला सी ललाई तरवानि में सहज जाके।
चारु चिकनाई है समान घृत निधि के॥
छीर से धवल नख, नीर सी विमल छवि।
कोमल प्रपद की गोराई सम दधि के॥
इच्छु रस हूं ते है सरस चरनामृत औ'
लवन समुद्र है लोनाई निरवधि के॥
लागे दिनरात तेरे पग-जल जाल मोहिं।
वैभव दिखात मातु सातऊ उदधि के॥ —रामचन्द्र पंडित

यहां चरण वर्णन में सातों समुद्र आ गये हैं।

रथोद्धता—रा न रा ल ग बने रथोद्धता। रगण, नगण, रगण, लघु और गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द।

रबड़ छन्द—मुक्तक छन्द की पंक्तियों के छोटे-बड़े होने के कारण उसे दिया गया नाम। विशेष दे० मुक्तक छन्द।

रमाविलास—रा र रा राग से ही रमा सोहता है। चार रगणों और एक गुरु से बनने वाला समवृत्त छन्द।

रल्वका—वृत्तिका नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० वृत्तिका।

रशनोपमा—**कथितः रशनोपमा।**
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदिस्यादुपमानता। —साहित्यदर्पण

एक साम्यमूलक अर्थालंकार जिसमें उपमेय उत्तरोत्तर वाक्यों में उपमान बनता जाता है। उदाहरण—

वच-सी माधुरि मूरती, मूरति-सी कल कीति।
कीरति लौं सब जगत में, छाय रही तव नीति॥

यहां प्रथम का उपमेय मूर्ति दूसरे का उपमान और दूसरे का उपमेय कीर्ति तीसरे का उपमान बन जाती है।

रस—विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥
—साहित्यदर्पण

सहृदयों के हृदय में वासना (चित्तवृत्ति या मनोविकार) रूप से विद्यमान रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भाव (दे० यथा०) द्वारा व्यक्त होकर रस बन जाते हैं। रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता (दे० असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य) सभी आस्वादित होने के कारण रस कहे जाते हैं। रस को यह भारतीय व्याख्या बड़ी गहन है और काव्य में वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता होने पर भी रस को ही उसका प्राण माना गया है। काव्य की आत्मा रस ही है। 'रसो वै सः' आदि द्वारा उसे लोकोत्तर चमत्कार और चिन्मय बताया जाता रहा है। उसके आस्वाद के समय दूसरा ज्ञान नहीं रहता। मनोविज्ञानवेत्ता मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि वृत्तियों और कल्पना के सहारे इन्द्रियजन्य, प्रज्ञात्मक और रागात्मक भावों को उत्पन्न होता हुआ देखते हैं। यह भाव आलम्बन से व्यंजित हो उद्दीपन से पुष्ट होता है और मन और शरीर में सात्विक विकार या अनुभावों की सृष्टि करता है। कुछ भाव मुख्य रहते हैं, कुछ आते-जाते रहते हैं और कुछ मुख्य की पुष्टि करते रहते हैं—ये स्थायी और संचारी भाव होते हैं। एक रस के स्थायी भी दूसरे रस में संचारी बन जाते हैं। वैसे संचारी भाव (दे० यथा०) ३३ हैं, और स्थायी भाव (दे० यथा०) प्रत्येक रस का एक-एक।

सिल्वन लेवी रस को भारतीय प्रतिभा द्वारा संसार को दिया हुआ एक नूतन और श्रेष्ठ दान मानते हैं। भारतीय रस-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। राजशेखर ने महादेव के अनुचर नन्दिकेश्वर को रस का आद्याचार्य माना है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के ६-७वें अध्यायों में रस के परम्परागत स्वरूप का ही विवेचन किया है। उनके **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** सूत्र की भिन्न आचार्यों द्वारा विविध व्याख्याएँ की गई हैं (दे० रसव्यापार)। भरत ने शृङ्गार, वीर, रौद्र और वीभत्स ये ४ प्रधान और हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक ये ४ अप्रधान रस माने थे (दे०यथा०)। भामह ने रस की चर्चा नहीं की। दंडी ने माधुर्य गुण में अनुप्रास को वाग्रस और ग्राम्यत्व दोष के अभाव को वस्तुरस माना है। वामन ने कान्ति अर्थ गुण को रसों की दीप्ति (दीप्तरसत्व) माना है। उद्भट ने भरत के ८ रसों की व्याख्या कर उसमें शान्त रस (दे० यथा०) और जोड़ दिया। रुद्रट ने प्रेयस् दसवां रस जोड़ा। मुनीन्द्र के वत्सल नामक दसवें रस को विश्वनाथ ने भी अलग से लिया है। भक्ति रस समेत यह संख्या १२ तक हो गई, पर प्रसिद्धि पहले नवरसों की ही हुई।

अब एक समस्या उठ खड़ी होती है कि आस्वाद रूप या प्रकाश (ज्ञान) रूप

रस स्वयं आस्वाद प्रकाश या ज्ञान का विषय नहीं हो सकता——व्यंजना से उत्पन्न प्रतीति भी ज्ञान विशेष होती है और ज्ञान विशेष सिद्ध हो चुकने के कारण रस भी व्यंजना-स्वरूप या व्यंजक ही सिद्ध हुआ, इसे व्यंग्य कैसे माना जाए? व्यंजना व्यंजक का व्यापार है और व्यंग्य उसका विषय। इस प्रश्न के उत्तर में विश्वनाथ अभिनवगुप्त की इस बात का उल्लेख करते हैं कि स्वादन, रसन, चमत्करण आदि व्यपदेश कृति और ज्ञप्ति से बिलकुल विलक्षण ही है। अभिधा आदि पराभिमत वृत्तियों से रसोद्बोध शक्य न होने से इसे व्यंग्य ही माना जाता है। ध्वनिवादी रस को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में गिनते हैं। उनके मत से विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट हो रस रूप में व्यक्त होने वाले स्थायी भाव की व्यंग्यार्थ प्रतीति में पौर्वापर्य क्रम की प्रतीति नहीं होती। नाटक में विदूषक के हास्याभिनय को देख हम सहसा विद्युद्वेग से हास्याभिभूत हो जाते हैं, विभाव, अनुभाव, सचारी आदि के पहले-पीछे होने का ध्यान नहीं रहता। ध्वन्यालोक-कार का मत है कि आस्वाद-प्राण होने से रस प्रतिभासित ध्वनित, व्यंजित या प्रतीत होता है—भले ही वह वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होता हो। रस के व्यंग्यत्व को लेकर आचार्य शुक्ल भी भ्रम में पड़ गये थे (काव्य में रहस्यवाद; पृष्ठ ६८-६९) पर व्यंजक वाक्य में रस नहीं होता बल्कि वह रसोद्बोधक होता है। सारक्षितः ध्वनिकार के मत से रस-भाव आदि ध्वनियों में प्रधान हैं, वे ध्वनित होते हैं, उक्त नहीं।

करुण, भयानक आदि रसों में सुख क्यों होता है? सहृदयों का अनुभव ही इसमें प्रमाण है और यदि उनमें दुख होता, तो उनमें कोई प्रवृत्त नहीं होता। रामायण आदि भी दुखमय हो जातीं। लौकिक दुखों के विषय काव्य में अलौकिक विभावादि बन सुखकर ही बन जाते हैं। जैसे सुरत में अन्यथा दुखकर पीड़न, दन्तनखक्षत सुखकर ही हो जाते हैं। आँसू भी गिरते हैं, तो मन के द्रुत हो जाने से गिरते हैं, दुख से नहीं। यह रसास्वाद इस जन्म की या पूर्व-जन्म की रत्यादि-वासना के बिना नहीं होता (विशेष दे० कैथार्सिस)।

रस से सम्बन्ध ४ व्यक्तियों का है—(१) आलम्बन, (दे० यथा०)। (२) आश्रय (जिसके सहारे रसानुभूति हो, पर विदूषक पर पहले दुष्यन्त हँसे तभी जनता-सामाजिक-हँसे, ऐसा नहीं होता अतः कुछ रसों में आक्षेप द्वारा आश्रय माना जाता है और आज-कल प्रायः कवि स्वयं आश्रय बनता है)। (३) अनुकर्त्ता (नाटक में अभिनेता) और (४) सामाजिक (दर्शक या पाठक)। रामादि आश्रयों के रति-उद्बोधक कारणों से सामाजिक को रति-उद्बोध आश्रय और सामाजिक के हृदय में विभाव (आलम्बन उद्दीपन) के व्यापार के साधारणीकरण (अभेद-प्रतीति) के कारण होता है। विभाव व्यापार में 'मेरा', 'दूसरे का' न रह कर उनकी अलौकिकता के कारण सर्वसाधारण रूप से प्रतीति होती है। विभावादि हेतु होने पर भी का॰ बन जाते हैं और इस प्रकार षड्-

रसी चटनी-सा स्वाद देते हैं। उनमें से एकाध न भी हो, तो उसका तुरन्त आक्षेप कर लिया जाता है। रस, राम आदि अनुकार्य में निष्ठ नहीं रहता, नहीं तो वह अपरिमित और अलौकिक न हो पाता। विना काव्याभ्यास के केवल अभिनय कुशलता के ही बल पर अभिनेता भी रसास्वाद नहीं कर सकता। रस न ज्ञाप्य है, न कार्य है, न नित्य है, न भविष्यत्कालीन है, न निर्विकल्प ज्ञान है, न सविकल्पकज्ञान द्वारा संवेद्य (ज्ञेय) है, न परोक्ष है और न अपरोक्ष—इन कारणों से वह अलौकिक है, सत्य है, सहृदय—वेद्य (ज्ञेय) है अवाच्य है, व्यंग्य है, प्रकाशस्वरूप है और अखण्ड है।

रस-दोष— इसके सभेद विवरण के लिए दे० दोष।

रसवत्—एक अर्थालंकार, जो रस के गुणीभूत हो किसी दूसरे रस या भाव का अंग बन जाने पर होता है। जैसे विलाप में—(१) यह वही स्तन मर्दन करने वाला हाथ है। यहाँ शृङ्गार करुण का अंग है।

(२) जैति जैति जोगेन्द्र मुनि कुंभज महा अनूप।
देखे जाके चुलुक में कच्छप मत्स्य अनूप॥ —गुलाब

यहाँ उत्तरार्द्ध का अद्भुत रस पूर्वार्द्ध के मुनिविषयक रति भाव का अंग है।

रसवाद—रस को ही काव्य-मीमांसा का सर्वस्व मानने वाली धारा में स्वयं रस की व्याख्या के चार संप्रदाय हैं। विशेष दे० रस संप्रदाय।

रस-विरोध—**आद्यः करुणवीभत्सरौद्रवीरभयानकैः।**
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक्॥
करुणो हास्यशृंगाररसाभ्यामपि तादृशः।
रौद्रस्तु हास्यशृंगारभयानकरसैरपि॥
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः।
शृंगारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः॥
शान्तस्तु वीरशृंगाररौद्रहास्यभयानकैः।
शृंगारेण तु वीभत्स इत्याख्याता विरोधिता॥

—साहित्यदर्पण

नव रसों का पारस्परिक विरोध रस-विरोध कहा जाता है। शृङ्गार का करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक रसों से विरोध होता है, हास्य रस का भयानक और करुण के साथ, करुण का हास्य और शृङ्गार रसों से, रौद्र रस का हास्य, शृङ्गार और भयानक रसों से, वीर रस का भयानक और शान्त रसों से, भयानक रस का शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त रसों से, शान्त रस का वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक रसों से और वीभत्स रस का शृङ्गार रस से।

रसों के विरोध और अविरोध की व्यवस्था तीन प्रकार से की गयी है—

(१) आलम्बन की एकता में, (२) आश्रय की एकता में, और (३) निरन्तरता में। वीर और शृङ्गार में आलम्बन की एकता में विरोध है। ऐसे ही संभोग शृङ्गार का हास्य, रौद्र और वीभत्स से और वियोग-शृङ्गार का वीर, करुण और रौद्र से आलम्बन की एकता में विरोध है। वीर और भयानक में आश्रय की एकता में विरोध है, क्योंकि वही व्यक्ति एक साथ वीर और भीरु नहीं हो सकता। (वीर और भयानक का आलम्बन की एकता में भी बिरोध है)। निरन्तरता और विभावों की एकता में शान्त और शृङ्गार का विरोध है।

किन्तु वीर का अद्भुत और रौद्र से तीन मे से एक भी प्रकार का विरोध नहीं है। इसी प्रकार शृङ्गार का अद्भुत से और भयानक का वीभत्स से भी तीनों प्रकार से अविरोध है। इस कारण वीर और शृङ्गार का भिन्न आलम्बनों में विरोध नहीं होता और न वीर और न भयानक का भिन्न आश्रयों (क्रमशः नायक और प्रतिनायकों) में स्थित होने पर। शान्त और शृङ्गार के बीच अद्भुत को रख उनकी निरन्तरता तोड़ दी जाय, तो उन दोनों में भी विरोध नहीं रहता। ऐसे ही और भी समझना चाहिए।

रसव्यापार—भरत मुनि के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। भरत के इस सूत्र का अर्थ भिन्न आचार्यों ने भिन्न प्रकार से किया है। भट्टलोल्लट आदि कहते हैं कि रस्सी में साँप के समान राम आदि की सीतादि विषयक रति नट में विद्यमान न होती हुई भी विद्यमान प्रतीत होती है। वे कहते हैं कि ललना-आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन से रत्यादि स्थायी भाव उत्पन्न होता है, और जो अनुभावों (कटाक्ष आदि) से प्रतीति-योग्य और संचारियों से पुष्ट होकर नट द्वारा अभिनय में प्रकट होता है। यह भट्टलोल्लट आदि की रस-निष्पत्ति में उत्पत्तिवादी व्याख्या है। दूसरी ओर शंकुक की अनुमितिवादी व्याख्या है कि नट में राम की ठीक ज्ञान, संशय, समानता आदि द्वारा प्रतीति होती है और विभावादि के साथ नियत रति आदि का सामाजिकों को अनुमान होता है, जो बनावटी होने पर भी मिथ्या भासित नहीं होता। तीसरी भुक्तिवादी व्याख्या भट्ट नायक की है। उनके मत से रामादि के अनुपस्थित रहने से रति आदि की उत्पत्ति कभी न होगी और उस अनुपस्थित वस्तु की सिद्धि अनुमान से भी नहीं हो सकती। यदि नट आदि में वह मान ली जाय, तो सामाजिक में न होने से चमत्कार न रहेगा। अभिधा व्यापार के समान भावकत्व और भोजकत्व दो व्यापार और हैं। भावकत्व के कारण रामत्व सीतात्व छोड़ रति साधारण पुरुष और स्त्री की रति के रूप में प्रकट होती है और भोजकत्व व्यापार के कारण वह सहृदयों द्वारा आस्वादित होती है। चौथी अभिव्यक्तिवादी व्याख्या अभिनवगुप्त की है, वे कहते हैं कि रति आदि संस्कार से सहृदयों में रहती है, उपर्युक्त

भावकत्व व्यापार से उनमें सवसाधारणता आ जाती है और तब सहृदय उनको अपना ही या अपने शत्रु का ही समझने लगता है और इस प्रकार विभिन्न स्वाद वाले 'पानकरस' के समान उसका स्वाद लेता है। इस प्रकार संस्कार रूप से उसके चित्त में स्थित रति आदि की अभिव्यक्ति हो जाती है। मम्मट ने भी इसी पिछले मत को मानते हुए इसी पर विशेष प्रकाश डाला है और विश्वनाथ ने उसे व्यक्त या अभिव्यक्त होने वाला ही माना है। (दे० रस संप्रदाय)

रस सम्प्रदाय—काव्यमीमांसाकार ने यद्यपि ब्रह्मा के उपदेश से नन्दिकेश्वर द्वारा सर्वप्रथम रस-निरूपण की बात कही है, किन्तु उसके उपलब्ध न होने से भरत मुनि को ही यह स्थान दिया जाता है। उन्होंने रस और भाव का व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका दिया हुआ रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—"विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है)।

भरत के परवर्ती टीकाकारों ने इस सूत्र की विभिन्न व्याख्याएँ की हैं और इस कारण रस के आस्वादन के प्रकार में भिन्न चार प्रमुख मत खड़े हो गये हैं—

(१) भट्ट लोल्लट अपने उत्पत्तिवाद में रस को विभावादि का कार्य मानते हैं तथा इसे विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव से उत्पन्न होता हुआ स्वीकृत करते हैं।

(२) शंकुक अपने अनुमितिवाद में रस से विभावादियों का अनुमापक अनुमाप्य सम्बन्ध स्वीकृत करके उनके द्वारा रस की अनुमिति मानते हैं।

(३) भट्ट नायक अपने भुक्तिवाद में रस से विभावादिकों का भोजक-भोज्य सम्बन्ध स्वीकृत करते हैं तथा उसे सिद्ध करने के लिए अभिधा से अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार भी मानते हैं।

(४) अभिनवगुप्त अपने अभिव्यक्तिवाद में सुपुप्त स्थायी भावों का विभावादिकों द्वारा अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस रूप प्राप्त करना मानते हैं। उनका मत अपेक्षाकृत अधिक मनोवैज्ञानिक होने के कारण अलंकारिकों में सर्वाधिक आदृत हुआ है।

रस की संख्या को लेकर भी मतभेद चलता रहा है। भरत ने शृङ्गार, हास्य करुण, रौद्र, वीर, भयानक और अद्भुत्—केवल ८ रस माने हैं। शान्त रस को भरत ने नहीं गिना तथा धनंजय ने भी अपने दशरूपक में नाटक में उसकी स्थिति स्वीकृत नहीं की। किन्तु काव्य में तो शान्त की सत्ता रहती ही है अतः पीछे से उसे भी लेकर नवरस परम्परा चल पड़ी। परन्तु 'नवरस' नाम प्रसिद्ध तो हो गया, किन्तु रस संख्या की इतिश्री यहीं नहीं हो गई। रुद्रट ने "प्रेयान्' को भी रस माना। मुनीन्द्र आचार्य का सम्मत वात्सल्य रस विश्वनाथ ने भी अपनाया है। गौड़ीय वैष्णवों ने

'मधुर रस' की उद्‌भावना कर उसे महत्ता दी। पीछे 'भक्ति' को ही एक रस स्वीकृत करने की बात पर भी पर्याप्त से अधिक बल दिया गया। अभी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में लिखी जाने वाली कविता के कारण राष्ट्रीयता को ही एक रस मानने की बात भी चल पड़ी थी।

रसान्तर—नायक द्वारा नायिका का मान भंग करने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला एक उपाय। विशेष दे० मानभंग।

रसाभास—जहाँ रस-वर्णन में अनौचित्य हो, (दे० रसौचित्य) नायक-नायिका भी अपने अनुरूप पात्र को छोड़ नीच के प्रति रति या अनेक की एक के प्रति रति आदि के वर्णन में श्रृंगार रसाभास होगा। बड़ों के प्रति हास्य, वीतराग में करुण, मान्य जनों के क्रोध, नीच पात्र में वीरता, उत्तम में भय, यज्ञ-पशु आदि में घृणा और नीच व्यक्ति में निर्वेद आदि अनुचित होंगे और तत्सम्बन्धी रसाभास के कारण बनेंगे। जैसे—

नदी उमँगि अवुधि कहु धाई। संगम करे तलाब तलाई॥ —तुलसी

यहाँ श्रृंगार रसाभास है।

रसाल—भा न ज म ज ज ल होत शोभन रसाल मनोरम, भगण, नगण, जगण, भगण। दो जगणों और गुरु से बनने वाला अतिधृति जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ९-१० पर यति होती है।

रसोक्ति-प्रकार—रसात्मक उक्ति के ८ प्रकार हैं—(१) रस, (२) भावध्वनि (३) रसाभास, (४) भावाभास, (५) भावोदय, (६) भावशान्ति, (७) भावसन्धि और (८) भावशबलता (दे० यथा० और भी दे० अलक्ष्यक्रम व्यंग्य)

रसौचित्य—वैसे तो रस को काव्य की आत्मा माना गया है, परन्तु यदि वह औचित्य से रुचिर न बनाया गया हो, तो वही रस सहृदयों के हृदय में रस की प्रतीति न करके रुचिर का ही कारण बनता है। बसन्त जैसी रुचिर ऋतुओं का वर्णन सम्भोग श्रृंगार के उद्दीपन का तो कार्य करता ही है, रसौचित्य का भी साधक होता है। प्रकृति के वर्णन में भी उन पदार्थों को ही चुनना चाहिए तथा वे ही उत्प्रेक्षाएँ आदि प्रयुक्त करनी चाहिए, जो रसपोषक हों। निश्चय ही रससिद्धि सच्चे कवि की कसौटी है।

मुख्य रस का विवेचन कैसे हो, अवान्तर रस का किस प्रकार मुख्य रस को पुष्ट करते हैं, रसों का पारस्परिक विरोध तथा उनका परिहार कैसे होता है—इन बातों का आचार्यों ने विस्तृत विवेचन किया है। रसौचित्य-चिन्ता में इनका ही विशेष ध्यान रखना चाहिए। आनन्दवर्धन ने औचित्य को ही रस की उपनिषद् माना है, तथा अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई दूसरा कारण नहीं माना। वस्तुतः उनके औचित्य-सिद्धान्त का शिलान्यास ही रसौचित्य की नींव पर होता है। क्षेमेन्द्रने भी

रसौचित्य को परम उपादेय माना है, उसके बिना रस की तथा उसके बिना काव्य की सिद्धि ही नहीं हो सकती।

रहस्यवाद—असीम (परमात्मा) के प्रति ससीम (जीव) की रागात्मक भावना का निरूपण करने वाली काव्य शैली। सूफियों की शैली पर कबीर ने भी मूर्त्त रूपक खड़े किये, यद्यपि वह भारतीय 'द्वा सुपर्णाः सयुजः सखायः' वाली अद्वैतवादी पद्धति पर 'हरि मोर पीउ हौं हरि की बहुरिया' ही मानते थे। दीनदयालु गिरि और सूर की "चल चकई' वाली अन्योक्ति परोक्ष और अज्ञात के प्रति जिज्ञासा है, लालसा या अभिलाषा नहीं और आचार्य शुक्ल गोचर के प्रति ही अभिलाषा उचित ठहराते हैं (चिन्तामणि पृष्ठ ८३)। शैली के 'फूलों का चुन-चुन स्तवक बनाया, पर किसे अर्पित करूँ' के 'किसे' में वह परोक्ष के प्रति आदर्श आभास देखते हैं, वेदना की तरी में असीम की ओर यात्रा और अलौकिक ज्योति के फूटने में नहीं। ब्लेक ने पारमार्थिक सत्ता के प्रति इन्द्रियासक्ति और प्रेम दिखाने वाली जो रहस्यमयी कविताएँ लिखीं, उनका समाज में उचित आदर न हुआ। वड्सवर्थ की 'बाल्यावस्था की याद के अमरत्व' वाली कविता में जो स्वाभाविक रहस्यभावना है, वह 'अज्ञान के राग वाली' रहस्यवाद की वाद-प्रधान (मजहबी) कविता में दुर्लभ है।

महादेवी वर्मा के शब्दों में रहस्यवादियों ने परम तत्त्व और आत्मा के बीच में माधुर्यभावमूलक सम्बन्ध की स्थापना के लिए उन दोनों में पुरुष और नारी भाव का आरोप किया है। आत्मा अपने सीमित रूप में जड़ से बँधा है, अतः प्रकृति की उपाधियाँ उसे मिल जाने के कारण वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर उपस्थित होने लगा। आत्मसमर्पण के इस भाव के भी कई कारण हैं। सो सीमित है वही असीम में अपनी मुक्ति चाहता है, पर इस मुक्ति को पाने के लिए उसे अपनी सीमा का समर्पण करना ही होगा। समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली। सामाजिक अवस्था के कारण नारी अपना कुल-गोत्र आदि परिचय छोड़कर पति का स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने अपको पूर्वतः समर्पित कर उस पर अधिकार पाती है। अतः नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम में लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है। आत्मा और परमात्मा के इस माधुर्यमूलक सम्बन्ध ने सगुणोपासना पर भी विशेष प्रभाव डाला है।

शुक्ल जी रहस्यवाद को काव्यवस्तु से सम्बन्धित छायावाद (दे० यथा०) बताते हुए उसकी परिभाषा करते हैं, 'जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार की व्यंजना करता है।' उसकी सामग्री वासनात्मक प्रणयोद्गार, वेदनाविवृति, सौन्दर्यसंघटन, मधुचर्या, अतृप्ति व्यंजना तथा जीवन के अवसाद, विषाद और नैराश्य की झलक में मिलती है। भाषा की कठिनता

या गम्भीरता रहस्यवाद नहीं। नए साहित्यिक रहस्यवाद का मूल उपनिषदों या सूफियों के 'ज्ञानातीत सत्य' के आध्यात्मिक निरूपण पर विश्वास वाले दर्शन में है। रहस्यवादी कवियों की निम्न कोटियाँ हैं—(१) प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवादी (शेली, जायसी, कबीर), (२) दार्शनिक रहस्यवादी (ब्लेक, ब्राउनिंग, प्रसाद), (३) धार्मिक और उपासक रहस्यवादी (सन्तकवि, मीरा), (४) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवादी (वड्र्स्वर्थ, पन्त)।

ईश्वर के ज्ञान के लिए बुद्धि प्रयोग रहस्यवादियों को अभीष्ट नहीं। वह कोई निश्चित कथनों वाला वाद नहीं। प्रतीक प्रयोग उसके लिए वांछित है, क्योंकि 'गूँगे के गुण' की अन्यथा अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और इसीलिए नाटक में उसका प्रयोग नहीं हो सकता। मुसलमानों और ईसाइयों को भी रहस्यवादी बनकर जन्मान्तरवाद स्वीकार कर लेना पड़ता है। वाद के फेर में कविता अपना सौन्दर्य खो बैठती है और पन्त जैसे रहस्यवादी कवि भी केवल विस्मयवादी रह जाते हैं, तथा निराला जैसे महाकवि भी उसमें असफल रह जाते हैं। (दे० छायावाद, प्रतीकवाद, प्रकृतिवाद, और हालावाद)

रागात्मक तत्व—कविता का हृदय या भावात्मक तत्त्व। विशेष दे० कविता।

रागी—६ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

राधा—रा त मा या गा बनावौ वृत्त राधा का। रगण, तगण, मगण, यगण और गुरु से बनने वाला अतिजगती जाति का समवृत्त छन्द।

राधिका—तेरह नौ पर विरामा, राधिका कहिए। १३-९ पर यति वाली २२ मात्राओं (महारौद्र जाति) का सम-मात्रा-छन्द।

राम—३ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा-जाति।

राम—निधि वसु कला कर राम य अंता। ९-८ पर यति, अंत में यगण और सत्रह मात्राओं से बनने वाला महासंस्कारी जाति का सम-मात्रा-छन्द।

रासकः—रासकं पंचपात्रं स्यात् मुखनिर्वहणान्वितम्।
भाषातिभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीद्रुतम्।
असूत्रधारमेकांकं सवीथ्यंगं कलान्वितम्।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम्।
उदात्तभावविन्यासंश्रितं चोत्तरोत्तरम्।
इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचक्षते। —साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद इसमें ५ पात्र, मुख, निर्वहण सन्धियाँ

भाषा (संस्कृत) और विभाषा (प्राकृत), भारती-कैशिकी वृत्तियाँ, वीथ्यंग, कलाएँ, और श्लिष्ट नांदी होती हैं और नायक मूर्ख। यह उत्तरोत्तर उदात्त भावों वाला एकांकी है। कुछ आचार्य इसमें प्रतिमुख सन्धि भी मानते हैं। दर्पणकार मेनकाहित इसका उदाहरण बताते हैं।

रासो—किसी वीर की प्रशंसा में लिखा गया वीर-आख्यान। ये चारणों द्वारा जाने के कारण चारण-काव्य भी कहे जाते हैं। चन्दबरदाई का पृथ्वीराज रासो प्रमुख रासो-ग्रन्थ है।

रिपोर्ताज—सामाजिक, आर्थिक और विशेषतः राजनीतिक परिस्थिति के बारे में सूचना देने वाला लेख या ग्रन्थ। इसमें किसी विशेष स्थान और समय पर किसी विशेष अवस्था की सूचना रहती है। यह पत्रकारों द्वारा विशेष रूप से अपनाया गया है। यद्यपि इसमें लेखक का व्यक्तित्व तो रहता है, पर इसे अपेक्षतया अधिक ध्येयात्मक होना चाहिए। हिन्दुस्तान टाइम्स में इनसाइड पाकिस्तान की शृंखला इसकी लोकप्रियता का उदाहरण है।

रीति—व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि भिन्न है। जिस प्रकार लोगों की वेश-भूषा में अन्तर होता है, उसी प्रकार उनकी बोलने की रीति में शब्दों के चुनने तथा अर्थ के प्रतिपादन में भी अन्तर होता है। इस अन्तर पर भौगोलिक सीमा का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है, ऐसा प्राचीन आचार्यों का मत रहा है। बाण भट्ट ने कहा है कि उत्तरी भारत के लोग श्लिष्ट भाषा, पश्चिम के लोग केवल अर्थ स्पष्ट करने में उपयुक्त पदावली, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षामयी भाषा तथा गौड़ (पौर्वात्य) अक्षरों के आडम्बर वाली भाषा का प्रयोग करते है। वस्तुतः रीति के सिद्धान्त का जन्म इस भौगोलिक विभाजन के आधार पर हुआ था, क्योंकि सारे देश में एक संस्कृत ही साहित्यिक भाषा के रूप में गृहीत थी। विषय के अनुसार अथवा व्यक्तिगत अभिरुचि के अनुसार विशिष्ट पदावली के चुनाव की भावना का प्रवेश पीछे चलकर हुआ।

दण्डी ने रीति का लक्षण 'विशिष्टा पदरचना रीतिः', दिया है। वामन ने 'विशेषो गुणात्मा' कहकर 'गुण-मंडित पद-रचना को रीति बताया। आनन्द वर्धन ने पद-संघटना (पदों की सम्यक् शोभन-रचना) को रीति कहा। उनके संघटना शब्द की सर्वग्राहिता ने साहित्यदर्पणकार को भी मुग्ध किया, उन्होंने रीति का स्वरूप बताया है—

> **पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्**
> **उपकर्त्री रसादीनाम्।** —साहित्यदर्पण

"शरीर के अंगों के परस्पर अनुकूल संघटन के समान रसादि का उपकार करने वाली पदसंघटना रीति है।" विश्वनाथ का यह लक्षण बहुत कुछ आनन्दवर्धन

का-सा ही है, क्योंकि आनन्द ने भी रीति को 'माधुर्यादि गुणों के आश्रय से खड़ी होकर रसों को व्यक्त करने वाली' बतलाया था।

साहित्यशास्त्र में रीति शब्द का प्रयोग सबसे पहले आठवीं शताब्दी में वामन द्वारा अपने 'काव्यालंकारसूत्र में किया गया है। भामह ने तत्कालीन को काव्य-पद्धितियों—वैदर्भी तथा गौड़ी—की चर्चा की है, किन्तु न तो उन्होंने मार्ग शब्द का प्रयोग किया न उसका लक्षण ही दिया। दण्डी ने अवश्य मार्ग शब्द का निर्द्वन्द्व प्रयोग किया है, यद्यपि संभवत: उसके लोक-प्रचलित होने के कारण उसका लक्षण देने की आवश्यकता उनको भी प्रतीत नहीं हुई। इसके बाद वामन ने गुणमयी रीति को काव्य की आत्मा बताते हुए रीति शब्द का प्रयोग किया, जो इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि लोगों ने न तो नये नाम ढूँढे और न पुराने 'मार्ग' नाम की ही कभी चिन्ता की।

भरत मुनि ने प्रवृत्तियों की चर्चा करते हुए भौगोलिक आधार को ही अपनाया था। भामह के समय तक दो काव्य-मार्ग प्रचलित हो चुके थे। उन्होंने अलंकारवत्ता, अग्राम्यत्व, न्याय्यत्व और अनाकुलत्व गुणों तथा वक्रोक्ति से मुक्त गौड़ मार्ग को भी उपादेय माना है, तथा इन से रहित वैदर्भ को नहीं, यद्यपि वैदर्भ मार्ग की मान्यता प्रचलित प्रतीत होती है। भामह के बाद दण्डी ने अनेकों काव्य-मार्गों की सत्ता मानते हुए उन में परस्पर वैसा ही सूक्ष्म भेद बताया जैसा ईख, दूध तथा गुड़ आदि की मिठास में होता है तथा जिसका निरूपण सरस्वती भी नहीं कर सकती। दण्डी ने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति उदारता, ओज, कांति और समाधि—इन दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण मानते हुए उसकी सराहना भी है। विशेषत: 'समाधि गुण' को काव्य-सर्वस्व बताते हुए उन्होंने भरत द्वारा निरूपित इन दस सामान्य काव्य गुणों को एक शैली का ही गुण माना है। रीति सम्प्रदाय में सर्वाधिक देन वामन की है। उन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा माना है। इसके साथ ही भामह द्वारा निर्दिष्ट दो मार्गों के अतिरिक्त इन्होंने एक तीसरी रीति पांचाली की कल्पना करके इस सिद्धान्त को एक पग और आगे बढ़ाया है। उन्होंने वैदर्भी को समग्र गुण तथा ग्राह्य बताया है। उनके मत से वैदर्भी के अभ्यास के लिए अन्य रीतियों का अभ्यास आवश्यक नहीं हैं। रुद्रट ने वामन की तीन रीतियों में चौथी लाटी को और जोड़ा तथा रसौचित्य के आधार पर रीतियों के चुनाव की चर्चा करते हुए समासों की अधिकता, मध्यमता तथा न्यूनता के आधार पर उनका विभाजन प्रस्तुत किया। उनकी रस के आधार पर रीति की व्याख्या ने परवर्ती आचार्यों के लिए एक नये अध्याय का श्रीगणेश किया तथा ध्वनि-मार्ग के आचार्यों—आनन्दवर्धन तथा मम्मट—ने तो उसे खूब अपनाया। रीतियों का रस से सम्बन्ध शब्दों के व्यवहार और चुनाव पर निर्भर है। इसके विपरीत

वृत्तियाँ रसानुकूल व्यवहार से सम्बन्धित हैं। राजशेखर ने प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया है कि वेष-विन्यास का क्रम वृत्ति है तथा वचन-विन्यास का क्रम रीति। राजशेखर वैदर्भी पांचाली तथा गौड़ी तीन रीतियों के पक्षपाती थे यद्यपि उन्होंने मागधी और मैथिली का भी उल्लेख किया है। वैसे तो पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटी ये चार रीतियाँ ही समग्र परवर्ती आलोचकों को मान्य रही है, पर भोजराज ने भी मागधी तथा आवंतिका इन दो रीतियों का नाम और लिया है। शारदातनय ने तो सौराष्ट्री तथा द्राविड़ी रीतियाँ ही नहीं बढ़ाईं, प्रस्तुत उन की १०५ संख्या तक मानी हैं और वह यहाँ तक कहते हैं कि जितने मनुष्य हैं, उतनी ही रीतियाँ हैं। उनका यह कथन 'प्रत्येक व्यक्ति की अपनी शैली है' वाले आधुनिकतम सिद्धान्त के कितना निकट है।

रीति-सिद्धान्त के विशाल ऐतिहासिक विकास के इस संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देश विशेष की एक रीति से लेकर व्यक्ति विशेष की रीति तक का यह वैज्ञानिक विकास क्रमशः हुआ है। पहले युग में इनका भौगोलिक महत्त्व था, उस समय इन प्रदेशों के कविगण वस्तुतः ऐसी ही शलियों में काव्य-रचना करते होंगे—गौड़ (बंगाल) देशवासी समास-बहुला शैली ही अपनाते होंगे तथा विदर्भवासी सुकुमार गुणमयी शैली दूसरे युग में, जिसका संकेत रुद्रट से मिलता है, विषयानुकूल तथा रसानुकूल रीति या शैली के प्रयोग पर बल दिया गया। ंगाल-वासी जयदेव ने भी शृङ्गार-वर्णन में वैदर्भी को अपनाया तथा विदर्भवासी भवभूति ने युद्धवर्णन के लिए गौड़ी को।

कहना न होगा कि यह रीति का विषयधर्मी सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक था तथा परवर्ती आचार्यों ने प्रथम युग की भौगोलिक व्याख्या को भूल कर इस व्याख्या को अपनाया है। वस्तुतः वृद्ध व्यवहार-परम्परा पर आश्रित देश-धर्म वैज्ञानिक विभाजन का साधन नहीं है, किसी देश में एक जैसी काव्य-रचना के साधन उपलब्ध होते, तो प्रत्येक निवासी ही वैसी काव्य-रचना में प्रवीण होता। ऐसा कुन्तक का मत है।

वस्तुत: कुन्तक का वक्रोक्ति जीवित रीति-परम्परा में एक नये युग का श्रीगणेश करता है। उनके मत से रीति विशेष का सम्पर्क साक्षात् कवि से हैं। रीति त्रय में—वैदर्भी पांचाली तथा गौड़ी में—उत्तमाधममध्यम गुणत्रय की कल्पना का भी कुन्तक ने विरोध किया है। रीति का सम्बन्ध कवि-स्वभाव से बताते हुए उन्होंने स्वभाव के सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन भेद निरूपित किये हैं, तथा इन तीन मार्गों को ही उन्होंने स्वीकार किया है। मार्गों की शोभा के वर्द्धक, माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य ये चार गुण उन्होंने निरूपित किये हैं। उनका सिद्धान्त रीति में व्यक्ति के स्वभाव का

सबसे अधिक समर्थन करता है।

रीति के चुनाव के लिए आनन्दवर्धन ने ४ नियामक तत्त्व उपस्थित किये हैं। वक्तृ औचित्य, वाच्यौचित्य, विषयौचित्य तथा रसौचित्य। ध्वनिसम्प्रदाय के दूसरे आचार्य मम्मट ने प्रत्येक रीति में प्रसाद-गुण अपरिहार्य रूप से आवश्यक माना है, उसकी स्थिति सब रसों और रचनाओं में होनी चाहिए।

इस प्रकार क्रमशः विकसित होता हुआ रीति का सिद्धान्त आज के शैली के सिद्धान्त के निकट तक पहुँच जाता है।

रीति-सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं, जिन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा माना है। (रीतिरात्मा काव्यस्य) पद संघटना-कौशल (रीति) गुणों पर आश्रित रहने के कारण इसे गुण सम्प्रदाय भी कहते हैं। भरत द्वारा दिये गये दश गुणों का नाम निर्देश करते हुए उन्होंने उनको वैदर्भ मार्ग (विदर्भी-रीति) का प्राण बताया है। वामन को गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट करने का श्रेय भी है। काव्य की शोभा को पैदा करने वाले धर्म गुण हैं तथा उनकी अतिशयता के हेतु अलंकार (काव्य शोभाया: कर्तारो धर्मागुणा: । तदतिशय हेतवोऽलंकारा:)।

जिस प्रकार भामह ने रस का अन्तर्भाव चार अलंकारों में किया था, उसी प्रकार वामन ने उसे कान्ति गुण में समेटा है तथा काव्य में रस की महत्ता पर विशेष बल दिया है। वामन क दृष्टि भामह की अपेक्षा अधिक पैनी है तथा उनका विवेचन इसी कारण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा हृदयंगम बन सका है।

रुक्मवती—चपकमाला नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष देखिये चंपक-माला।

रुढ़ा—लक्षणा नामक शब्द-शक्ति का अन्य नाम। विशेष दे० लक्षणा।

रूढ़िवैचित्र्यवक्रता—कुन्तक ने इस पदपूर्वार्धवाली वक्रता में पर्याय तथा रूढ़िवाची शब्दों, विशेषण, उपचार, संवृत्ति, समास-तद्धित, भाव, लिंग तथा क्रिया के विशिष्ट प्रयोगों की विवेचना की है। इन समग्र वक्रताओं में रूढ़िवैचित्र्य वक्रता एक प्रधान भेद है। किसी बात का रूढ़िरहित (अलौकिक) ढंग से तिरस्कार अथवा उत्कर्ष प्रदर्शन करने में इसका प्रयोग होता है। कुन्तक ने अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य दोनों ध्वनियों का अन्तर्भाव भी इसी वक्रता में कर दिखाया है। गुण तभी तक गुण है, जब तक सहृदयों से गृहीत होते रहें, कमल सूर्य की किरणों से अनु-गृहीत होने पर ही कमल होते हैं। यहाँ कमल शब्द लोकोत्तर श्लाघा बताता है, अतः यहाँ रूढ़िवैचित्र्यवक्रता है। 'मैं तो राम हूँ सब सह लूँगा, पर वैदेही कैसे सहेगी' इस वाक्य को आनन्दवर्धन ने अर्थान्तर संक्रमित वाच्य के उदाहरण में दिया था। कुन्तक इसमें रूढ़िवैचित्र्यवक्रता पाते हैं।

रूप—गर्भ नामक नाटक-सन्धि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

रूपक—रूपकं रोपितारोपो विषये निरपह्नवे। —साहित्यदर्पण

एक साम्यमूलक अर्थालंकार जिसमें निषेधरहित विषय (उपमेय) में रूपित (अपन्हुत कल्पित उपमान) का आरोप (दे० यथा०) किया जाता है। उपमेय और उपमान दोनों का शब्द से कथन, उपमेय का भी ज्ञान और साथ ही दोनों के अभेद का निश्चय यह इस आरोप-क्रिया का फल होता है। अपन्हुति में निषेधपूर्वक आरोप होने से उपमेय का ज्ञान अस्थिर रहता है, यहाँ निषेधरहित विषय (उपमेय) में आरोप होता है। रूपकातिशयोक्ति (दे० यथा०) में उपमेय का शब्द से कथन नहीं होता। म (दे० यथा०) में उपमेय का ज्ञान होता ही नहीं। उत्प्रेक्षा (दे० यथा०) में अभेद का निश्चय नहीं होता। यह इन सबसे भिन्न है। उपमेय और उपमान के अभेद के कारण यहाँ न साधारण धर्म रहता है न वाचक शब्द।

इसके तीन भेद हैं—निरंग, सांग और परंपरित। निरंग और सांग को निरवयव और सावयव भी कहते हैं। निरंग के केवल और माला दो भेद साग के समस्त वस्तु-विषय और एकदेशविवर्वर्ति दो भेद और परम्परित के श्लिष्ट, अश्लिष्ट, केवल और माला चार भेद—कुल मिलाकर आठ भेद हो जाते हैं।

निरंग—उपमेय में उपमान का सांगोपांग आरोप न कर केवल अंगी का ही आरोप, जैसे—

प्रेम-सलिल से द्वेष का, सारा मल धो जायगा। (सनेही)

यहां प्रेम में जल का आरोप है।

(२) सांग—उपमेय का सांगोपांग आरोप अर्थात् परस्पर सापेक्ष अनेक आरोप। समस्त-वस्तुविषय सांग में सभी आरोप्यमाण विषय वर्णन में आ जाते हैं, जैसे—

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।

यहाँ अम्बर में पनघट, तारा में घट और ऊषा में पनिहारिन के आरोप हैं। प्रातःकाल और पनघट के परस्पर सापेक्ष ये वर्णन उनके सभी आवश्यक अंगों को समेट लेते हैं।

एकदेशविवर्ति सांग रूपक में कुछ अंगो का शाब्दिक निरूपण होता है और शेष का आक्षेप से (आर्थ) ज्ञान होता है, जैसे—

तिमिर है निशि का मलिन दुकूल।

यहाँ तिमिर में दुकूल का आरोप शब्द और निशा में सुन्दरी का आरोप आर्थ है।

(३) परम्परित—किसी के आरोप दूसरे के आरोप का कारण हो—आरोप परम्परा का कारण हो। श्लिष्ट परम्परित में यह परम्परा श्लेष की सहायता से खड़ी की जाती है, जैसे—

अंगद तुही बालि कर बालक।
उपजेउ बंश अनल कुल घालक।

यहाँ अंगद में आग के आरोप का कारण वंश (कुल) में वंश (बाँस) का आरोप है। वंश शब्द श्लिष्ट है। अश्लिष्ट परम्परित में बिना श्लेष की सहायता ही काम चलाया जाता है, जैसे—

दुःख है जीवन-तरु के फूल।

यहाँ दुख में फूल के आरोप का कारण जीवन में पेड़ का आरोप है। यहाँ श्लेष की सहायता नहीं ली गई।

अर्थ के विचार से रूपक के भेद किये जाते हैं—अभेद और तद्रूप। उपर्युक्त उदाहरण अभेद रूपक के हैं, जहाँ मुख चन्द्रमा है, यह उपमेय उपमान का अभेद निरूपित किया जाता है। इसके अधिक, न्यून और सम तीन उपभेद होते हैं। मुख सदा शोभामय चन्द्रमा है, मुख पृथ्वी का चन्द्रमा है और मुख चन्द्रमा है, ये इनके क्रमशः उदाहरण हैं। तद्रूप में 'मुख दूसरा चन्द्रमा है' आदि द्वारा अन्य, दूसरा आदि शब्द जोड़ देने से अभेद तो नहीं रहता पर तद्रूपता अवश्य रहती है। इसके भी अधिक, न्यून और सम तीन भेद हैं और मुख सदा शोभामय दूसरा चन्द्रमा है, मुख पृथ्वी का दूसरा चन्द्रमा है और मुख दूसरा चन्द्रमा है—इनके क्रमशः उदाहरण हैं।

व्यस्त रूपक रूपक का एक और भेद है, इसमें उपमेय और उपमान के बीच का, की, के विभक्तियाँ आ जाती हैं, जैसे—

खेलने लगा सुन्दर शशि-शिशु,
मणि जटित गगन के आँगन में। —गोपालशरण सिंह

यहाँ शशि-शिशु में समस्त (समासयुक्त) रूपक है और गगन के आँगन में व्यस्त रूपक है।

रूपक (२)—देखे जाने और सुने जाने के आधार पर होने वाले काव्य के दो भेदों—दृश्य और श्रव्य में पहले के अभिनेय होने के कारण उसके रूप का (नटादि द्वारा राम आदि के स्वरूप का) आरोप होता है, इसी से दृश्यकाव्य का सामान्य नाम रूपक है। ये दस होते हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन (दे० यथा०)। इनके सिवा अठारह उपरूपक (दे० यथा०) भी होते हैं।

रूपक-कथा—कोई उपदेश देने के लिए तदनुरूप दृष्टान्त उपस्थित करने-वाली कहानी।

रूपक गीति—रूपकों के रूप में आध्यान्तरिक गीति-काव्य की गम्भीर और आध्यात्मिक अनुभवों की व्यंजना वाली शैली। रवीन्द्र ठाकुर ने अनेकों रूपक-गीतियां लिखी थीं। हिन्दी में शायद कल्पना और प्रतिभा की उतनी प्रखर उड़ान न होने के कारण ये कम लिखी गईं। सियारामशरण गुप्त का 'गूढ़ाशय' एक सुन्दर रूपक-गीति है। माखनलाल चतुर्वेदी के 'मेरा उपास्य' पर रवीन्द्र की एक रूपक-गीति की स्पष्ट छाया है। रामकृष्णदास की 'साधना' और वियोगी हरि की 'तरंगिनी' और 'अन्त-र्नाद' उत्कृष्ट रूपक-गीतियाँ बनी होतीं, यदि उन में संगीत का भी सोने में सुगन्ध जैसा योग हो गया होता।

रूपकान्त—ज रा ज रा ज गा ल को सदा कहें सु रूपकान्त। जगण, रगण, जगण, रगण, जगण, गुरु और लघु से बनने वाला समवृत्त छन्द। इसे भालचन्द्र भी कहते हैं।

रूपकातिशयोक्ति—अतिशयोक्ति नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० अतिशयोक्ति।

रूपकौचित्य—वैसे तो रूपक के भी एक अलंकार होने के कारण रूपकौचित्य का अन्तर्भाव भी अलंकारौचित्य में होना चाहिए, किन्तु अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में रूपकौचित्य पर विशेष बल दिया है। उनका कथन है कि रूपक दूरगामी न हो, उसकी योजना में क्लिष्ट कल्पना न हो, उपमेय-उपमान में समान धर्म समान जाति तथा समान कोटि का ध्यान रखा जाय।

रूपघनाक्षरी—आठ-आठ अक्षरों की, यति से बत्तीस वर्ण, अन्त में गुरु लघु हों रूपघनाक्षरी छन्द, बत्तीस अक्षरों के चार तुकान्त पादों से बनने वाला मुक्तक वर्ण दण्डक छन्द। इसमें ८, ८, ८, ८ पर यति होती है और अन्त में गुरु-लघु होता है।

रूपमाला—रत्न दिसि कल रूपमाला अन्त सोहै गा ल। १४-१० पर यति और अन्त गुरु-लघु से बनने वाला २४ मात्राओं (अवतारी जाति) का सममात्रा छन्द। इसे मदन भी कहते हैं। आरम्भ में रगण आवश्यक-सा है।

रूपविधान—दे० मूर्त्तविधान।

रूपा—विद्युन्माला नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० विद्युन्माला।

रेडियो-नाटक—रेडियो से प्रसारित किये जाने वाला नाटक। इसमे नाटक दृश्यकाव्य से श्रव्यकाव्य बन जाता है और बहुत-कुछ ध्वनि-प्रभाव (साउण्ड एफैक्ट) पर निर्भर रहता है।

रेवा—रेवा में म स ता सोहैं, न ग ग विराजैं। मगण, सगण, तगण, नगण और दो गुरु से बनने वाला शक्करी जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ८, ६ पर यति

होती है। इसे कोई-कोई लक्ष्मी भी कहते हैं।

रोमांच—**हर्षाश्चर्यभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया।** —साहित्यदर्पण

हर्ष, आश्चर्य और भय आदि के कारण रोंगटों का खड़ा हो जाना। यह एक सात्विक भाव है।

रोला—रोला की चौबीस कला यति ग्यारह तेरा। २४ मात्राओं और ११-१३ पर यति से बनने वाला अवतारी जाति का सम-मात्रा छन्द। अन्त में दो गुरु होने चाहिएँ, पर यह अनिवार्य नहीं।

रौद्र—११ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

रौद्र—**रौद्रः क्रोधस्याथिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।**
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्।
मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव।
संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत्प्रौढ़ा।
भ्रूविभङ्गौष्ठनिर्दंशबाहुस्फोटनतर्जनाः।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च।
उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः।
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः।
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः। —साहित्यदर्पण

क्रोध स्थायी भाव, लाल वर्ण और रुद्र देवता वाला रस। आलम्बन-शत्रु, दोषी आदि। उद्दीपन – उसका दोष, चेष्टा आदि। अनुभाव–मुक्का मारना, गिराना, काटना-फाड़ना, लड़ाई लड़ने के लिए उत्तेजित होना (इनके वर्णन से इसकी खूब उद्दीप्त होती है।), भौं चढ़ाना, आँखें लाल होना, होंठ चबाना, ताल ठोंकना, डाँटना, अपने पिछले कामों की बड़ाई करना, शस्त्र घुमाना, दाँत पीसना, त्यौरी चढ़ना, कठोर भाषण, उग्रता, आवेग, रोमांच, स्वेद, कम्प, मद आदि। संचारी भाव-अमर्ष, गर्व, आवेग, उ ता, चपलता मोह आदि। लाल नेत्र होना इसे युद्धवीर से पृथक् कर देता है। उदाहरण—

अधर चब्ब गहि गब्ब अति, बनि रावण को काल।
दृग कराल मुख लाल करि, दौरेउ दशरथलाल। —पद्माकर

यहाँ रावण आलम्बन, क्रोध स्थायी, आँखें लाल होना आदि अनुभाव, और गर्व आवेग आदि संचारी भाव है।

रौद्रार्क—२३ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

ल

लक्षणलक्षणा—लक्षणा नामक शब्दशक्ति का एक भेद। विशेष दे० लक्षणा।

लक्षणा—मुख्यार्थ के बाधित होने पर रूढ़ि (प्रसिद्धि) या प्रयोजन के सहारे दूसरे अर्थ की कल्पित प्रतीति कराने वाली शक्ति। रूढ़ा और प्रयोजनवती—ये लक्षणा के दो प्रधान भेद हैं। इनमें रूढ़ा के गौणी (सादृश्य सम्बन्ध वाली) और शुद्धा (सादृश्य भिन्न सम्बन्ध वाली) दो ही भेद होते हैं। प्रयोजनवती में भी गौणी और शुद्धा ये दो भेद होते हैं, इनमें गौणी के भी सारोपा और साध्यवसाना और शुद्धा के सारोपा, साध्यावसाना, अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था ये भेद और हो जाते हैं। क्रमशः उदाहरण लें, 'देवदत्त चौकन्ना (लक्ष्यार्थ—सावधान) है,' में रूप सादृश्य सम्बन्ध होने से रूढ़ा गौणी है। 'पंजाब (लक्ष्यार्थ—निवासी लोग) वीर है,' में रूढ़ा शुद्धा है। शैलेन्द्र गधा (मूर्ख) है,' में सारोपा गौणी प्रयोजनवती है। 'गधे, तेरी समझ में नहीं आया', में साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती है। 'घी तो मेरा जीवन है', में सारोपा शुद्धा प्रयोजनवती है। 'मेरा जीवन (लक्ष्यार्थ—घी) ढुल गया', में साध्यवसाना शुद्धा प्रयोजनवती है। 'आम तो आम ही है', में अजहत्स्वार्था शुद्धा प्रयोजनवती है। और गंगा (लक्ष्यार्थ—तट) पर आश्रम है', में जहत्स्वार्था शुद्धा प्रयोजनवती है।

रूढ़ि और प्रयोजन को लेकर चलने वाली लक्षणा को—इन दोनों को उपादान लक्षणा के नाम से भी पुकारा जाता है। लक्ष्यार्थ बताने के लिए अपने मुख्यार्थ का समर्पण करने वाली (जहत्स्वार्था-गंगा पर आश्रम है) लक्षणा को लक्षण-लक्षणा भी कहते हैं। विपरीत लक्षणा (प्रसंगवश उलटा लक्ष्यार्थ बताने वाली जैसे अंगद रावण को सलज्ज बताता है) भी इसी कोटि में आती है। दर्पणकार के मत से ये चारों सारोपा और साध्यवसाना होने से आठ और प्रत्येक के गौणी और शुद्धा हो जाने से सोलह हो जाती हैं। इनमें प्रयोजनवती के आठ भेद व्यंग्य के गूढ़ या अगूढ़ होने से सोलह हो जाते हैं और वे भी प्रत्येक के फल के धर्म या धर्मी में रहने से ३२ भेद वाली हो जाती है। इस प्रकार ४० भेद हो जाते हैं, जो प्रत्येक पद और वाक्य दो भेदों से ८० हो जाते हैं।

यह याद रखना होगा कि अभिधा से अर्थ न निकलने पर ही इस शक्ति द्वारा अर्थ निकाला जाता है। 'पंजाब वीर हैं', या 'गंगा पर आश्रम है', में अभिधा से अर्थ नहीं निकला। क्योंकि न तो निर्जीव देश वीर हो सकता है और न धारा के ऊपर आश्रम ही बस सकता है। ऐसी स्थिति में लक्षणा ने क्रमशः पंजाब देशवासी और गंगा के तट पर ये लक्ष्यार्थ बतलाए, जो कल्पना के ही आधार पर आरोपित किये गए। इसी प्रकार उपर्युक्त दूसरे उदाहरणों में भी समझना चाहिये।

लक्षणामूल ध्वनि—अन्वय की अयोग्यता होने पर, लक्षणा शक्ति के सहारे वाच्य अर्थ का दूसरे अर्थ में ध्वनित होना। इसके दो भेद हैं, अर्थांतर संक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य (दे० यथा०) और भी दे० शब्द-शक्ति, लक्षणा।

लक्ष्यार्थ—दे० लक्षणा शब्द-शक्ति।

लक्ष्योपमा—जहाँ उपमा लक्षणा द्वारा सिद्ध हो।

विधु कैसी बंधु कैधो चार हास्य रस ही कौ,
कुंदन को वादी किधौ मोतिन को भीत है।
पुत्र कलहंस को कै छीर निधि पृच्छक है,
हिम गिरि प्रभा प्रभु प्रगट पुनीत है॥
अमल अमित अंग गंग के तरंग सम,
सुधा को समूह रिपु रूप को अभीत है।
देस-देस दिसि दिसि परम प्रकासमान,
कैधों केसौदास रामचन्द्र जू को गीत है। —केशव

यहाँ उपमा के वाचक बन्धु, चोर, वादी, मीत, पुत्र, पृच्छक और रिपु है, जो लक्षणा द्वारा सिद्ध होते हैं।

लज्जा—बुरे आचरण से उत्पन्न धृष्टता का अभाव। इसमें सिर नीचा होना आदि क्रिया होती है। इसे व्रीडा भी पुकारते हैं।

धार्ष्ट्याभावे व्रीडा वदनानमनादिकृद्दुराचारात् —साहित्यदर्पण

यह एक संचारी भाव है। देखिए—

गुरुजन सोच समाज बड़, समिटि सीय सकुचानि।

ललित—(१) प्रथम चरण में सगण, जगण, और सगण लघु, द्वितीय चरण में नगण, सगण, जगण और गुरु; तृतीय चरण में दो नगणों और दो सगणों; तथा चतुर्थ चरण में सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु से बनने वाला विषम वृत्त छंद। इसका तृतीय पाद भिन्न है, शेष उद्गता और सौरभक (दे० यथा०) के समान ही है।

ललित—(२) **वाग्वेषयोर्मधुरता तद्वच्छृंगारचेष्टितं ललितम्** —साहित्यदर्पण

वाणी, वेष-भूषा और श्रृंगार की चेष्टाओं में मधुरता का होना। यह नायक

का एक सात्विक गुण है। (दे० सात्विक गुण)

ललित (३)—एक अर्थालंकार, जिसमें वाच्य रूप ईप्सित प्रस्तुत का वर्णन प्रतिबिम्ब रूप अनिच्छित प्रस्तुत में मिलाकर होता है, जैसे

मेरी सीख सिखै न सखि, मो सों उठति रिसाय,
सोयो चाहत नींदभरि, सेज अंगार बिछाय।

ललित—(४) **सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्** —साहित्यदर्पण

नायिका द्वारा अंगों का सुकुमारतापूर्वक रखा जाना। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

ललितोपमा—एक साम्यमूलक अर्थालंकार जो उपमा के साधारण वाचक जैसे यथा जिमि आदि के स्थान पर निदरना, हँसना, नीचा दिखाना आदि आने पर होता है। जैसे—'तेरा मुख प्रफुल्लित कमल को नीचा दिखाता है।

लय छन्द—लय या संगीतपूर्ण स्वर या तान के आधार पर हुए वर्णिक और मात्रिक छन्दों से भिन्न नये छन्द। विशेष दे० 'मुक्तक'

लाक्षणिक—३२ मात्राओं वाले छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा-जाति।

लाटी—लाटी तुरीतिर्वैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता। —साहित्यदर्पण

वैदर्भी और पांचाली रीतियों के बीच की अर्थात् दोनों के लक्षणों से कुछ युक्त रीति। कुछ पण्डितों के मत से यह कोमल पदों और सुन्दर समासों से युक्त, उचित विशेषणों से वस्तु वर्णन करने वाली और थोड़े से संयुक्ताक्षरों वाली रीति होती है। कभी यह लाट देशवाली पण्डितों की प्रिय शैली रही होगी। विशेष दे० रीति, गुण, शैली।

लाभ—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अग। विशेष दे० शिल्पक।

लावनी—अन्त में मगण के नियम-बन्धन को छोड़ शेष बातों में ताटंक। (दे० यथा०) के समान ३० मात्राओं का सम मात्रा छन्द।

लास्य—नृत्य का एक मधुर भेद। विशेष दे० नृत्य।

लास्यांग—नाटक में रस के अनुकूल यथासम्भव प्रयुक्त होने वाले दस अंग। वीणा या तानपूरा रख स्त्री-पुरुष का बैठकर शुष्क गान 'गेयपद' है। काम पीड़ित नायिका द्वारा बैठकर किया जाने वाला प्राकृत का पाठ 'स्थितपाठ' है। अभिनव-गुप्त के मत से यह क्रोध में भी होता है। शोक-चिन्ता में डूबी भूषणरहित स्त्री का विना बाजे के गाना 'आसीन' है। बाजे के साथ विविध छन्दों में जहाँ स्त्रियाँ पुरुषों का और पुरुष स्त्रियों का अभिनय करके गाये वह 'पुष्प गंडिका' है। प्रिय को अन्यासक्त मानकर वीणा लेकर खण्डिता का गाना 'प्रच्छेदक' है। स्त्री वेष धारण कर पुरुष का श्लक्ष्ण नाट्य 'त्रिगूढक' है। कोई संकेतस्थल में प्रिय को न पा या संकेत-भ्रष्ट हो

वीणा आदि साधन ले स्पष्ट प्राकृत में गाए तो 'सैंधव' है। चौरस सुन्दर पदों, मुख-प्रतिमुख सन्धियों और रस-भाव वाला गीत 'द्विगूढ़' है। क्रोध या प्रसन्नता से उत्पन्न, आक्षेप-युक्त, रसपूर्ण हाव-हेला युक्त विचित्र पदरचना वाला गीत 'उत्तमोत्तमक' है। उक्ति-प्रत्युक्ति वाला, उपालम्भ-युक्त, अलीक (अप्रिय या मिथ्या) जैसा लगने वाला, विलासपूर्ण अर्थ वाला गीत 'उक्तप्रत्युक्त' है।

लिंगवैचित्र्यवक्रता—लिंग के विचित्र प्रयोग द्वारा होने वाली वक्रता। इस के निम्न प्रकार होते हैं।

(१) भिन्न लिंग वाले शब्दों का जहाँ सामानाधिकरण्य हो, जैसे 'तेनैषा मम फुल्लपंकजवनं जाता दृशां विंशतिः' सीता को देख रावण के विकसित नेत्रों के वर्णन में वनं (नपुंसक) तथा विंशतिः (स्त्रीलिंग) के प्रयोग से रमणीयता आ गई है।

(२) उभयलिंगात्मक शब्दों का स्त्रीवाची रूप में उपादान, जैसे तट के स्थान पर 'तटी' का प्रयोग।

(३) चमत्कार सृष्टि के लिए पुलिंग शब्द की अवहेलना कर स्त्रीलिंग शब्द का चयन, जैसे 'वृक्ष' के दल-संकेत पर 'लता' के दल-संकेत का विवरण।

लीला—भा त लीला बने, प्रत्येक पाद में भगण, तगण और एक गुरु (ऽ।।, ऽऽ।, ऽ) वाला उष्णिक् जाति का समवृत्त छन्द।

लीला—अंगैर्वेषैरलंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीला प्रियस्यानुकृतिं विदुः। —साहित्यदर्पण

प्रेम के अतिशय के कारण शरीर, वेष, आभूषण और प्रेम भरे वचन आदि से नायिका द्वारा किया गया नायक का अनुकरण। यह नायिका का एक स्वाभाविक अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)।

लुप्तविसर्गत्व—विसर्गों के बिलकुल लुप्त हो जाने से उत्पन्न वर्ण दोष (दे० यथा०)। यह हिन्दी में नहीं होता, क्योंकि यहाँ तो विसर्ग की समस्या ही नहीं।

लुप्तोपमा—उपमा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० उपमा।

लेख—इस अस्पष्ट शब्द में वे सभी सामान्य गद्य-प्रबन्ध आ जाते हैं, जो पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित होते हैं। सम्पादकीय लेख स्वयं एक स्पष्ट उदाहरण है और सिद्ध करता है कि पत्रों में ये उन की नीति के अनुकूल ही प्रकाशित होते हैं। लेख और निबन्ध में थोड़ा-सा भेद है। लेख तथ्य और सूचना देना प्रमुख काम समझता है और अपनी बात तक ही सीमित रहता है, जब कि निबन्ध में लेखक की शैली, व्यक्तित्व और विशेषताओं पर अधिक महत्त्व दिया जाता है।

लेश (१)—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

लेश (२)—एक अर्थालंकार जिसमें लेश मात्र (आंशिक) गुण-दोष देख कर भी किसी के गुण-दोष भेद होने की कल्पना हो, जैसे—

दोष देख गुण—

कोऊ बचत न सामुहें सरजा सों रन साजि।
भली करी पिय समर तें जिय ले आये भाजि।

गुण देख दोष—

कैद परत है सारिका मधुरी बानि उचारि।

(साहित्य पारिजात)

लोक-कथा—जनता के परम्परागत विश्वास और रीतियों पर आधारित कहानी।

लोक-गीत—जनसमूह में प्रसिद्ध बोलचाल की बोलियों में अलिखित (मौखिक) गीत। अब इन का लिखित रूप भी उपलब्ध होने लगा है, पहले ये जन-साधारण (नर, नारी) के कण्ठों में ही परम्परा से गूँजा करते थे।

लोक-नाटक—जनसाधारण में प्रसिद्ध कहानियों वाले, उत्सवों और त्यौहारों में खेले जाने वाले नाटक।

लोकबन्धु—दोधक नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० दोधक।

लोकोक्ति—एक अर्थालंकार जिस में कहावत का प्रयोग होता है, जैसे—

कवि ठाकुर जाहिं लगीं कसकें नहिं सो कसकै उर आनत है।
बिन आपने पांय बिबाई गए, कोउ पीर पराई न जानत है।

(ठाकुर)

लौकिक—७ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्राजाति।

व

वंशस्थ—वने सु वंशस्थ ज ता ज रा सदा; जगण, तगण, जगण और रगण से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

वक्रोक्ति (१)—**अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयद्यादि।**
अन्य: श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततोद्विधा।

—साहित्यदर्पण

एक शब्दालंकार, जिसमें किसी का दूसरे अर्थ वाले वाक्य से दूसरा, काकु या श्लेष की सहायता से दूसरा अर्थ निकलता है। काकु ध्वनि-परिवर्तन को कहते हैं। क्रमश: उदाहरण—

(१) **खोलो जू किवार तुमको हौ एती बार,**
प्यारी हौं मोहन, बसौ मन्त्र अभिचार में। —इत्यादि

यहाँ मोहन का काकु (ध्वनि-परिवर्तन) से दूसरा अर्थ लगाया गया है।

(२) **गौरवशालिनी प्यारी हमारी तुम्हीं हम को एक इष्ट अहो।**
हौं न गऊ, अवशा अलिनी हूँ नहीं पिय काहे कौं ऐसी कहो?

यहाँ गौरवशालिनी में सभंग श्लेष द्वारा (गौ: + अवशा + अलिनी) अर्थ लगाये गये हैं।

वक्रोक्ति (२)—कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति जीवित ग्रन्थ में वक्रोक्ति को "काव्य का जीवन" बताया है, तथा उसका विश्लेषण "वैदग्ध्यभंगीभंणिति" किया है। आप कहाँ से आ रहे हैं, इस सीधे प्रश्न के स्थान पर शकुन्तला की सखी जब दुष्यंत से पूछती है कि "किस देश की प्रजा को आपने अपने विरह से उत्सुक बनाया है", तो इस बात में विलक्षणता, बाँकापन (वक्रत्व) या वैचित्र्य बढ़ जाता है, वह "विदग्धता की स्वर लहरी से पूर्ण उक्ति" हो जाती है, यही वक्रोक्ति है। कुन्तक ने "वक्रत्व" और "वैचित्र्य" को समानभाव का सूचक माना है। वक्रोक्ति के लक्षण को उपस्थित करते समय कुन्तक ने उसकी निम्न मुख्य व्याख्या दी है, "कि उसे शास्त्र या लोक में प्रसिद्ध शब्दार्थ की रचना से विलक्षण होना चाहिये, देखिए—शास्त्रादि प्रसिद्ध

शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि, प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि तथा अतिक्रान्तप्रसिद्ध व्यवहार-सरणि (वक्रोक्ति जीवित क्रमशः पृष्ठ १४, २६, १६५)। महिमभट्ट ने भी इसी की पुष्टि करते हुए कहा है कि जहाँ चमत्कार सिद्धि के लिये प्रसिद्ध मार्ग को छोड़कर अर्थ को अन्यथा ही कहा जाये, वह वक्रोक्ति है। कुन्तक ने उसे "वैदध्यभंगीभणिति" माना है। काव्य का जीवन उसे मानते हुए काव्य की पुरानी "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" परिभाषा में भी उन्होंने "कवि के वक्र" "व्यापार वाले" तथा सहृदयों का आह्लाद करने वाले बंध में रखे गए शब्द और अर्थ ये विशेषण जोड़े हैं। वक्रोक्ति एक शब्दालंकार ही है, उस से इसे अलग समझना चाहिये।

भामह के अनुसार वक्रोक्ति वचनों की अलंकृति है तथा इसके बिना काव्य में सौंदर्य की प्रतीति नहीं होती। लोक के साधारण कथन का उल्लंघन करने से यह उत्पन्न होती है। दंडी ने समग्र वाङ्मय को स्वाभाविक तथा वक्रोक्ति दो भागों में बाँटा है। वह अलग अलंकार नहीं प्रत्युत समग्र अर्थालंकारों का सामूहिक अभिधान है तथा उस में श्लेष द्वारा विशेष श्रीवृद्धि होती है। (काव्यादर्श २।३६२)। रुद्रट ने उसे शब्दालंकार माना था किन्तु वामन ने उसे अर्थालंकार बताते हुए "सादृश्य पर आधारित लक्षणा" माना है। आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति (वक्रोक्ति) को सर्वालंकार रूपा बताया है। अभिनवगुप्त ने शब्दवक्रता तथा अभिधेयवक्रता वक्रोक्ति के ये दो भेद बताए हैं तथा उसे भामह की भाँति वाणी का अलंकार बताया है। (देखिए काव्यालंकार १।३२)।

इस ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि वक्रोक्ति को किसी न किसी रूप में अनेकों आचार्यों ने अपनाया था, किन्तु मूल प्रेरणा कुंतक की ही थी। उन्होंने उसे काव्य का जीवन माना और वक्रोक्तिवाद पीछे से अलंकार शास्त्र के ६ प्रमुख सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय बन गया। यद्यपि इस सम्प्रदाय में पीछे विशेष प्रतिमाएँ पैदा होती हुई नहीं दिखाई पड़तीं किन्तु फिर भी उसका अपना अलग अस्तित्व तो कुंतक के परिश्रम के फलस्वरूप ही बन गया था। अतएव हमें अलंकार शास्त्र के अन्य सम्प्रदायों से इस के सम्बन्ध को समझ लेना चाहिए। कुंतक साधारण चमत्कार को न अपनाकर कविवाणी को निरन्तर रसोद्गारी संदर्भों को अपनाने का आदेश देते हैं। वे चेतन प्राणियों के स्वभाव वर्णन में रसजन्य चमत्कार के प्रेमी हैं और जड़-प्रकृति पदार्थों में भी रसोद्दीपन की क्षमता को विशेष महत्व देते हैं। वे रसवत् अलंकार में स्वरूप से भिन्न किसी अन्य पदार्थ का प्रतिभास उसी तरह नहीं मानते जिस तरह स्वभाव की उक्ति काव्यवस्तु से पृथक नहीं हो सकती। रसवत् को सब अलंकारों का जीवन मान उन्होंने रसविषयक अपने आग्रह को और भी स्पष्ट कर दिया है। रस उनकी वक्रोक्ति के अनेक प्रकारों में से एक सुन्दर प्रकार है। वाक्यवक्रता में अलंकारों

का समावेश कर उस सम्प्रदाय को भी आत्मसात् किया गया है। कुंतक ने अलंकारों को वैचित्र्यपूर्ण तथा कविप्रतिभोत्थापित माना है—कविप्रतिभात्मक विच्छित्ति ही अलंकार है। उन्होंने यथासंख्य जैसे अलंकारों को विचित्रता के अभाव में अलंकार-कोटि से ही बाहर फेंक दिया है, तथा रसवत्, आशीः और विशेषोक्ति स्वभावोक्ति जैसे अलंकारों को अलंकार्य मान उनके अलंकारत्व का भी खंडन कर दिया है। गुणसम्प्रदाय से वक्रोक्ति का सम्बन्ध रखते हुए कुंतक ने पुराने दस और नये तीन गुणों को न मान उनके दो नये भेद—सामान्य गुण तथा विशिष्ट गुण—बताए हैं। प्रसाद जैसे तुरन्त अर्थ का समर्पण कराने वाले गुण की सत्ता उन्होंने वक्रोक्ति में मानी है। रीति सम्प्रदाय के इतिहास में कुंतक ने विशेष योग यही दिया है कि उसे भौगोलिक आधार पर आश्रित न मान कवि के स्वभाव पर आश्रित माना है। विचित्र स्वभाव वाले कवि तथा विचित्र मार्ग का सीधा सम्बन्ध उन्होंने वक्रोक्ति से जोड़ा है। ध्वनिकार ने उदाहरणों को वक्रता के उदाहरण में रख उस सम्प्रदाय से भी कुंतक ने सम्बन्ध जोड़ा है। कुंतक का सम्बन्ध विशेषतः अभिधा से ही है, और लक्षणा तथा व्यंजनामूलक अनेकों ध्वनियों का अन्तर्भाव उन्होंने कुछ विशिष्ट वक्रताओं में कर लिया है जैसे लक्षणामूलक अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उपचारवक्रता में। इस प्रकार कुंतक ने रस, अलंकार, गुण, रीति तथा ध्वनि सभी को वक्रोक्ति में समेट लिया है।

वक्रोक्ति के निम्न ६ मुख्य भेद हैं—(१) वर्णवक्रता (२) पदपूर्वार्धवक्रता, (३) पदपरार्धवक्रता (४) वाक्यवक्रता (५) प्रकरणवक्रता और (६) प्रबन्धवक्रता। इनमें पद की पूर्वार्ध तथा परार्धवक्रताओं के अनेक उपभेद हो जाते हैं।
(भेद यथा० दे०)।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय—आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवन माना है। (वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्) भामह ने अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति नाम से पुकारा था तथा बताया था कि कवि को इसमें यत्न करना चाहिए क्योंकि इसके बिना और कौन उपादेय अलंकार है? दंडी ने वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न होता हुआ बताया है। मौलिक विचारों वाले आचार्य कुन्तक ने इस कल्पना को अपनाकर वक्रोक्ति को काव्य का जीवन बताया है।

कुन्तक की विचार, विवेचन तथा विश्लेषण की सामर्थ्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। वे ध्वनिमत से भी खूब परिचित हैं, तथा उनकी वक्रोक्ति की उदात्त तथा व्यापक कल्पना में ध्वनि का अन्तर्भाव-सा हो गया है। किन्तु कुन्तक के पीछे यह सम्प्रदाय अधिक विकसित न हो सका।

वचनवक्रता—वचनों के प्रयोग चातुर्य द्वारा चमत्कार पैदा करना। विशेष दे० संख्या वक्रता।

वज्र—प्रतिमुख नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० प्रतिमुख।

वत्सल—माता या पिता की पुत्र में प्रेममय भावना। यह मुनीन्द्र सम्मत वात्सल्य रस का स्थायी भाव है।

वयःसन्धि—नायिका में शैशव और यौवन अवस्थाओं के संगम का समय। कवियों ने इसके वर्णन में विशेष कौशल दिखलाया है। विशेष दे० नायिका।

वरवै—विषमनि रवि कल वरवै, सम मुनि जात। १२-७ पर यति वाली १६ मात्राओं और अन्त में जगण (कभी-कभी तगण) होने पर बनने वाला अर्द्धसम मात्रा छन्द।

वर्ग-भावना-गीति—वर्ग विशेष की भावना के प्रदर्शन में लिखे गये गीत। हमारे 'नवीन' और 'एक भारतीय आत्मा' द्वारा लिखे गये राष्ट्रीय भावनाओं वाले गीत इसी श्रेणी में आते हैं। सोहनलाल द्विवेदी ने तो गांधीवादी गीतियों की शृंखला ही खड़ी कर दी है। (दे० गीतिकाव्य)

वर्णगण—तीन-तीन वर्णों के समूह। विशेष दे० गण।

वर्णदंडक—२६ वर्णों से अधिक वर्णों वाले छन्द। विशेष दे० दंडक।

वर्णदोष—अक्षरों के दुष्ट प्रयोग द्वारा काव्य में उत्पन्न दोष। विशेष दे० दोष।

वर्णनष्ट—वर्णिक छन्दों के रूप जानने की रीति। विशेष दे० नष्ट।

वर्णप्रस्तार—वर्णिक छन्दों के रूप में जानने की रीति। विशेष दे० प्रस्तार।

वर्णवक्रता—अक्षरों के चयन-चातुर्य द्वारा पैदा किया गया चमत्कार। विशेष दे० वृत्यौचित्य।

वर्णविन्यासवक्रता—यह वक्रता वर्णों (अक्षरों) के विन्यास (चुनाव, स्थापना) में विद्यमान रहती है। कुन्तक ने व्यंजनों के समग्र सौन्दर्य प्रकारों का उल्लेख इस वक्रता के अन्तर्गत किया है, अनुप्रास और यमक जैसे प्रसिद्ध शब्दालंकारों के लिए उन्होंने जो नई-नई उद्भावनाएँ की हैं वे उनकी पैनी सूझ की परिचायक हैं। इसके लिए उन्होंने तीन उपाय बतलाए हैं—

१. अनुप्रास के विधान में अतिव्यसन का अभाव। वैसे तो अतिसर्वत्र वर्जयेत्, किन्तु अक्षर सौष्ठव के विधान में अति करना विशेषतः अनुपादेय है।

२. अनुप्रास-विधान अपेशल (असुन्दर) से न हो। स्पष्ट ही सुन्दरता की सृष्टि सुन्दर अक्षरों के चुनाव में ही है—कर्णकटु के चुनाव में नहीं।

३. पहले आवृत्त वर्णों का त्याग तथा नूतन वर्णों का चुनाव।

यमक के लिए भी कुन्तक ने प्रसाद-पूर्ण, श्रुतिपेशल तथा औचित्य युक्त होना आवश्यक माना है।

वर्णवृत्त—ऐसे वर्णिक छन्दों का सामान्य नाम, जिनके चारों चरण एक से

हों। दे० वर्णिक छन्द।

वर्णसंहार—प्रतिमुख नामक नाटक-सन्धि का एक अंग। विशेष दे० प्रतिमुख।

वर्णिक छन्द—वर्ण (अक्षरों) की गणना के आधार पर गिने जाने वाले छन्द। इनको साधारणतः वृत्त भी कहते हैं। पर विशेषतः वर्णवृत्त संस्कृत के चार समान पदों वाले वर्णिक छन्द को कहते हैं।

वसुमती—ता सा वसुमती, प्रत्येक पाद में क्रमशः तगण और सगण (ऽऽ।, ।।ऽ) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द।

वस्तु—कहानी का ढाँचा या घटनाओं की योजना। यह नाटक, उपन्यास, काव्य आदि का एक प्रधान तत्त्व है। इसके दो अंग हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। फल के अधिकारी नायक की कहानी आधिकारिक है, जैसे रामायण में रामचरित और आधिकारिक वस्तु के सहायक अन्य वृत्त प्रासंगिक होते हैं, जैसे रामायण में सुग्रीव-चरित। प्रबन्ध योजना में दोनों का उचित सामंजस्य आवश्यक है (दे० प्रबन्ध काव्य)। इसमें चारों पताका स्थानकों (दे० यथा०) का ध्यान रखकर प्रयोग करना चाहिए। नायक या रस के विरुद्ध या अनुचित कथा को न लिया जाए। अंकों में जिनका अभिनय निषिद्ध है जैसे युद्ध, मृत्यु आदि (दे० अंक) या अधिक समय लेने वाली कहानी को नाटक में अर्थोपक्षेपकों (दे० यथा०) द्वारा ही सूचित कर देना चाहिये। एक दिन में असम्भव काम को बाँट देना चाहिए। इन शास्त्रीय नियमों के सिवा लेखक का कला-कौशल भी वस्तु के चुनने, सजाने, उसमें एकता और समरसता रखने तथा उसमें अनावश्यक घटना को सूचित कर आगे बढ़ने और आवश्यक का विस्तार कर देने में है। अरस्तू ने नाटक और महाकाव्य की कथावस्तुओं का अलग सविस्तार विवेचन किया है। नाटक की वस्तु का लक्ष्य दर्शकों को मुग्ध करने के लिए घटनाओं का विभाजन और एक आकर्षक अन्त तक पहुँचाना होता है। कार्य-अर्थप्रकृति (दे० यथा०) की पाँच अवस्थायें आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम वस्तु के परम्परागत विभाजन हैं। नाटक की वस्तु के भेद कुछ भी हों, चाहे वह पेचीदा और सम्भावी-संदेह से भरी हुई हो या सीधी-सादी; पर उसमें एकता अवश्य होती है। प्रत्येक दृश्य और अंक उसे आगे बढ़ाता है और परस्पर सम्बद्ध होता है। शेक्सपियर आधिकारिक वस्तु के समानान्तर ही प्रासंगिक कथावस्तु भी खड़ा करता था और तुलना या अनेक उदाहरणों के बल पर प्रभाव को बढ़ाता था। दोनों में दृढ़ सम्बन्ध होना चाहिए।

वैसे तो नाटक की वस्तु ही ख्यातवृत्त वाली होनी चाहिए, पर महाकाव्य के विषय में तो यह और भी आवश्यक है। आने वाली अनेकों घटनाओं में जीवन-क्रम की एकता होनी चाहिए। यह क्रम तो उपन्यास-कहानी सभी में आवश्यक है। एकता

और केन्द्रभूत एक प्रधान चरित और प्रधान कार्य के विषय में भी यही बात है। प्रत्येक घटना स्वभावतः एक नाटकीय दृश्य बन जाती है। पर कुछ नई कहानियां वस्तु की पूर्वयोजना को आवश्यक नहीं मानतीं। वे समस्याओं को सुलझाने, वातावरण पैदा करने, या स्थिति के वर्णन की झोंक में वस्तु को खुली छूट दे देती हैं। कुछ भी हो, योजना मानव-चरित का एक आवश्यक अंग है। कलाकार अपनी कहानी के बारे में मन में एक योजना तो बनाता ही है। वैसे सजीव पात्रों की सजीवता इसी में है कि कलाकार वस्तु को अपनी योजना के रूप में प्रकट न करे, बल्कि पात्रों की स्वाभाविक विकास वाली कहानी के रूप में। उसके सूत्र कलाकार के हाथ में नहीं, पात्रों के हाथ में प्रतीत हों।

डा० सूर्यकान्त कथावस्तु के निम्न अनिवार्य उपकरण बताते हैं। कोई बात छूटी हुई या परस्पर विरोधी न जान पड़े। उसके अंगों में समता और संतुलन हो और साधारण बात के लिए बड़ी भूमिका न बाधी जाएं। घटनाएं स्वतः प्रसूत लगें। साधारण बातों तक में लोकोत्तर चमत्कार प्रतीत हो। वह क्रम संगत और स्वाभाविक हो। अंत पूर्व घटना के अनुकूल और पूर्वापर समाहार को ध्यान में रखकर हुआ हो। ई० एम० फार्स्टर अपने 'आस्पेक्ट आफ नावेल' में कहानी और वस्तु का अन्तर बताते हुए कहते हैं कि 'कहानी' फिर क्या हुआ? का उत्तर देती है और वस्तु 'क्यों हुआ?' का। वस्तु अचम्भे में अवश्य डाले और यह बुद्धि और स्मृति पर आश्रित है। एडविन म्यूर अपने 'स्ट्रक्चर आफ़ नावेल' में वस्तु को घटनाओं को जोड़ने वाली कड़ी बताते हैं।

वस्तुवक्रता—वस्तु के प्रयोग-चातुर्य द्वारा चमत्कार की सृष्टि। विशेष दे० वाक्यवक्रता।

वस्तूत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० उत्प्रेक्षा।

वाक्केलि—वीथी नामक रूपक का एक अंग। विशेष दे० वीथी।

वाक्य—वैयाकरणों के मतानुसार एक तिङ् (क्रिया) वाक्य बनती है। साहित्यदर्पणकार के मत से आकाङ्क्षा, योग्यता और आसक्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं। परस्पर सम्बन्ध में बाधा न होना योग्यता है, प्रतीति (जिज्ञासा) का अन्त न होना आकाङ्क्षा है तथा सम्बद्ध बातों में बीच में व्यवधान न होना आसक्ति है। इस प्रकार एक क्रिया वाले तथा एक परस्पर सम्बद्धपूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले पद समूह को वाक्य कहते हैं।

वाक्य-दोष—वाक्यों के दुष्ट प्रयोग से उत्पन्न काव्यगत दोष। विशेष दे० दोष।

वाक्यवक्रता—कुन्तक के वक्रता के ६ प्रमुख भेदों में पद* की द्विविध (पूर्वार्द्ध-

परार्द्ध) वक्रताओं के बाद वाक्य वक्रता को रखा है। इस वक्रता का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। कुन्तक ने इसके अन्तर्गत प्रधान रूप से अलंकारों का विधान किया है। वे वैचित्र्य को ही अलंकार कहते हैं। उनके इस कथन का प्रभाव परवर्ती आलंकारिकों पर भी पड़ा है। वस्तु (स्वभाव प्रधान और रस प्रधान) की वक्रता का भी अंतर्भाव वाक्यवक्रता में ही होता है, पहले में स्वभाव का ही वर्णन होता है, दूसरे में रस का चमत्कार। कुन्तक ने रस चारुता पर विशेष बल दिया है।

वाक्यार्थोपमा—एक साम्यमूलक अर्थालंकार, जिसमें एक वाक्याथ के साथ वाचक शब्द द्वारा समता की जाती है। इसमें समानधर्म का दृष्टान्त (दे० यथा०) की भांति बिंब-प्रतिबिंबभाव (छाया की भांति अत्यन्त सादृश्य) होता है, पर दृष्टान्त में वाचक शब्द आवश्यक नहीं होते। इसमें दोनों वाक्यार्थ विशेष रहते हैं। इसी से इसका उदाहरण और अर्थान्तरन्यास (दे० यथा०) से भेद हो जाता है। उदाहरण—

रस-रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥

वागीश्वरी—रचौ सात या और लागा बनाओ मनोहारि वागीश्वरी छन्द को। सात यगणों, लघु और गुरु से बनने वाला विकृति जाति का समवृत्त छन्द।

वाचक शब्द—उपमा अलंकार का एक अंग। विशेष दे० उपमा।

वाचिक—वाणी द्वारा किया जाने वाला अभिनय का एक भेद। विशेष दे० अभिनय।

वाच्यसिद्ध्यंग—दे० गुणीभूत व्यंग्य।

वाच्यानभिधान—अवश्य-प्रयोक्तव्य वाचक-पद का प्रयोग न करने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०)। जैसे मेरे थोड़े से दोष पर तुम क्रुद्ध होती हो, यहाँ 'दोष पर' के बाद 'ही' अवश्य कहना चाहिए था, जो नहीं कहा गया।

वाच्यार्थ—अभिधेय अर्थ का ही एक नाम। विशेष दे० अभिधा।

वाच्योत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० उत्प्रेक्षा।

वाच्योपमा—जहाँ केवल अभिधा द्वारा ही उपमा सिद्ध हो :

भौं कमान कटाच्छ सर, समर भूमि विचलै न।
लाज तजै हू दुहुन के, सजल सूर से नैन॥—(मतिराम)

यहाँ चतुर्थ चरण की उपमा केवल अभिधा द्वारा सिद्ध है।

वातावरण—किसी ग्रन्थ की साधारण स्थिति का सूचक एक अतिप्रयुक्त साहित्यिक शब्द। यह परिपार्श्व (दे० यथा०) के समान है और कहानी की स्थिति, समय, वस्तु, पात्रों की परिस्थितियां और तत्कालीन जीवन की विचारधाराओं पर प्रकाश

डालता है। नाटक, उपन्यास या कहानी-प्रत्येक में यथाशीघ्र इसकी स्थापना अत्यन्त उपादेय होती है। कुछ कथावस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो वातावरण की सृष्टि के बिना नहीं चल सकतीं।

वात्सल्य—स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः,
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालंबनं मतम्।
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः,
आलिंगनांगसंस्पर्श शिरश्चुंबनमीक्षणम्।
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः,
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः।
पद्मगर्वच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः।

—साहित्य दर्पण

वत्सल स्थायी भाव कमलगर्भ-सा वर्ण, ब्राह्मी आदि लोकमाताएँ देवता और प्रकट चमत्कार वाला मुनीद्र सम्मत दसवां रस। आलंबन-पुत्रादि; उद्दीपन–उसकी चेष्टा, विद्या, दया, शूरता आदि; अनुभाव-आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर चूमना, देखना, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि; संचारी भाव-अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व, पुलक आदि। उदाहरण—

धूसरि धूरि भरे तन आये।
भूपति बिहंसि गोद बैठाये।
भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाय।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाय॥

यहाँ बालक राम आलंबन, उनकी धूल से भरा होना, चपल होना, भागना, किलकना आदि चेष्टाएँ उद्दीपन, राजा का हँसकर गोद में बैठाना अनुभाव और हर्ष, पुलक आदि संचारी भाव तथा वत्सल स्थायी भाव है।

वाम—ज सात य एक मिलें तब तो मकरन्द मनोहर वाम सवैया। सात जगणों और एक यगण से बनने वाला संस्कृति जाति का समवृत्त छन्द। इसे मकरंद, मंजरी और माधवी भी कहते हैं।

वामा—वामा त य भा गा से चमके, प्रत्येक पाद में तगण, यगण, भगण और गुरु (ऽऽ।, ।ऽऽ, ऽ।।, ऽ) वाला पंक्ति जाति का समवृत्त छन्द।

वार्ता—आन्वीक्षिकी, त्रयी और दण्डनीति के साथ गिनी गई चौथी विद्या। विशेष दे० चतुर्विद्या।

वाष्प—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

वासकसज्जा—वह नायिका, जिसे प्रिय के आने का निश्चय हो और सजे

हुए महल में सखियाँ जिसका श्रृंगार करें। यह नायिका के आठ अवस्था भेदों में से एक है।

वासव—८ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों का एक नाम। विशेष दे० मात्रा-जाति।

विकल्प—विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः। —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो समान बल वाली वस्तुओं के चतुरतापूर्वक दिखाए गए विरोध में होता है। जैसे—(१) सिर झुकाओ या धनुष झुकाओ। हमारी आज्ञा को कान चढ़ाओ या प्रत्यंचा चढ़ाओ। यहाँ सन्धि-विग्रह वाली दोनों बातों के साथ-साथ सम्भव न होने से विरोध है। प्रतिद्वन्द्वी के तुल्य बल वाले होने से दोनों की सम्भावना है। इसमें सादृश्यगर्भित निर्देश होने से चातुर्य होता है।

(२) और देखिए—

चलन चहत बन जीवन नाथा। केहि सुकृती सन होइहि साथा।
की तनु प्रान कि केवल प्राना। विधि करतब कछु जात न जाना॥

विकस्वर—एक अर्थालंकार जिसमें विशेष वाक्य का सामान्य से समर्थन कर फिर विशेष वाक्य लाया जाता है, जैसे—

मधुप! मोह मोहन तज्यो, यह स्यामन की रीति।

करो आपने काम लों, तुम्हें भांति सों प्रीति॥ —मतिराम

प्रथम चरण मे विशेष वाक्य, दूसरे में सामान्य और द्वितीयार्थ में फिर विशेष वाक्य है।

विकृति—२३ वर्णों वाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। दे० वृत्त जाति।

विकृष्ट—नाटकीय रगमंच के निर्णय का एक प्रकार। विशेष दे० रंगमंच।

विक्षेप—भूषाणामर्धरचना मिथ्याविष्वगवेक्षणम्।
रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तके। —साहित्यदर्पण

नायिका द्वारा प्रिय के सामने गहनों का आधा सजाया जाना और धीरे से कुछ रहस्य की बात कहना। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

विचार—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

विचित्र—विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें इष्टप्राप्ति के लिए विरुद्ध क्रिया का वर्णन होता है, जैसे—

(१) सेवक से अधिक मूढ़ कौन है, जो उन्नति के लिए प्रणाम करता है, जीने के लिए प्राण छोड़ता है और सुख के लिए दुख चाहता है।

(२) हरि ऊँचे हेत वामन भें बलि के सदन में। (दूलह)

विच्छित्ति—स्तोकाप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्।

—साहित्यदर्पण

कांति को पुष्ट करने वाली थोड़ी भी वेष रचना। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

विजया—दसन दस कलन की छन्द विजया यती, रगण पुनि अन्त दे श्रुति-मधुर भावही, १०, १०, १० और १० पर यति वाली ४० मात्राओं और अन्त में रगण से बनने वाला सम मात्रा दंडक छन्द।

विजात—ल आदि चौदह कल विजात, चौदह मात्राओं और आदि लघु से बनने वाला मानव जाति का सम-मात्रा-छन्द। इसे प्रतिमा और विजाता भी कहते हैं।

विजाता—विजात नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० विजात।

विट—संभोगहीन संपद्विटस्तु धूर्तकलैकदेशज्ञः।

वेशोपचारकुशलो वाग्मीमधुरोऽथबहुमतोगोष्ठ्याम्।

—साहित्यदर्पण

भोग विलास में अपनी सम्पत्ति नष्ट कर चुकने वाला, नृत्य आदि कलाओं में कुछ हाथ रखने वाला, धूर्त, वेश्याओं की सेवा में चतुर बातचीत में कुशल, मिठ-भाषी और गोष्ठी में समादृत पुरुष विट कहलाता है। यह नायक का शृंगार सहायक होता है। यह मध्यम प्रकार का शृंगार सहायक माना गया है।

वितर्क—तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः।

—साहित्यदर्पण

सन्देह के कारण उत्पन्न विचार। इसमें भौं, सिर, अँगुली आदि हिलते-चलते हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर वासा॥

विदूषक—कुसुमबसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभासाद्यः।

हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः।

—साहित्यदर्पण

कुसुमक, बसन्तक आदि फूलों और ऋतुओं के नाम वाले, क्रिया, देह, वेष, भाषा आदि से दूसरों को हँसानेवाले, कलहप्रेमी, खाने-पीने आदि अपने मतलब की

बात को कभी न भूलने वाला पुरुष विदूषक कहलाता है। यह मध्यम प्रकार का शृंगार सहायक है।

नाटक में हास्य की वांछनीयता ने विदूषक को नाटक का एक आवश्यक पात्र बना दिया था। किन्तु करुणात्मक दुःखनाटकों में उनकी अवतारणा शेक्सपियर जैसे नाटककारों ने विशेष आवश्यक नहीं समझी। कभी-कभी यह कार्य अन्य पात्रों द्वारा भी करा लिया जाता है और विदूषक की अवतारणा आवश्यक नहीं रहती। हेमलेट का पोलोनियस इसी का उदाहरण है। संस्कृत नाटकों मे पेटू ब्राह्मण ही प्रायः हास्य पात्र थे, प्रसाद का 'मुद्‌गल' भी वैसा ही है।

विद्याविरुद्धत्व--शास्त्रविरोधी बात कहने से उत्पन्न अर्थ दोष (दे० यथा) जैसे--"रमणी के अधर पर नखक्षत है", यह बात शृंगार-शास्त्र से विरुद्ध है, क्योंकि अधर में दंतक्षत हो सकते हैं, नखक्षत नहीं।

विद्युन्माला—मा मा गा गा विद्युन्माला। प्रत्येक पाद में दो मगण और दो गुरु (ऽऽऽ,ऽऽऽ,ऽऽ) वाला अनुष्टुप जाति का समवृत्त छन्द। इसके दूने को रूपा कहते हैं।

विद्यल्लेखा--दो मा विद्युल्लेखा, त्येक पाद में दो मगण (ऽऽऽ,ऽऽऽ) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द।

विद्रव--गर्भ नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

विधाता--१४-१४ पर यति वाली २८ मात्राओं से बनने वाला यौगिक जाति का सम-मात्रा-छन्द। इसमें पहली, आठवीं और पन्द्रहवीं मात्राएँ लघु होती हैं। जैसे--**"कहाँ स्वाधीन हम होते, महात्मा जो न आ जाते"**।

विधान--मुख नामक नाटक-सधि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

विधि--एक अर्थालंकार, जिससे सिद्ध वस्तु में कुछ विशेषता दिखाने के लिए फिर कथन होता है। जैसे--

रासमंडली में गोपिकस गोपिकेस हैं। (दूलह)

विधायुक्तत्व—विधेय अर्थ में अयुक्तता होने से उत्पन्न अर्थ दोष (दे० यथा०)। जैसे—"अपने दल वालों को प्रसन्न करने वाला यह नेता दूसरे दल वालों को चुनाव में हरा देगा," यहां पर दूसरे दल वालों को हराकर अपने दलवालों को प्रसन्न बनाएगा यह विधेय था।

विद्युत—प्रतिमुख नामक नाटक संधि का एक अंग विशेष दे० प्रतिमुख।

विनय—१२, १२, १२ और ८ पर यति वाली ४४ मात्राओं और अन्त में बहुधा रगण से बनने वाला सम-मात्रा दंडक छन्द। जैसे—

जय जय जग जननि देव,
सुर नर मुनि असुर सेवि,
भुक्ति मुक्तिदायिनि भय हरनि कालिका।

विनोक्ति—**विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधुवा।** —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें एक के बिना दूसरा अशोभन (बुरा) नहीं होता या हो जाता है। क्रमशः उदाहरण—

(१) **बिनु संतोष न काम न साहीं।**
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥ —तुलसी

(२) लोकोत्तर पति का अनुगमन कर तूने अच्छा ही किया। बिना सूर्य के दिन की शोभा क्या और बिना चन्द्रमा की रात क्या?

विनार्थक शब्द न होने पर भी विनार्थ विवक्षा में विनोक्ति ही होती है—"चन्द्रमा को न देखने वाली नलिनी का जन्म निष्फल ही रहा और प्रमुदित नलिनी न देखने वाले चन्द्रमा का जन्म भी निष्फल ही रहा।"

विन्यास—भाणिका नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० भाणिका।

विपरीतलक्षणा—लक्षणा नामक शब्द-शक्ति का एक भेद। विशेष दे० लक्षणा।

विपरीताख्यानकी—आख्यानकी (दे० यथा०) का उलटा अर्थात् उसके विषम (प्रथम-तृतीय) पादों के सम (द्वितीय-चतुर्थ) पादों में तथा सम पादों के विषम पादों में बदल जाने पर बनने वाला अर्द्धसम वृत्त छन्द। इस प्रकार इसमें प्रथम-तृतीय चरणों में जगण, तगण, जगण और दो गुरू तथा द्वितीय-चतुर्थ चरणों में दो तगण, जगण और दो गुरु होते हैं।

विपर्यय—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

विप्र—सर्वलघु (।।।।) मात्रा गण का नाम। विशेष दे० गण।

विप्रलंभ—श्रृंगार रस के दो प्रधान भेदों में से एक। इसे वियोग भी कहते हैं। विशेष दे० श्रृंगार।

विप्रलब्धा—वह नायिका, जिसका प्रिय सहेट में एकान्त-मिलन का संकेत करके भी न आये और इस प्रकार जिसका अपार अवमान और तिरस्कार हो। यह नायिका के आठ अवस्था-भेदों में से एक है।

विबोध (१)—भाणिका नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० भाणिका।

विबोध (२)—**निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः**
जृम्भांगभंगनयनमीलनांगावलोककृत्। —साहित्यदर्पण

नींद दूर करने वाले कारणों से पैदा होने वाली चेतनता। इसमें जँभाई, अँगड़ाई, आँख मीचना और अंगों का अवलोकन होता है। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

सुनि मृदु वचन गूढ़ रघुपति के।
उघरे पटल परसुधर मति के।।

विबोध (३)—निर्वहण नामक नाटक-संधि का एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

विभाव—रत्याद्युद्बोधका लोके विभागाः कालनाट्ययोः —साहित्यदर्पण

लोक में जो रति आदि स्थायी भावों के उद्बोधक होते हैं, वे ही काव्य और नाटक में विभाव कहे जाते हैं। सीता आदि की रति आदि के उद्बोधक प्रसिद्ध हैं वे काव्य या नाटक के रखे जाने पर सहृदयों के रति आदि भावों को विभावित करते हैं अर्थात् उनको रसास्वाद की उत्पत्ति के हेतु बनाते हैं। इन आलम्बनों की भावनाओं को जो पदार्थ उद्दीप्त करते हैं, वे भी विभाव कहे जाते हैं और इस प्रकार विभाव के आलम्बन और उद्दीपन (दे० यथा०) दो भेद दो जाते हैं।

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। —साहित्यदर्पण

विभावना—विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। —साहित्यदर्पण

एक विरोधमूलक अर्थालंकार, जिसमें बिना हेतु कार्योत्पत्ति बतायी जाती है। कारण का अभाव शब्द से बताने या कारणांतर बता देने पर शाब्दी या उक्तनिमित्ता और इसके अर्थ से सिद्ध होने पर अथ या अनुक्तनिमित्ता—इसके ये दो भेद हैं। जैसे—

यौवनागम में तरुणी अनायास दुबली हो गई, बिना शंका ही नेत्र चपल हो गए और बिना भूषणों के ही शरीर सुन्दर लगने लगा।

यहाँ यौवनागम कह देने से उक्तनिमित्ता है, और इसके न कहने पर अनुक्तनिमित्ता हो जाती है।

विभ्रम—त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु।
अस्थाने विभ्रमादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः —साहित्यदर्पण

प्रियागम के समय हर्ष-अनुराग के कारण नायिका द्वारा भूषणादि का धारण कर लेना। यह नायिका का एक स्वभाव अलंकार है। दे० नायिकालंकार।

विमर्श—नाटक की चौथी संधि। यह कार्य अर्थप्रकृति (दे० यथा०) की चौथी अवस्था नियताप्ति के लगभग समानान्तर चलने वाला नाटक की कथावस्तु का चौथा विभाग है। इसमें मुख संधि में प्रारम्भ, प्रतिमुख में कुछ प्रौढ़ और गर्भ में कुछ विकसित फलप्रधान उपाय का गर्भ से कुछ अधिक विकास होता है, पर शाप आदि से कुछ बाधा पड़ जाती है। इसे अवमर्श भी कहते हैं—

यत्रमुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः —साहित्यदर्पण

नाटक के वस्तु-विभाग में चौथे अंक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। फल विकसित तो तीसरे अंक से ही हो जाता है, पर पाँचवें अंक तक उसे खीचने के लिए और चौथे अंक की वस्तु के लिए कुछ विघ्न आवश्यक हो जाता है। शेक्सपियर के समाज में शाप आदि की मान्यता न होने से उसे अपने चौथे अंक को सशक्त बनाने के लिए अनेकों कौशलों को अपनाना पड़ा था, जिनका उल्लेख ब्रैडले ने सविस्तर किया है।

दर्पणकार इसके निम्न तेरह अग बताते हैं। पहला अंग-दोष कथन वाला 'अपवाद' है; दूसरा दोषभरे वचन वाला 'सफेट' है, तीसरा प्रतिज्ञा से पैदा हुआ व्यवसाय है; चौथा शोक-आवेग आदि के कारण गुरुजनों का अतिक्रमण 'द्रव' है; पाँचवाँ तर्जन और उद्वेजन वाला 'द्युति' है; छठा विरोध की शान्ति 'शक्ति' है; सातवाँ गुरुजनों का वर्णन 'प्रसंग' है; आठवां मानसिक-शारीरिक श्रम से उत्पन्न श्रम 'खेद' है; नवाँ अभीष्ट वस्तु का विच्छेद 'प्रतिषेध' है; दसवाँ कार्य के विघ्न का ज्ञापन 'विरोधन' है, ग्यारहवाँ कार्य का उपसंहार 'प्ररोचना' हैं; बारहवा कार्य का संग्रह 'आदान' है; बारहवाँ और तेरहवाँ अपनी कार्य-सिद्धि के लिए अपमान सहना 'छादन' है। विशेष दे० सन्धि, अर्थप्रकृति, वस्तु, नाटक।

विमोहा—है विमोहा र दो, प्रत्येक पात्र में दो रगण (ऽ।ऽ, ऽ।ऽ) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द।

वियोग—शृंगार रस के दो प्रमुख भेदों में से एक। इसे विप्रलम्भ भी कहते हैं। विशेष दे० शृंगार।

विरह-ज्वर—कामातुरों के तप चेष्टा का ही अन्य नाम। विशेष दे० कामदशा।

विरहिणी—पति-वियुक्त नायिका प्रोषित पतिका का अन्य नाम। विशेष दे० प्रोषितपतिका।

विरहोत्कंठिता—वह नायिका, जिसका पति आने का निश्चय करके भी देववश न आ सके और जो इस कारण विशेष दुखी हो। यह नायिका के आठ अवस्था भेदों में से एक है।

विराट—शुद्ध विराट छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० शुद्ध विराट।

विरुद्ध—**गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते।** —साहित्यदर्पण

गद्य-पद्य-मयी राजा की स्तुति। संस्कृत में विरुद-मणिमाला इसका उदाहरण है।

विरुद्धमतिकारित्व—'भवानीश, तुम्हारा कल्याण करे,' यहाँ भवानीश शब्द से पार्वती के किसी दूसरे पति के भी प्रतीत होने से यह दोष (दे० यथा०) है।

विरोध—प्रतिमुख नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० प्रतिमुख।

विरोधन—विमर्श नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

विरोधमूलक—अलंकारों का एक वर्ग। विशेष दे० अलंकार।

विरोधाभास—**जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।**

क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।

विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः।

—साहित्यदर्पण

एक विरोधमूलक अर्थालंकार, जिसमें विरोध न होने पर भी जाति—जाति-गुण-क्रिया या द्रव्य से, गुण—गुण-जाति या द्रव्य से, क्रिया—क्रिया या द्रव्य से; या द्रव्य-द्रव्य (इस प्रकार कुल १० भेद) से विरुद्ध-सा प्रतीत होता है। जैसे—

(१) वेदना में भी है उल्लास।
अश्रु में प्रतिबिम्बित है हास॥
पूर्ति का है अभाव आभास।
चिरंतन है ध्रुव विश्व विकास॥

यहाँ पहले विरोध-सा मालूम होता है, पर विकास-क्रम के चक्र से उसका समाधान हो जाता है।

(२) ज्यों-ज्यों पावक लपट-सी तिय हिय सों लपटाति,
त्यों-त्यों छुही गुलाब सैं छतियाँ अति सियराति॥

विलास (१)—'जगौ विलास,' प्रत्येक पाद में—एक जगण और दो गुरु (।ऽ।ऽऽ) वाला सुप्रतिष्ठा जाति का समवृत्त छन्द। इसे यशोदा भी कहते हैं।

विलास (२)—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

विलास (३)—**यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।**

विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना।

—साहित्यदर्पण

इष्ट वस्तु के देखने आदि पर नायिका द्वारा दिखाई गई गति, स्थिति, आसन या नेत्र और मुख के व्यापारों की विशेषता। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)।

विलास (४)—**धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः।**

—साहित्यदर्पण

धीर, स्थिर दृष्टि, विचित्र चाल और सस्मित वचन—इन सबको पैदा करने-

वाला आन्तरिक गुण। यह नायक के सात्विक गुणों में गिना जाता है।। (दे० सात्विक गुण)।

विलास (५)—भा न य भ कृत विलासा सोहत। मगण, नगण, यगण और भगण से बनने वाला जगती जाति का समवृत्त छन्द।

विलासिका—**शृंगारबहुलैकांका दशलास्यांगसंयुता।**
विदूषकविटाभ्यांच पीठमर्देन भूषिता।
हीना गर्भविमर्शाभ्यां संधिभ्यां हीननायका।
स्वल्पवृत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका।

—साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों मे से एक भेद। यह शृंगार बहुला, एकांकी, दसों लास्यागों वाली विदूषक, विट और पीठमर्दयुक्त, गर्भ विमर्श संधि-रहित, नीच नायक वाली, छोटी कहानी वाली और सुन्दर वेषभूषा वाली होती है।

विलोभन—मुख नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

विवक्षितान्यपर वाच्य—वाच्य अर्थ का अन्य पर (व्यंग का सहायक) बन जाना। इसके दो भेद हैं, अलक्ष्यक्रम व्यंग्य और लक्ष्यक्रम व्यंग्य (दे० यथा०) कोई-कोई आचार्य इसे अभिधामूला नाम से भी पुकारते हैं। (दे० शब्द-शक्ति, अभिधा)।

विवर्णता—**विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता।** —साहित्यदर्पण

विषाद, मद और क्रोध आदि के कारण चेहरे और शरीर में हुआ रंग का विकार। इसे वैवर्ण्य भी कहते हैं। यह एक सात्विक भाव है।

विबुध प्रिया—चंचरी नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० चंचरी।

विवृतोक्ति—एक अर्थालंकार जिसमें गुप्तार्थ व्यंग्य द्वारा कहकर फिर प्रकट कर दिया जाता है। जैसे—

कहुँ गरजौ बरसौ कहूँ, कहुँ दरसौ घनस्याम।
कहुँ तरसावत ही रहौं, कहति जनाए वाम॥

पहले का व्यंग्य अर्थ चौथे चरण में स्पष्ट कर दिया गया है।

विव्वोक—**विव्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः।** —साहित्यदर्पण

अत्यन्त गर्व के कारण इष्ट वस्तु में भी अनादर दिखाने का भाव। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)।

विशेष—**यदाधेयमनाधारमेकं चानेक गोचरम्।**
किंचित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा।
कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्तया। —साहित्यदपण

एक अर्थालंकार, जो बिना आधार के ही आधेय के बने रहने, एक वस्तु अनेकों में रहने और कार्य करते-करते अशक्य की सिद्धि हो जाने से तीन प्रकार का होता है। क्रमशः उदाहरण—

(१) **चलौ लाल वाकी दसा लखौ कही नहिं जाय।**
हियरै है सुधि रावरी, हियरौ गयौ हिराय॥ —मतिराम

(२) **घर में बगर में, डगर में, नगर में री।**
जहाँ देखौं तहाँ पेखौं प्यारो नँद नंद मैं॥ —दूलह

(३) **पाय चुके फल चारिहू, करत गंग जल मान।** —पद्माकर

विशेषक (१)—एक अर्थालंकार, जिसमें किसी कारणवश सामान्य (दे० यथा०) में भेद खुल जाए। जैसे—

भूषन भनत एते मान घमसान भयो,
जान्यो न परत कौन आयो कौन दल ते?
सम बेख ताके तहाँ सरजा सिवा के बांके,
वीर जाने हांके देत मीर जाने चलते॥

विशेषक (२)—तीन पद्यों में एक वाक्य की पूर्ति या एक विषय का शृंखलित वर्णन होने पर यह समुदाय विशेषक कहा जाता है। इसे संदानितक भी कहते है।

विशेषण—नाटक में रस-पोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

विशेषणवक्रता—भाषा का आधे से अधिक सौन्दर्य विशेषणों के निर्वाचन पर निर्भर होता है, और इसी कारण विशेषणवक्रता का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। छोटे से विशेषण में बहुत बड़े वाक्य में कहे जाने योग्य बात भी कही जा सकती है। संस्कृत-काव्यों में इस ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। उचित विशेषण का निर्वाचन सच्चे लेखक की कला की कसौटी है। विशेषणौचित्य की विवेचना अन्यत्र देखिए। अरस्तू से लेकर क्षेमेन्द्र तक विशेषणों का उचित निर्वाचन एक विचारणीय विषय रहा है। वक्रोक्तिजीवितकार उनके चमत्कारपूर्ण चयन को विशेषणवक्रता के नाम से पुकारते हैं।

विशेषण-विपर्यय—किसी विशेष्य से स्वभावतः सम्बन्धित विशेषण को किसी दूसरे विशेष्य के साथ जोड़ना। जैसे, 'आह यह मेरा गीला-गान' में गीला विशेषण गले का है। पर यह गान के साथ जोड़ा गया है। यह अंग्रेजी का एक काव्यालंकार है, जो अब हिन्दी में भी खूब चल गया है।

विशेषणौचित्य—विशेषणों के प्रयोग में भी विशेष सावधानी अपेक्षित होती है। प्रसंग तथा प्रस्तुत विषय की ही पुष्टि करने वाले विशेषणों का प्रयोग औचित्य-

पूर्ण होता है। प्रशंसा के स्थान पर प्रशंसा तथा अप्रशंसा के स्थान पर अप्रशंसा के द्योतक विशेषण ही प्रयुक्त होने चाहिएँ। अरस्तू ने विशेषणौचित्य पर विशेष बल दिया है। क्षेमेन्द्र ने भी उसकी आवश्यकता को बताते हुए उसे विशेषणौचित्य संज्ञा दी है।

विशेषोक्ति—**सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।**

—साहित्यदर्पण

एक विरोधमूलक अर्थालंकार, जिसमें हेतु होने पर भी फलाभाव बताया जाता है। जैसे—

दोष न नैननि को कछु उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहें, तऊ न प्यास बुझाय॥ —बिहारी

यहाँ जल रहने पर भी प्यास न बुझने से विशेषोक्ति है।

विषम—**गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।**
यदारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः।
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्। —साहित्यदर्पण

एक विरोधमूलक अर्थालंकार, जो गुण या क्रिया के हेतु और कार्य से भिन्न होने, आरब्ध काम की विफलता और अनिष्ट की उत्पत्ति होने और विरूप पदार्थों के मिलने पर होता है। क्रमशः उदाहरण—

(१) **लो निकल पड़ी काली रजनी सन्ध्या की सुन्दर लाली से।**

—गोपालशरणसिंह

(२) **रत्नाकर पूजन चले, रत्न खानि अनुमानि।**
धन न मिल्यो मुख में भरो खारो पानी आनि॥

(३) **कहँ कुंभज कहँ सिन्धु अपारा।**
सोखेहु सुजस सकल संसारा॥

विषम मात्रा छन्द—चारों पादों में एक-सी समानता रखने वाले मात्राछन्द।

विषमवृत्त—चारों पादों में कोई समानता न रखने वाले वर्णिक छन्द।

विषयान्तर—किसी प्रस्तुत बात को छोड़ सहसा उससे असम्बद्ध दूसरी बात करने लगना।

विषयौचित्य—विषयौचित्य के निर्वाह के लिए अनुरूप शैली का प्रयोग वांछित है, उदात्त विषय पर रचना-शैली निम्न कोटि की न हो, और न साधारण विषय पर उच्च कोटि की। महत्त्वहीन शब्दों को नाना विशेषणों से न लादना चाहिए। अरस्तू के मत से प्रत्येक लेखक अथवा वक्ता को इस विषयौचित्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने भी बतलाया है कि विषयौचित्य के निर्वाह से ही लेख अथवा

भाषण उपहासास्पद बनने से बच सकता है।

विषाद्—उपायाभावजन्मा तु विषादःसत्वसंक्षयः।

निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत्। —साहित्यदर्पण

उपाय आदि न रहने पर पुरुषार्थहीनता। इसमें निःश्वास, उच्छ्वास, मनस्ताप, सहाय का खोजना आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

का सुनाइ विधि काह सुनावा।

विषादन—एक अर्थालंकार, जिसमें इच्छित के विरुद्ध बिना यत्न कुछ सहसा हो जाए। कुछ आचार्य इसे विषभ में समेटते हैं। जैसे—

कह कवि दूलह संकेत ठहरावों जौ लौं।

तौ लौं खसि परी कुंज कालिन्दी के तीर की।' —दूलह

विष्कम्भक—नाटक में संसूच्य कार्य की सूचना देने के साधनभूत अर्थोपक्षेपकों का एक भेद। विशेष दे० अर्थोपक्षेपक।

विष्णुपद—सोलह दस यति अन्त गुरू जब, तब यह विष्णुपदा। १६, १० पर यति वाली २६ मात्राओं और अन्त में गुरु होने से बनने वाला महा भागवत जाति का सम-मात्रा-छन्द।

विसर्प—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होनेवाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक। विशेष दे० नाट्यालंकार।

विस्मय (१)—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

विस्मय (२)—विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिसु।

विस्फारंचेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः। —साहित्यदर्पण

किसी अलौकिक और अनोखी बात को देखकर होने वाला चित्त का विस्तार। यह अद्भुत रस का स्थायी भाव है।

विस्मृति—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

विहसित—हास्य का एक भेद। विशेष दे० हास्य।

विहृत—वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विहृतं मतम्। —साहित्यदर्पण

लज्जा के कारण नायिका द्वारा कहने के समय भी बात न कहना। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालकार)।

वीथी—वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते।

आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः।

सूत्रयेद्भूरिश्रृंगारं किंचिदन्यान्रसान्प्रति।

मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः। —साहित्यदर्पण

रूपक के दस भेदों में एक भेद। यह एकांकी है। एक कल्पित नायक होता है। आकाशभाषित (दे० यथा०) के सहारे विचित्र उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा विशेषतः शृंगार को तथा साधारणतः और रसों को भी सूचित किया जाता है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं और पाँचों अर्थ प्रकृतियाँ। वीथी (दुकान) में नाना रसों की भाँति यहाँ नाना रसों के स्थित रहने से इसे वीथी कहते हैं।

इसके तेरह अंग होते हैं, जो वीथ्यंग कहे जाते हैं। पहला उद्घात्यक (दे० यथा०) और दूसरा अवगलित (दे० यथा०) है। तीसरा परस्पर हास्यकारी असद्वाक्य 'प्रपंच' है। चौथा सुनने में शब्दों की समानता के कारण अनेक अर्थों की कल्पना 'त्रिगत' है। पाँचवाँ प्रिय सदृश अप्रिय वातों से किसी को छलना 'छल' है। दूसरे विद्वान् किसी के किसी कार्य को लक्ष्य करके वंचन, हास्य या रोष भरे वचन बोलना छल कहते हैं। जहाँ दो-तीन उक्ति-प्रत्युक्तियों से हास्य प्रकट हो, वह 'वाक्केलि' है। कुछ लोग शुरू किये गये वाक्य का सांकाक्ष समाप्त होना या कुछ लोग अनेक प्रश्नों का उत्तर वाक्केलि बताते हैं। स्पर्धा के कारण एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर बात कहना 'अधिबल' है। जल्दी से प्रकृत से भिन्न अर्थ से सम्बन्धित कुछ बात कह जाना 'गंड' है। स्वाभाविक उक्ति की अन्यथा व्याख्या 'अवस्यंदित' है। हास्ययुक्त प्रहेलिका को 'नालिका' कहते हैं। असम्बद्ध बात कहना या उत्तर देना या न समझने वाले मूर्ख के सामने हित की बात कहना 'असत्प्रलाप' है। दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए हास्य या क्षोभकारी वचन 'व्याहार' है। जहाँ दोष गुण बन जाए और गुण दोष बन जाए, वहाँ 'मृदव' होता है।

ये तेरह वीथ्यंग (जिनमें से पहले दो तो प्रस्तावना के ही भेद हैं।) सभी नाटकादि रूपक भेदों में होते हैं। पर वीथी में इनका होना अनिवार्य रूप में आवश्यक है, इसी से उनको यहाँ गिना गया है।

वीथ्यंग—वीथी नामक रूपक के तेरह अंगों का सामूहिक नाम। विशेष दे० वीथी।

वीप्सा—एक शब्दालंकार जहां प्रभाव सृष्टि के लिए शब्द दुहराए जायँ, जैसे—

> **फैलि-फैलि फूलि-फूलि, फलि-फलि हूलि-हूलि**
>
> **झपकि-झपकि आई कुंजै चहुं कौंद ते। —देव**

वीभत्स—जुगुप्सास्थायिभावस्तु वीभत्सः इच्छतेरसः

> **नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः।**
>
> **दुर्गन्धमाँसरुधिरमेदांस्यालंबनं मतम्।**
>
> **तथैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम्।**

निष्ठीवनास्यवलननेत्रसंकोचनादयः
अनुभावास्तत्र मतास्तथास्युर्व्यभिचारिणः
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः ।

—साहित्यदर्पण

जुगुप्सा स्थायी भाव, नील वर्ण और महाकाल देवता रस। आलम्बन–दुर्गन्ध वाला मांस, खून, चरबी आदि; उद्दीपन—उनमें कीड़े आदि पड़ जाना; अनुभव—थूकना, मुख फेर लेना, आँखें मींचना आदि; संचारी भाव—मोह, अपस्मृति, आवेग, व्याधि, मरण आदि। उदाहरण—

फाड़ि नखन शव आंतड़िनि, रुधिर मवाद निकारि ।
लेपति अपने मुखन पै हरसि प्रेतगन नारि ॥

—हिन्दी रसगंगाधर

यहां मुर्दे आलम्बन, आंतड़ी चीड़ना उद्दीपन, मींचना, नाक सिकोड़ना अनुभाव, आवेग आदि संचारी और जुगुप्सा स्थायी भाव हैं।

वीर (१)—सोलह पन्द्रह अंते ग ल रचि, भाषौ वीर छंद अभिराम, १६-१५ पर यति वाली ३१ मात्राओं और अन्त में गुरु-लघु से बनने वाला अश्वावतारी जाति का सम-मात्रा छन्द। इसे मात्रिक सवैया और आल्हा छन्द भी कहते हैं। (जैसे—खट खट खट तेगा बाजै, बाजै छनक छपक तलवार)। जगनिक आल्ह खण्ड इसी छन्द में है।

वीर (२)—**उत्तमप्रकृतिवीर उत्साहस्थायिभावकः**
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः
आलंबनविभावस्तु विजेतव्यादयो मताः
विजेतव्यादिचेष्टामास्तस्योद्दीपनरूपिणः
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ।
संचारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमांचा ।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ।

—साहित्यदर्पण

उत्तम पात्र में आश्रित और उत्साह स्थायी भाव, हेम वर्ण और महेन्द्र देवता वाला रस। आलम्बन—शत्रु आदि विजेतव्य; उद्दीपन—विजेतव्य की चेष्टाएँ मारू बाजा आदि; अनुभाव—युद्ध के सहायकों (धनुष-बाण आदि अस्त्र का सेना) को ढूँढना, शत्रु को तुच्छ समझना, अंगों का फड़कना आदि; संचारी भाव— धृति, मति गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांच, असूया और उग्रता आदि। यह चार प्रकार का है— दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर।

(१) दानवीर—दानसम्बन्धी उत्साह स्थायी भाव के व्यंजित होने पर होता है। आलम्बन—दान के समय (पर्व) आदि का ज्ञान, याचक, तीर्थयात्रा आदि, उद्दीपन-दान-महिमा का सुनना, याचक की आदि, अनुभाव—धन को तृणवत् समझना आदि, सर्वस्व त्याग, संचारी हर्ष, धृति, लज्जा आदि।
उदाहरण—

जेहि पाली इक्ष्वाकु सों, अब लौं रघुकुल लाज।
ताहि देत हरिचंद्र नृप विश्वामित्रहिं आज॥

—सत्य हरिश्चन्द्र

यहां याचक विश्वामित्र आलंबन दान-महिमा उद्दीपन, संपत्ति-राजपाट तुच्छ समझना अनुभाव और दान का उत्साह स्थायी भाव है।

(२) धर्मवीर—धर्मसम्बन्धी उत्साह स्थायीभाव व्यंजित होने पर होता है।

आलम्बन—वेदस्मृति अध्यन, उद्दीपन—धर्मग्रन्थों का सुनना, अनुभाव—वेदविहित अनुष्ठान और संचारी भाव-क्षमा, दया आदि।

उदाहरण—

धारि जटा मलकत मरत, गन्यो न दुख तजि राज,
भै पूजत प्रभुपादुकन, परम धरम के काज।

—अलंकार कौमुदी

उपर्युक्त लक्षण इस दोहे में स्पष्ट घट जाता है।

(३) युद्धवीर—युद्ध सम्बन्धी उत्साह स्थायी भाव के व्यंजित होने पर होता है। आलम्बन—शत्रु; उद्दीपन—उसके अपमान वचन; अनुभाव—धनुष चढ़ाना, शरीर हुलसना आदि संचारी भाव—अमर्ष, गर्व आदि और युद्ध-विषय उत्साह स्थायी भाव होता है। उदाहरण—

धनुष चढ़ावत भे तबहिं, लखि रिपुकृत अपमान।
हुलसि गात रघुनाथ को, बखतर में न समान॥

(४) दयावीर—दया विषयक उत्साह स्थायी भाव से व्यंजित होने पर होता है। आलम्बन—दीन-दुखी; उद्दीपन—रोना, कराहना, दुर्दशा आदि; अनुभाव—दुख दूर करने की चेष्टा करना, दुखी के प्रति कोमल वचन बोलना आदि; संचारी भाव—धैर्य, चपलता आदि। उदाहरण—

सुनि सेवक दुख दीन दयाला।
फड़कि उठे दोउ भुजा बिसाला।
सुनु सुग्रीव हौ मारिहहुँ, बालिहिं एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागतहुँ, गयेउ न उबरहिं प्रान॥

यहां दुखी सुग्रीव आलम्बन, उसकी दुख-कथा उद्दीपन, प्रतिज्ञा आदि अनुभाव और गर्व, चपलता संचारी भाव है।

वीर-आख्यान--रासो ग्रंथों में वीरतापूर्ण कथाओं का वर्णन होने के कारण उन्हें वीर-आख्यान भी कहते हैं। विशेष दे० रासो।

वृत्तदोहद—दोहद शब्द का अर्थ गर्भवती की इच्छा है, पर शब्दार्णव विशेष द्रव्यों और क्रियाओं द्वारा वृक्षों में अकाल ही में कराये जाने वाले पुष्पोद्गम को दोहद नाम से पुकारता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कामदेव और यक्षाधिप वरुण को मूलतः एक ही देवता और प्रजनन और उर्वरता का प्रतीक ठहराते हैं। यक्ष-यक्षिणियां और गन्धर्व-अप्सराएँ भी मूलतः एक ही हैं और क्रमशः वृक्षों और जलाशयों से सम्बन्धित हैं। महाभारत की अनेक कथाएँ और भरहुत, बोध गया, सांची और मथुरा से प्राप्त मूर्त्तियां स्त्रियों का वृक्षों के अपदेवता यक्षों के निकट संतानेच्छा से जाना सिद्ध करती हैं। जैसे वृक्षदेवता स्त्रियों में दोहद संचार करते थे, उसी प्रकार यक्षिणियां स्त्रियां के अंग-स्पर्श से वृक्षों में भी दोहद संचार करती थीं। इसी बात को लेकर अनेक कवि प्रसिद्धियां (दे० यथा) चल पड़ीं, जैसे कि अशोक स्त्रियों के पदाघात और वकुल उनकी मुख-मदिरा से सिंचित होकर पुष्पित होता है। इसी प्रकार स्त्रियों के विचित्र अंगों या क्रियाओं से प्रियंगु, तिलक, कुरवक, मंदार, चंपक, आम, नमेरु और कर्णिकाट में भी दोहद संचार होने की कविप्रसिद्धियां हैं।

वृत्त (१)—वर्णिक छन्दों का सामान्य नाम। विशेष दे० वर्णिक छन्द।

वृत्त (२)—वृत्तिका नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० वृत्तिका।

वृत्तगंधि—संस्कृत शास्त्रकारों द्वारा किया गया गद्य का एक भेद। विशेष दे० गद्य।

वृत्तजाति—एक अक्षर से २६ अक्षरों तक के वर्णिक छन्दों की जातियों के नाम बताकर उनके भेद बताये गये हैं। इससे अधिक अक्षरों वाले छन्द दंडक छन्द कहे जाते हैं। इनका विवरण निम्न है—

पाद की वर्ण संख्या	जाति	भेद
१	उक्ता	२
२	अत्युक्ता	४
३	मध्या	८
४	प्रतिष्ठा	१६
५	सुप्रतिष्ठा	३२
६	गायत्री	६४

७	उष्णिक्	१२८
८	अनुष्टुप्	२५६
९	बृहती	५१२
१०	पंक्ति	१०२४
११	त्रिष्टुप	२०४८
१२	जगती	४०९६
१३	अतिजगती	८१९२
१४	शक्करी	१६३८४
१५	अतिशक्करी	३२७६८
१६	अष्टि	६५५३६
१७	अत्यष्टि	१३१०७२
१८	धृति	२६२१४४
१९	अतिधृति	५२४२८८
२०	कृति	१०४८५७६
२१	प्रकृति	२०९७१५२
२२	आकृति	४१९४३०४
२३	विकृति	८३८८६०८
२४	संकृति	१६७७७२१६
२५	अतिकृति	३३५५४४३२
२६	उत्कृति	६७१०८८६४

यह प्रत्येक जाति के सम्भव भेदों की संख्या है, यद्यपि सब का उपयोग नहीं होता। इनका स्वरूप प्रस्तार (दे० यथा०) की सहायता से जाना जाता है।

वृत्ति—अभिनवगुप्त के मत से काव्य या नाटक के पात्रों की काय, मन तथा वाक् से संवलित चेष्टा वृत्ति है। भरत ने उनको काव्य-माता (नाट्यशास्त्र २०।४) माना है। कल्लिनाथ वृत्ति को पुरुष के वांछित अर्थ की साधिका या उपकारिका वाक मन या काय की चेष्टा बताते हैं। आनन्दवर्धन ने व्यापार को ही वृत्ति माना है।

वृत्तियों के उदय के सम्बन्ध में बड़ी ही अतिरंजित कथाएँ सुनने को मिलती हैं। मधुकैटभ के साथ भयंकर युद्ध करते समय विष्णु ने जो-जो चेष्टाएँ दिखाईं उनसे ही वृत्तियों का उदय हुआ। उदाहरणतः पृथ्वी को पद-भार से दबाने से भारती, उनकी वीररसोचित चेष्टाओं से सात्वती, लीलामय शिखाबन्धन से कैशिकी तथा सावेग पदचार् से आरभटी का। इस विचित्र कथा के साथ-साथ भरत ने भारती का उद्गम ऋग्वेद से, सात्वती का यजुर्वेद से, कैशिकी का सामवेद से तथा आरभटी का अथर्व-

वेद से बताया है। शारदातनय ने पहले तो भारती का उदय भरत से बताते हुए भरत की कथा का ही शेष वृत्तियों के लिए समर्थन किया है किन्तु उन्होंने शिवपार्वती नृत्य को देखने वाले ब्रह्मा के चारों मुखों से वृत्तियों के उदय वाली एक दूसरी परम्परा का भी उल्लेख किया है।

भारतीय अलंकार शास्त्र में हमें 'वृत्ति' नामक अनेक प्रकार के काव्यतत्व दिखाई देते हैं। भिन्न-भिन्न समयों में आलोचकों द्वारा वृत्तिविषयक अनेक काव्य-सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं। अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शब्द शक्तियों के लिए भी शब्दवृत्ति शब्द का प्रयोग किया गया था। वस्तुतः कैशकी, भारती, सात्वती और आरभटी ये चार वृत्तियां सब से पहले भरत द्वारा नाटक के प्रसंग में निरूपित की गई हैं। नाटक की देखादेखी कुछ लोग इनको उपयोगी समझ काव्य में भी घसीट लाए तथा काव्य के नायक के लिए भी नाटक के नायक की भाति इन चेष्टाओं का विभाजन उपयोगी समझा गया। अलंकारवादियों को इतने से ही संतोष नहीं हुआ, उन्होंने अनुप्रास के रसानुकूल शब्दचयन को भी वृत्ति नाम की संज्ञा दी। फलतः परुषा, उपनागरिका और कोमला ये तीन अनुप्रास जातियाँ भी वृत्ति कही जाने लगीं। भामह ने तो इसका संकेत ही किया था, किन्तु उनके टीकाकार उद्भट ने प्रथम बार उन पर उचित प्रकाश डाला। परवर्ती आलंकारिकों ने भी वृत्ति का निरूपण किया। अनुप्रास जाति को तो अनुप्रास वृत्ति की संज्ञा दी ही गई, समास जाति को भी कुछ लोग समास वृत्ति नाम से पुकारने लगे, जिसमें समासयुक्त पदों के प्रकार का निरूपण होता था। पीछे से अनुप्रास वृत्तियों तथा समास वृत्तियों का प्रयोग तो उठ गया पर मम्मट के समय तक वृत्तिया अपनी सत्ता रीतियों में पृथक् बनाए रहीं। मम्मट ने वृत्तियों का प्रचलित रीतियों के साथ समीकरण किया, तदनन्तर वृत्तियों का पृथक् वर्णन अलकार ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। पंडितराज जगन्नाथ तो वैदर्भी रीति को ही वैदर्भी वृत्ति के नाम से पुकारते पाए जाते हैं।

राजेशेखर ने रीति, वृत्ति और प्रवृति की सूत्र परिभाषाएँ देकर उनका सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट कर दिया है, तथा कम से कम रीति और वृत्ति के मम्मट द्वारा किए गए समीकरण से उत्पन्न होने वाले झगड़े का उनके द्वारा बहुत कुछ परिहार कर दिया गया है। राजशेखर के शब्दों में वेष के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति, विलास के विन्यास का प्रकार वृत्ति तथा वचन के विन्यास का प्रकार रीति है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनय के प्रकार को वृत्ति तथा शब्द-प्रयोग के प्रकार को रीति कहना इन आचार्यों को अभीष्ट था। कुछ लोगों के मत से कैशिकी आदि वृत्तियां काव्य में रसानुगुण अर्थसंदर्भ रूप हैं तथा वैदर्भी आदि रीतियां रसानु गुण शब्द संदर्भ रूप। यद्यपि नाटक में भारती वृत्ति शब्दगुण प्रधान मानी गई है, काव्य में वह भी अर्थप्रधान ही

हो जाती है। कैशिकी का वैदर्भी तथा आरभटी का गौड़ी से सामंजस्य भी स्थापित कर दिया गया है।

अभिनेता की चेष्टाओं के नये प्रकार पर ही वृत्तियों का विभाजन किया गया है। भारती (सरस्वती) वाक्चेष्टा वाली वृत्ति उचित ही है। सात्विक तथा आंगिक अभिनय के प्रकार से ये चेष्टाएँ दो प्रकार की हो जाती हैं। अभिनेता के हृद्गत सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति सात्वती वृत्ति करती है, यह मनश्चेष्टा वाली वृत्ति है। अवस्था की उग्रता तथा कोमलता के कारण कायिक चेष्टाएँ दो प्रकार की हो जाती हैं। उग्र कायिक व्यापार वाली वृत्ति आरभटी तथा सुकुमार कायिक व्यापार वाली वृत्ति कैशिकी होती है। इस प्रकार वृत्तियों का वाक्, मन तथा काय की चेष्टाओं के आधार पर विभाजन किया गया है।

जैसे कवि के स्वभाव के ऊपर आश्रित होने के कारण रीतियां अनन्त हैं, तथा देश की वेशभूषा तथा सज्जा का आश्रय लेने वाली प्रवृत्तिया भी अनन्त हैं, उसी प्रकार वृत्तियों की भी ठीक-ठीक गणना में पण्डितों का एक मत नहीं है। अभिनवगुप्त ने संख्या के आधार पर दो वृत्तियों,तीन वृत्तियों,चार वृत्तियों तथा पांच वृत्तियों को मानने वाले चार सम्प्रदाय बताए हैं, तथा भरत सम्मत चार वृत्तियों का प्रतिपादन किया है। दो वृत्तियों के मानने वाले सम्प्रदाय का विशेष विवरण नहीं मिलता। वृत्तियों के प्रतिपादक आचार्य उद्भट हैं। वे चेष्टामूलक दो वृत्तियों के सीताविषयक राम की रति को न्याय वृत्ति तथा सीता में रावण की प्रीति को अन्याय वृत्ति के साथ-साथ चेष्टाओं के विराम में फलवृत्ति, फलसंवित्ति नामक तीसरी वृत्ति मानते हैं, जिसकी कड़ी आलोचना लोल्लट ने की है। शकलीगर्भ नामक एक नए आचार्य आत्मसंवित्ति नामक पांचवीं वृत्ति और मानते हैं। उद्भट के अनुयायी अर्थवृत्ति नामक पांचवीं वृत्ति मानते हैं। किन्तु अधिकांश आचार्य कैशिकी, सात्वती, भारती और आरभटी इस भरत सम्मत वृत्ति चतुष्टय को ही मानने वाले हैं और नाट्यवृत्ति के वे ही प्रमुख भेद माने गये हैं। अनुप्रास वृत्ति के तीन (परुषा, उपनागरिका और कोमला) भेदों का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

वृत्तिका—वृत्तिका र जा र जा र जा ग ला बने कवीन्द्र कमनीय। रगण, जगण, रगण, जगण, रगण, जगण, गुरु और लघु से बनने वाला कृति जाति का समवृत्त छन्द। इसे रत्वका, दंडिका, गंडका और वृत्त भी कहते हैं।

वृत्तिवक्रता—वृत्ति शब्द का प्रयोग वैयाकरणों ने समास, तद्धित तथा सुबन्त आदि के लिए किया है। वक्रोक्तिजीवितकार के मत से जहा अव्ययीभाव आदि मुख्य वृत्तियों की रमणीयता उल्लसित होती है; वहां वृत्ति के चमत्कार की वक्रता होती है। तात्पर्य यह है कि समासों तथा तद्धित आदि प्रत्ययों के (तद्धित का प्रत्यय-

वक्रता में परिगणन न करना विचित्र है) योग द्वारा चमत्कार की सृष्टि हो वहां वृत्तिवक्रता होती है।

वृत्तौचित्य—कविता मे प्रत्येक छन्द का अपना एक सन्देश होता है, अपनी एक गति होती है, तथा अपना एक जीवन होता है। कोई छन्द भावनाओं की विह्वलता तथा शीघ्रता का द्योतन अधिक सफलता के साथ करता है तो कोई उनकी मंथरता, अलसता तथा गतिहीनता का। संस्कृत के कवि छन्द निर्वाचन का पर्याप्त ध्यान रखते थे। कालिदास ने अपने करुण काव्य मेघदूत में मन्दाक्रांता का विनिवेश अकारण न किया था, उसके विन्यास में ही एक विरही हृदय की सिसक विद्यमान है। क्षेमेंद्र ने मंदाक्रांता को वर्षा तथा विरह-वर्णन में बेजोड़ बताते हुए कालिदास की प्रशंसा की है। भवभूति की शिखरिणी भी उचित होने के कारण अधिक मनोरम हो सकी है। हिन्दी में भी तुलसी ने समयोचित छन्दों का विन्यास किया है। वीरगाथा काल के छप्पय तथा अमृतध्वनियां, भक्तिकाल के गीत तथा रीतिकाल के सवैये, कवित्त और दोहे भी इसी वृत्तौचित्य की घोषणा करते हैं। अतएव विषय तथा परिस्थिति की दृष्टि से उचित छन्दों का निर्वाचन तथा छन्द-औचित्य का निर्वाह नितांत आवश्यक है। हौरेस तथा पोप आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी वृत्तौचित्य पर बल दिया है।

वृत्यौचित्य—कैशिकी, सात्वती, भारती तथा आरभटी वृत्तियों का यथोचित विधान वृत्यौचित्य कहलाता है। शब्दार्थ प्रयोग का चरम लक्ष्य रस का उन्मेष है। तथा रस से अनुचित शब्द कभी ग्राह्य तथा चमत्कारजनक नहीं होते। युद्धप्रिय मायावी और उग्र नायक के कथोपकथन में यदि कोमल भावों का विधान करने वाली कैशकी वृत्ति का प्रयोग हो, तो नाटक में वृत्यौचित्य भंग हो जाएगा। इसी प्रकार अन्य वृत्तियों के प्रयोग में भी पात्र विशेष की प्रवृत्ति के अनुसार ही शब्दों का विधान करते हुए त्ति-विधान करना चाहिए।

उपनागरिका त्ति आदि अनुप्रास जातियों के औचित्य को कुन्तक ने वर्ण-व ता के नाम से अभिहित किया है। उनके अनुसार काव्य के अक्षर संदर्भानुरूप होने चाहिएँ, क्योंकि प्रकरण के अनुसार एक ही वृत्ति रसपोषक अथवा रसदोषक बन जाती है। वे यमक आदि शब्दालंकारों का अन्तर्भाव भी वर्ण-वक्रता में करते हैं।

वेगवती—स स सा ग अयुग्म सुहाये, भा त्रि ग गा सम वेगवती है, प्रथम तृतीय चरणों में तीन सगणों और गुरु तथा द्वितीय-चतुर्थ चरणों में तीन भगणों और दो गुरु से बनने वाला अर्द्धसम वृत्त छन्द।

वेपथु—**रागद्वेषश्रमादिभ्य कंपो गात्रस्य वेपथुः।** —साहित्यदर्पण

प्रेम, द्वेष या परिश्रम से उत्पन्न शरीर की कँपकँपी। विशेष दे० कंप, सात्विक भाव।

वेषकृत—नाटक में पात्रों की वेषभूषा सजाने वाला।

वैदर्भी—माधुर्यव्यंजकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते। —साहित्यदर्पण

माधुर्य गुण (दे० यथा०) व्यंजक वर्णों द्वारा रची गई समासरहित या छोटे-छोटे समासों वाली मनोहर रचना-शैली या रीति (दे० यथा०)। रुद्रट के मत से वैदर्भी रीति में चवर्ग की बहुलता होती है और अल्पप्राण अक्षर बहुत रहते हैं। उनके तथा दंडी के मत से इसमें श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि नामक दस गुण (दे० यथा०) प्राणभूत रहते हैं। कभी यह विदर्भदेशवासी पंडितों की शैली रही होगी। वैसे यह सर्वश्रेष्ठ रीति मानी गई है। (विशेष दे० रीति, गुण, शैली)।

वैदिक—४ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

वैराग्य—निस्पृहता की अवस्था में अन्तःकरण (आत्मा) के विश्राम (बहिर्मुखता छोड़ अन्तर्मुख हो जाने) से उत्पन्न सुख। इसे 'शम' भी कहते हैं। यह शान्त रस का स्थायी भाव है।

वैवर्ण्य—रंग बदल जाना। इस सात्विक भाव को विवर्णता भी कहते हैं। विशेष दे० विवर्णता, सात्विक भाव।

वैशारद्य—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

व्यंग—काकु द्वारा विपरीत अर्थ का बोध, या प्रयुक्त शब्द के विरुद्ध अर्थ को स्पष्ट करना। शाब्दिक व्यंग में एक बात कहकर दूसरी (प्रायः विपरीत) बात अभिप्रेत रहती है। किसी दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण को उसकी हँसी उड़ाने के लिए अपना लेना भी व्यंग ही है। यह सोलुण्ठन या सोत्प्रास उक्ति बहुत कुछ व्याज स्तुति (दे० यथा०) के प्रकार की होती है, या वक्रोक्ति (दे० यथा०) अलंकार की भाँति। और दे० नाटकीय व्यंग, वक्रोक्ति।

व्यंग-काव्य—किसी कविता की नकल करते हुए या सामान्यतः किसी का परिहास उड़ाने के लिए बनाई गई कविता का सामूहिक नाम। विशेष दे० नकल।

व्यंग्य-गीति—वह संगीतमय काव्य, जिसमें मानवीय दुर्बलताओं का परिहास उड़ाया जाए। यद्यपि इस परिहास का लक्ष्य सुधार होता है, पर उपदेशात्मकता व्यंग्य-गीति का लक्ष्य नहीं है। इसमें साधारण अवहेलनामय मनोरंजन से लेकर कुछ गम्भीर आक्रमण तक होता है। ड्राइडिन के मत से व्यंग्य-गीतिकार को न केवल यह जानना

चाहिए कि वह कब और कहाँ प्रहार करे, बल्कि साथ ही उसे यह भी जानना चाहिए कि कब कितनी गहरी चोट की जाए। किसी को मूढ या गधा कह देना तो आसान है, पर ये शब्द बिना कहे उसे वैसा बना देना कठिन है। ऊपरी औचित्य का निर्वाह व्यंग्य-गीति के चित्रण में आवश्यक है।

हिन्दी में हास्य के अभाव के साथ व्यंग्य-गीति का भी अभाव है। दयाराम के आम, या औरंगजेब की हथिनी कुछ अच्छे उत्पादन कहे जा सकते हैं। 'शंकर' का गर्भ-रंडा-रहस्य एक सुन्दर व्यंग्य-प्रबन्ध काव्य है। 'सनेही' आदि अन्म कवियों ने भी कुछ व्यंग्य-गीतियाँ लिखी हैं। हरिशंकर शर्मा के चिड़ियाघर में कुछ उत्कृष्ट व्यंग्य-गीतियां देखने में आती हैं। (दे० गीतिकाव्य)।

व्यंग्य-चित्र—कला या साहित्य में किसी चरित्र का अतिरंजित चित्रण। पात्र के किसी विशेष गुण या अंग पर विशेष प्रकाश डालने के लिए कलाकार उस अंग या गुण को बहुत बढ़ा-चढ़ा देता है। मुख के आकार आदि को किसी विशेष बात को उपहास के लिए बढ़ा-चढ़ा कर कहने में इस शब्द का सम्भवतः अधिक प्रयोग होता है। (दे० नकल)

व्यंग्योपमा—जहाँ व्यंग्य द्वारा उपमा सिद्ध की जाये—

अद्वितीय निज को समुझि ससि जनि हर्षित होय।
रे सठ भुवमंडल सकल कहा लियो तैं जोय॥ ——मुरारिदास

यहाँ व्यंग्य के सहारे चन्द्रमा के समान उपमान खोजा गया है।

व्यंजना—मुख्य और लक्ष्य-अर्थ से अर्थ न निकलने पर उससे भिन्न अर्थ की तीति कराने वाला शब्द व्यापार। 'पत्ता तक नहीं हिलता' में अभिप्रेत 'सन्नाटा' अर्थ अभिधा से नहीं निकलता, और अभिधेय अर्थ में बाधा न पड़ने के कारण लक्षणा भी प्रवृत्त नहीं हो सकती, इसलिए यहाँ अर्थ बोध के लिए एक तीसरी शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। 'वह लजा गया' इस अभिधा द्वारा प्रकट अर्थ में उतना चमत्कार नहीं, जितना 'उसने सिर नीचा कर लिया', इस कथन में है। यह विशेष चमत्कार ही काव्य में व्यंजना को विशेष आदर दिला देता है।

इसके दो भेद हैं—शाब्दी और आर्थी। विशेष शब्द में व्यंग्यार्थ रहे और उस शब्द के निकाल देने पर वह नष्ट हो जाए तो वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है। यह नानार्थक शब्दों के प्रयोग में ही सम्भव है। इनका अर्थ अभिधा (दे० यथा०) में गिनाये संयोग आदि बारह साधनों से एक अर्थ में निश्चित हो जाता है। इस एक अर्थ में निश्चित शब्द का मुख्यार्थ बताकर अभिधा के शान्त हो जाने पर मुख्यार्थ के बाधित होने से लक्षणा के काम न कर सकने पर इस तीसरी व्यंजना-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है।

जैसे—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

यहाँ 'वृषभानुजा', और हलधर के वृषभानु-पुत्री और बलराम अर्थ बता अभिधा शान्त हो गई और मुख्यार्थ में बाधा भी न पढ़ी, पर व्यंजना द्वारा गाय और बैल अर्थ निकलने पर गूढ़ परिहास की प्रतीति हुई। इन शब्दों के पर्याय रख देने पर व्यंग्यार्थ नहीं रहता, अतः यह शाब्दी है।

आर्थी व्यंजना के दो भेद हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला। यद्यपि साहित्यदर्पणकार शाब्दी के ही ये दो भेद बताते हैं, पर स्पष्ट ही अभिधेय और लक्ष्य अर्थ पर निर्भर रहने वाली व्यंजनाएँ आर्थी ही होंगी, शाब्दी नहीं। लक्षणामूला व्यंजना में सारोपा, साध्यवसाना, गौणी और शुद्धा आदि लक्षणाओं के भेद तो अलंकार बन जाते हैं, पर जहत्स्वार्था लक्षणामूला और अजहत्स्वार्था लक्षणामूला ये दो व्यंजनाएँ लक्षणा के सहारे बनती हैं, जिनको क्रमशः अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य (दे० यथा०) और अर्थान्तर संक्रमितवाच्य (दे० यथा०) भी कहते हैं। 'गंगा पर आश्रम है' में शीतलता-पवित्रता की और **'कह अंगद सलज्ज जग माहीं, रावण तोहि समान कोउ नाहीं'** में निर्लज्जता की पराकाष्ठा की व्यंजना जहत्स्वार्था-लक्षणामूला है और 'आम तो आम ही है' में सरसता-मधुरता की व्यंजना अजहत्स्वार्था लक्षणामूला है। अभिधा-मूला में वाच्यार्थ के बाद ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे जयद्रथवध में उत्तरा अभिमन्यु की मृत्यु पर कहती है—प्राणेश! तुमने सहचरी का जो पद मुझे दिया था वह तो ले लिया, पर जो अनुचरी का पद मुझे मिला है, उसे कोई नहीं ले सकता।' यहाँ मैं सती (अनुचरी) हो जाऊँगी—यह अर्थ व्यंग्य है। जो वाच्यार्थ के अनन्तर ही प्रतीत हो जाता है।

यह ध्यान रहना चाहिए कि आर्थी व्यंजना वक्ता-श्रोता, वर्ण्य-विषय, अन्य बातों के संनिधान, वाच्यार्थ, प्रकरण, देश, काल, काकु और चेष्टा आदि के सहारे व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराती है। शब्दों की वाचकता, लाक्षणिकता या व्यंजकता नियत नहीं हुआ करती। (दे० शब्द-शक्ति)।

व्यतिरेक—आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनतायवा व्यतिरेकः।—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें उपमान की अपेक्षा विरोध गुण होने के कारण उप-मेय का उससे आधिक्य या न्यूनता का वर्णन होता है। यह उपमेय की उत्कृष्टता और उपमान की अपकृष्टता दोनों का शब्द से वर्णन कर देने, केवल उत्कृष्टता का वर्णन करने, केवल अपकृष्टता का वर्णन करने और दोनों का ही वर्णन करने से चार प्रकार का होता है। इन चारों के शब्द, अर्थ या आक्षेप से होने पर बारह प्रकार का हो

जाता है। इसके भी श्लेष और अश्लेष दोनों में होने से चौबीस भेद हुए। इसी प्रकार उपमान से उपमेय की हीनता के वर्णन में भी चौबीस भेद होने से इसके कुल अड़तालीस भेद हो जाते हैं। दिङ्ग मात्र एक उदाहरण दिया जाता है—

सिय मुख सरद कमल सम किमि कहि जाय।
निसि मलीन यह निसि दिन वह बिगसाय।।

यहाँ सीता के मुख में कमल की अपेक्षा विशेषता बतायी गई है।

व्यभिचारी भाव—संचारी भाव का अन्य नाम। विशेष दे० संचारी भाव।

व्यवसाय—विमर्श नामक नाटक सन्धि का एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

व्यस्त रूपक—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

व्यस्त—नाटकीय रंगमंच का निर्माण की ष्टि से एक भेद। विशेष दे० गमंच।

व्याघात—**व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम्।**
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा।
सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि। —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें एक उपाय से किसी द्वारा सिद्ध की गई एक वस्तु उसी के द्वारा उसी उपाय से उसके विपरीत सिद्ध की जाती है। जैसे—'नेत्र द्वारा जलाये कामदेव को, जो नेत्रों से ही जिला देती हैं, शिव को भी जीतने वाली उन ललनाओं को प्रणाम है।'

(२) सुगमता से कार्य को पलट दिया जाना भी व्याघात ही होता है, जैसे—'कांते, तुम सुकुमारी हो, मार्ग का कष्ट न सह सकोगी। यहीं ठहरो।'

'तभी तो मैं भी कहती हूँ। बिना तुम्हारे मैं सुकुमारी वियोग-व्यथा कैसे सहूँगी?'

(३) जु पे सखी ब्रज गाँव में घर-घर चलत चबाव।
तो हरि-मुख लखि देत किन नैन चकोरन चाव।। —मतिराम

वही कारण जाने में समर्थित है।

(४) जा लखि लोचन पावही नित प्रति जोति नवीन।
ता मुख विहंसनि सो भटू चन्दहि करत मलीन।। —वैरीसाल

व्याजनिन्दा—व्याजस्तुति अर्थालंकार का ही वैपरीत्य से एक भेद। विशेष दे० व्याजस्तुति।

व्याजस्तुति—**उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः**
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः।—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें वाच्य निन्दा से स्तुति के व्यंग्य होती है और वाच्य-

स्तुति से निन्दा व्यंग्य होती है। क्रमशः उदाहरण—

(१) कहत कौन रण में तुम्हें, धीर वीर सरदार।
लखि रिपु बिनु हथियार जो डारि देत हथियार॥

—वियोगी हरि

यहाँ पहले निन्दा वाच्य है पर उससे व्यग्य-स्तुति प्रतीत होती है।

(२) तैं जयसिंहहि गढ़ दए सिव सरजा जस हेत।
लीनैं कैयक बार में, बार न लागी देत॥ —भूषण

यहाँ पहले स्तुति वाच्य है, पर उससे व्यंग्य निन्दा प्रतीत होती है। इसे व्याज-निन्दा भी कहते हैं।

व्याजोक्ति—व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः।

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो प्रकट हो गई किसी बात को बहाने से छिपाने पर होता है। जैसे—(१) विवाह में उमा का हाथ पकड़ने पर हुए कम्प को हिमालय के यहाँ की भारी सरदी के कारण बताते हुए और देवमाताओं द्वारा मुसकराते हुए देखे गए शिव आपकी रक्षा करें।

यहाँ सात्विक को बहाने से छिपाया गया है।

(२) सिवा-बैर औरंग वदन, लगी रहै नित आहि।
कवि भूषण बूझै सदा, कहै देत दुख साहि॥ —भूषण

व्याधि—व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्। —साहित्यदर्पण

वात, पित्त, और कफ से उत्पन्न ज्वर और उससे उत्पन्न मनस्ताप। इसमें धरती पर लौटने की इच्छा और कम्प आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

धर्म धुरन्धर धीर धरि, नयन उघारे राव।
सिर धुनि लीन्ह उसाँस अति, मारेसि मोहि कुदाँव।

व्यायोग—ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः।
एकांकश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः।
कैशिकीवृत्तिरहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः।
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।
हास्यशृंगारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः। —साहित्यदर्पण

रूपक के दस भेदों में एक भेद। इसमें कथा इतिहास प्रसिद्ध होती है। स्त्रियाँ थोड़ी होती हैं। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ (दे० यथा०) नहीं होतीं। पुरुष बहुत से

होते हैं। यह भी एकाकी है। युद्ध होता है, पर उसका कारण स्त्री नहीं होती। कैशिकी वृत्ति नहीं होती। नायक प्रसिद्ध राजर्षि या दिव्य पुरुष होता है, जो धीरोद्धत होता है। हास्य, शृंगार और शान्त रसों को छोड़ अन्य कोई रस यहाँ प्रधान होता है। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण 'सौगन्धिकाहरण' बताते हैं।

व्याहतत्व—पहले किसी वस्तु का उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाने के बाद फिर उसके विपरीत कथन से उत्पन्न अर्थ दोष (दे० यथा०)। जैसे 'उन युवकों को चाँदनी नहीं रुचती, जो चाँदनी जैसी सुन्दर इस युवती को देखते हैं,' यहाँ जिनको चांदनी अच्छी नहीं नहीं लगती, उनके ही लिए युवती में चांदनी का आरोप किया गया है।

व्याहार—वीथी नामक रूपक का एक अंग। विशेष दे० वीथी।

व्रीडा—लज्जा का ही अन्य नाम। विशेष दे० लज्जा संचारी भाव।

श

शंका—परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शंकानर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत । —साहित्यदर्पण

दूसरे की कठोरता या अपने दोष आदि से अपने अनिष्ट का सन्देह। इसमें विवर्णता, कम्प, स्वरभंग, इधर-उधर ताकना और मुँह सूखना आदि क्रियायें होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

मॉगहि हृदय महेस नाई,
कुसल मातु पितु परिजन भाई ॥

शकार—मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः—साहित्यदर्पण

मदांध, मूर्ख, अभिमानी, नीच कुलोत्पन्न, ऐश्वर्यशाली (संपत्तिवान्) और राजा की अविवाहिता-स्त्री का भाई, राजा का साला। (दे० अवरोधसहाय) इसे चेट के साथ अधम कोटि का सहायक माना गया है।

शक्ति (१) "शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेष":—काव्यप्रकाश। संस्कार से विद्यमान काव्यरचना की शक्ति। विशेष दे० कल्पना।

शक्ति (२) विमर्श नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

शक्ति (३) रचौ लघु आदि शक्ति अंता स र न, प्रथम अक्षर-लघु और अंत में सगण रगण या नगण के होने से बनने वाला १८ मात्राओं (पौराणिक जाति) का सम-मात्रा-छंद।

शक्करी—१४ वर्णों से बनने वाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

शठ—शठोऽयमेकत्र बद्धभावो।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति।—साहित्यदर्पण

जो नायक किसी अन्य नायिका में अनुरक्त हो किन्तु प्रकृत नायिका में बाह्य अनुराग दिखाए, यद्यपि गुप्त रूप से उसका अहित करे—वह शठ नायक कहलाता है। इस प्रकार के नायक सम्भवतः समाज के सर्वाधिक घृणापात्र थे।

शब्द-चित्र—शब्दों का चित्र-विचित्र चमत्कार। ये शब्द-चित्र अधम

काव्य में सहायक होते थे। आज इस शब्द का अर्थ बदल गया है और किसी दृश्य का शब्दों मे यथार्थ निरूपण उस दृश्य का शब्द-चित्र कहा जाने लगा है। विशेष दे० चित्र काव्य।

शब्दमाधुर्य—शब्दों के विशेष चयन द्वारा की गई माधुर्य'गुण की सृष्टि। विशेष दे० माधुर्य।

शब्द-व्यापार—शब्द-शक्ति का ही अन्य नाम। विशेष दे० शब्द-शक्ति।

शब्द-वृत्ति—शब्द-शक्ति का ही अन्य नाम। विशेष दे० शब्द-शक्ति।

शब्द-शक्ति—'शब्दात्मिका ज्योति यदि इस विश्व को आलोकित न करती, तो सारा संसार अंधकार में डूब जाता।' (काव्यादर्श १।३)। इस दुनिया को आलोकित करने वाले शब्द का अर्थ से नित्य का सम्बन्ध है। अपने स्फोट रूप में निरर्थक और यदृच्छा शब्द भी नित्य है। शब्द हमारे विचारों के वाहक हैं। वाक्यपदीयकार के मत से सारा ज्ञान शब्दों मे ही अनुस्यूत है। शब्दों का प्रयोग वाक्यों में होता है और वहीं वे अपना अर्थ प्रकट करते हैं। इसी कारण प्रसंगवश एक ही शब्द कई अर्थ बताता है और कभी-कभी एक ही वाक्य में एक शब्द के दो या अधिक अर्थ हो जाते हैं। तो अर्थ बोध कराने वाला अक्षर समूह शब्द है और शब्द सुनकर श्रोता को होने वाला ज्ञान उसका अर्थ है।

ये अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य जो क्रमशः अभिधा लक्षणा और व्यंजना (दे० यथा०) नाम की शब्द-शक्तियों के आधार पर समझे जाते हैं। शब्दों के अर्थों को प्रतीत कराने वाले व्यापार को ही शब्द-शक्ति कहते हैं। व्यापार, वृत्ति और शक्ति पर्यायवाची है। (और दे० तात्पर्य वृत्ति)

शब्दाडंबर—भारी-भारी शब्दों का अतिशय चुनाव। नए लेखकों में शब्दों के आकर्षक ताने-बाने को बुनने की ओर अधिक रुचि देखी जाती है। शब्दाडंबर बाहरी तड़क-भड़क दिखाने के ही लिए होता है और जब भाव में सजीवता नहीं होती, तब यह और भी अखरता है। साथ ही इससे प्रसाद गुण नष्ट हो जाता है।

शब्दालंकार—शब्द चमत्कार पर आश्रित अलंकारों का सामूहिक नाम। विशेष दे० अलंकार।

शब्दौचित्य—भाष्यकार ने कहा है—**"एकः शब्दः सम्यक्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति"** (एक शब्द ठीक समझकर सुप्रयुक्त करने पर वक्ता की सारी इच्छाएं स्वर्ग में पहुँचकर पूर्ण होती हैं) स्वर्ग में पहुँचकर इच्छा-पूर्ति की कथा तो अलग रही, यदि इस लोक में शब्दों को समझकर उनका उचित प्रयोग किया जाए तो निश्चय ही कामना-पूर्ति और आनन्द-प्राप्ति हो सकती है, तथा ऐसा न करने से अमंगल की आशंका। प्रत्येक समय में शब्दों का चुनाव कवि, लेखक अथवा वक्ता के

निकट सबसे बड़ी समस्या रही है। कुन्तक ने जिसे शब्द-परामार्थ्य, पदध्वनि या पदौ-चित्य की संज्ञा दी है तथा लांजिन्स ने जिसे शब्द का औचित्य बताया है, वह सब शब्दों के उचित चुनाव की ही व्याख्याएं हैं।

लांजाइनस की उक्ति है—वस्तुतः सुन्दर तथा उचित शब्द विचार का प्रकाश है, शब्दौचित्य का विधान काव्य में सौन्दर्य, शक्ति प्रभाव, महत्व तथा भव्यता का उत्पादक होता है। उससे अन्य आवश्यक काव्य-गुण भी स्वतः उद्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार यह निश्चित है कि शब्दौचित्य का उचित निर्वाह किसी भी प्रकार के प्रबन्ध की सफलता की एकमात्र कसौटी है।

प्रत्येक काल में आचार्यों ने शब्दों के निर्वाचन तथा शब्दौचित्य के निर्वाह के लिए अनेक नियम बनाए हैं। भव्य तथा माहात्म्य मंडित शब्दों का प्रयोग भव्य विषय के वर्णन में ही होना चाहिए। अशोभन तथा तुच्छ पदार्थों के लिए प्रयुक्तशोभन तथा उदात्त पदावली सदैव उपहासास्पद होगी। वैसे तो विशाल प्रबन्ध में एक शब्द छोटी-सी इकाई मात्र है, किन्तु एक ही शब्द का अशोभन प्रयोग पाठकों या श्रोताओं के हृदय में एक लेखक के स्तर को नीचे गिरा सकता है। अतएव शब्दौ-चित्य का निर्वाह जितना आवश्यक है उतना आवश्यक कदाचित् दूसरा औचित्य नहीं है। अर्थौचित्य, नामौचित्य, विशेषणौचित्य आदि अनेकों औचित्यों का अंतर्भाव बहुत कुछ औचित्य के अंतर्गत हो जाता है।

शम—**शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्**—साहित्यदर्पण

शांत रस के स्थायी भाव निर्वेद या वैराग्य का पर्याय। विशेष दे० वैराग्य, स्थायी भाव।

शशिभृता—भुजग शशिभृता नन्मा, प्रत्येक पाद में दो नगण और एक मगण (।।।, ।।।, ऽऽऽ) वाला बृहती जाति का समवृत्त छन्द)।

शशिवदना— शशिवदना न्या, प्रत्येक पाद में नगण और यगण (।।।, ।ऽऽ) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द।

शशी—"शशी या", प्रत्येक पाद में एक यगण (।ऽऽ) वाला माध्या जाति का समवृत्त छन्द।

शांत—**शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमः प्रकृतिर्मतः**

कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः

अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिःसारता तु या

परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।

पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः

महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः

रोमांचाश्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः—साहित्यदर्पण

उत्तम प्रकृति, शम स्थायी, कुंद-इंदु के समान श्वेत वर्ण, और श्री नारायण देवता वाला रस। आलंबन—संसार की अनित्यता और दुःखमयता या परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान आदि, उद्दीपन--पवित्र आश्रम तीर्थ, रम्य एकांतवन, सत्संग आदि, अनुभाव–रोमांच, उदासीनता, विषयों में अरुचि आदि, संचारी भाव-निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, उन्माद, प्राणियों पर दया आदि। अहंकारहीनता रहने के कारण यह दया-वीर से भिन्न रहता है। दख-सुख चिन्ता, राग, द्वेष आदि के न रहने पर होने वाले शांत रस में संचारी आदि संभव नहीं, फिर विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से इसकी निष्पत्ति कैसे हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर विश्वनाथ देते हैं कि युक्त, वियुक्त और मोक्षयुक्त-वियुक्त दशा का शम स्थायी ही शांत रस में परिणत होता है, मोक्ष दशा का शम नहीं, अतः सचारी आदि की स्थिति विरुद्ध नहीं है। रत्यादि के सुख से तृष्णा नाश का सुख कम नहीं, अतः सुखाभाव इसमें नहीं होता। दूसरे देवता विषयक रति भी रहती है। अभिनेता में रस की स्थिति न मानने से (दे० रस) नाटक में भी इसकी सत्ता सिद्ध रहती है। नाटक का नृत्य संगीत भी सामाजिकों के निर्वेद-आस्वाद में बाधा नहीं देता।

उदाहरण—

मलयानिल अरु गुरु गरल, तिय कुंतल अहिदेह।
स्वपच रु विधि को भेद तजि, मम थिति भई अछेह॥

—हिंदी रस गंगाधर

यहाँ संसार की अनित्यतता आलंबन, सब में समान दृष्टि अनुभाव, मति आदि संचारी और शम स्थायी भाव है।

शार्दूलविक्रीडित—जा में हों म स जा स ता त ग वही शार्दूलविक्रीडितम्, मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगणों और गुरु से बनने वाला अतिधृति जाति का समवृत्त छंद। इसमें १२-७ पर यति होती है।

शालिनी—मा ता ता गा गा युता शालिनी है, मगण, दो तगण और दो गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप् जाति का समवृत्त छन्द। इसमें चतुर्थ अक्षर तथा पादांत पर यति होती है।

शास्त्र—२० मात्राओं और अंत में गुरु-लघु से बनने वाला महादैशिक जाति का सम मात्रा छन्द।

शास्त्रीयतावाद—पुराने शास्त्रग्रंथों तथा कवियों आदि की कृतियों के प्रति अत्यधिक आदर रखकर उनके अनुकरण को ही सर्वस्व मानकर चलने वाली काव्य-

धारा। इंगलैंड में १८वीं शताब्दी में इसका खूब प्रचलन रहा। स्वच्छंदतावाद (दे० यथा०) इसका विरोधी है।

शिखरिणी—कवीन्द्रों को भावे य म न स भ ला गा शिखरिणी। यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु से बनने वाला अन्त्यष्टि जाति का समवृत्त छन्द।

शिल्पक—चत्वारःशिल्पकेऽङ्काःस्युश्चतस्रोवृत्तयस्तथा।
अशान्तहास्याश्च रसा नायकोब्राह्मणोमतः
वर्णनाऽत्र श्मशानादेर्हीनःस्यादुपनायकः
सप्तविंशतिरंगानि भवन्त्येतस्य तानि तु
आशंसातर्कसन्देहतापोद्वेगप्रसक्तयः
प्रयत्नग्रथनोत्कंठा वहित्थाप्रतिपत्तयः
विलासालस्यवाष्पाणि प्रहर्षाश्वासमूढ़ताः।
साधनानुगमोच्छ्वासविस्मयप्राप्तयस्तथा
लाभविस्मृतिसंफेटावैशारद्यं प्रबोधनम्।
चमत्कृतिश्चेत्यमीषां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते।

—साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। इसमें ४ अंक, चारों वृत्तियाँ ब्राह्मण नायक, नीच उपनायक और शान्त-हास्य रहित अन्य रस होते हैं और श्मशान आदि का वर्णन होता है। इसके निम्न २७ अग होते है, जो अपने आप में प्रकट हैं आशंसा, तर्क, संदेह, ताप, उद्वेग, प्रसक्ति (आसक्ति), प्रयत्न, ग्रंथन, उत्कंठा, अवहित्था, प्रतिपत्ति, विलास, आलस्य, वाष्प, प्रहर्ष, आश्वास, मूढ़ता, साधनानुगम, उच्छ्वास, विस्मय, प्राप्ति, लाभ, विस्मृति, संफेट, वैशारद्य, प्रबोधन और चमत्कृति। दर्पणकार इसका उदाहरण कनकवती माधव बताते हैं।

शिष्या—मा मा गा शिष्या जाने, प्रत्येक पाद में दो मगण और एक गुरु (ऽऽऽ, ऽऽऽ, ऽ) वाला उष्णिक् जाति का समवृत्त छन्द।

शुद्धविराट—मा सा जा ग विराट शुद्ध है, प्रत्येक पाद में मगण, सगण, जगण, और गुरु (ऽऽऽ,॥ ऽ, ऽ।, ऽ।) वाला पंक्ति जाति का समवृत्त छन्द। इसे विराट् भीकहते हैं।

शुद्धविष्कंभक—नाटक में संसूच्यकी वस्तु सूचना देने के साधन अर्थोपक्षेपकों का प्रभेद। विशेष दे० अर्थोपक्षेपक।

शुद्ध सन्देह—सन्देह अर्थालंकार के सन्देह का एक भेद। विशेष दे० सन्देह।

शुद्धा—लक्षणा शब्दशक्ति का एक भेद। विशेष दे० लक्षणा।

शुद्धापन्हुति—अपन्हुति अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० अपन्हुति।

शृंखलामूलक—अलंकारों का एक वर्ग। विशेष दे० अलंकार।

शृंगार (१)—प्रसाद नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० प्रसाद।

शृंगार (२)—**शृंग हिमन्मथोभ्देदस्तदागमनहेतुकः।**

उत्तमप्रकृति प्रायोरस शृंगार इष्यते।
परोपं वर्जयित्वातु वेश्यां चाननुरागिणीय।
आलंबनं नायिकाः स्युदक्षिणाद्याश्च नायकः।
चन्द्रचन्दनरोलम्बहृताद्युद्दीपनं मतम्।
भ्रू विक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः।
त्यक्त्वौग्रयमरणालस्यजुगुप्साव्यभिचारिणः।
स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः। —साहित्यदर्पण

शृंग (कामोद्भव) का कारणभूत और उत्तम प्रकृति, श्यामवर्ण, रति स्थायी-भाव और विष्णु देवता वाला रस। आलबन-नायक और अनुरागहीन परकीया और वेश्या को छोड़ शेष नायिकाएँ। उद्दीपन-चन्द्रमा, चन्दन, भौंरे-कोकिल आदि के स्वर, उपगन, एकान्त, मलयानिल आदि। अनुभाव—सानुराग भृकुटिभंग, कटाक्ष, परस्परावलोकन, एक दूसरे के गुणों का श्रवण-कीर्तन, कम्प और रोमाच आदि। संचारी भाव—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़ शेष प्रायः सभी। यह संभोग और विप्रलम्भ (संयोग और वियोग) दो प्रकार का होता है। (१) संयोग शृंगार—जहाँ एक दूसरे में अनुरक्त नायक-नायिका का परस्पर दर्शन-स्पर्श आदि होता रहता है, वहाँ संभोग शृंगार होता है। उदाहरण—

सोई सविध सकी न करि, सफल मनोरथ मंजु।
निरखति कछु मींचे नया, प्यारी पिय मुख कंजु॥

—हिन्दी रस गंगाधर

यहाँ नायक-नायिका आलम्बन हैं, एकान्त शयन उद्दीपन है, नेत्र बन्द करना अनुभाव और लज्जा, उत्कंठा आदि संचारी भाव तथा रति स्थायी भाव है। परस्पर दर्शन-स्पर्श आदि होने से यह संभोग शृंगार का उदाहरण है। इसके उपभेद नहीं होते वैसे कुछ आचार्यों के मत से मान, करुण, प्रवास और पूर्व राग वाले विप्रलम्भ शृंगार के अनन्तर होने में इसके भी चार भेद होते हैं। इसमें ऋतुवर्णन, चन्द्रोदय, सूर्योदय, जलकेलि, वन-विहार, प्रभात, मधुपान, यामिनी आदि का और अनुलेपन आदि भूषाओं (मेक अप) का वर्णन वांछित माना गया है।

(२) विप्रलंभ शृंगार—जहाँ उत्कट अनुराग (रति) होने पर भी प्रिय समागम नहीं होता। उदाहरण—

ललन चलन सुनि पलन में, श्राय गयो बहु नीर।
श्रधखंडित बीरी रही, पीरी परी सरीर॥ —विक्रम सतसई

यह नायिका आलम्बन, उसकी परदेश गामी नायक विषयक रति स्थायी, यात्रा समाचार आदि उद्दीपन, अश्रुपात बीड़े का मुख का मुख में ही रह जाना, शरीर पीला पड़ना अनुभाव, और जड़ता, विषाद आदि संचारी भाव है। उत्कट रति-अभिलाष होने पर भी आसन्न वियोग के कारण यह विलम्भ शृंगार है। इसके चार भेद बताए गए हैं–पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण (दे० यथा०) उपर्युक्त दोहा प्रवास-विप्रलम्भ का उदाहरण है।

शृंगार सहायक—श्रंगारेऽसरसहाय विटचेटकविदूसकायाः
स्तुःभक्ताःनर्यसु विदुषाःकुपितवधूमानभंजनःशुद्धाः
—साहित्यदर्पण

स्वामिभक्त, मनोरंजक मधुर बातचीत करने में निपुण, कुपित नायिका के मान को तोड़ सकने में कुशल तथा सच्चरित्र विटचेट और विदूषक शृंगार में नायक के सहायक होने के कारण शृंगार-सहायक कहे जाते हैं। (दे० अन्तः पुर सहायक)

शैलसुता—नगण तथा जब छः जगणा ल ग हो तभी शुभ शैलसुता। नगण, छः जगणों, लघु और गुरु से बनने वाला विकृति जाति का समवृत्त छन्द।

शैली—लेखक की अपनी लेखन-प्रणाली। श्यामसुन्दर दास के मत से यह उसके विचारों, भावों और कल्पनाओं का परिधान ही नहीं, बल्कि उसका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप ही है। शौपेनहावर के शब्दों में शैली लेखक की आत्मा का शरीर-विज्ञान या उसके मस्तिष्क का चित्र है। इसे प्राप्त करने के लिए भारी साधना, प्रशिक्षा, अनुभव और अथक उद्योग अपेक्षित है। गेटे के शब्दों में "शैली लेखक के मस्तिष्क का बिंब है, अतः स्पष्ट लिखने के लिए उसके विचार स्पष्ट होने चाहिएँ और उदात्त शैली में लिखने के लिए उसकी आत्मा उदात्त होनी चाहिए।" भाषा का विषय के साथ सामंजस्य स्थापित करने में पूर्णता प्राप्त करना असंभव है, पर लक्ष्य वही होना चाहिए। फ्लौबर्ट का सर्वप्रसिद्ध विश्वास था कि एक भाव को प्रकट करने के लिए एक ही शब्द है, और उस एक शब्द की खोज में उसने अपना जीवन लगा दिया था। पेटर ने "आवश्यकता से अधिक शब्द-राशि का अपनयन" शैली का मापदण्ड स्थिर किया था। पर शैली की खोज में उसकी सहजता और स्वाभाविकता खो देना भी उपादेय नहीं कहा जा सकता। सुन्दर शैली के आवश्यक तत्व एक ओर आत्मविभोरता, सहजता हैं और दूसरी ओर चमत्कृत करने की भावना का अभाव आदि हैं। इससे विपरीत दिशा में बढ़कर वांछित सफलता की आशा दुराशा मात्र है। विचारों का वहन करने वाली शैली विचारों से ऊपर नहीं हो सकती। इन दोनों का सम्बन्ध ब्रिटिश

विश्वकोप ने अंग्रेजी साहित्येतिहास से लाक और बकले के उदाहरण देकर दिग्दर्शित किया है। शैली और विचार दोनों ओर से पुष्ट होने के कारण बर्कले लाक से आगे निकल गया है।

यत्न करने से लिखना आ सकता है, वाली धारणा का टाल्सटाय ने यह कह कर अच्छा उत्तर दिया था कि किसी से उसे वायलिन आती है या नहीं, प्रश्न का यह उत्तर पाकर कि "पता नहीं" यत्न नहीं किया आप हँसने लगते हैं। उसी प्रकार लिखना भी यत्न करने भर से नहीं आ सकता फिर भी अच्छी शैली प्राप्त करने के लिए अच्छे लेखकों-वक्ताओं की शैली का अभ्यास दिग्दर्शन कर सकता है। हेनरी बैट ने शैली के निम्न रहस्यों पर प्रकाश डाला है—(१) ध्वनि और माधुर्य, (२) अभिप्राय और शब्द निर्वाचन (३) शब्दों का अर्थ और इतिहास, (४) शब्दों की स्थिति और उनकी प्रभावपूर्णता और (५) गति और लय।

भाषा का मूल आधार शब्द हैं और उनके प्रयोग का कौशल ही शैली का मूल तत्त्व है। लेखक की प्रारम्भिक अवस्था में शब्दों का बाहुल्य और विचारों की न्यूनता रहती है। और क्रमशः यह क्रम उलटा होता जाता है। रस्किन ने अपनी बचपन की शैली और पीछे की शैली के उदाहरण देकर इस पर प्रकाश डाला था। पर शब्दों के प्रयोग की शक्ति अवस्था के विकास या रुचि पर ही निर्भर नहीं, क्योंकि सामग्री की समानता होने पर भी प्रत्येक लेखक का ढंग निराला देखा गया है। तभी शैली में व्यक्तित्व की छाप का अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है। शब्द-चयन की दौड़ में भी व्यक्तिगत अभिरुचि बहुत योग देती है, और उनपर ही उसकी शैली का प्रासाद खड़ा होता है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों (दे०यथा०)के भारतीय विवेचन ने शैली के शब्द-चयन वाले पहलू पर काफी से अधिक प्रकाश डाला है। पदार्थ-निर्णय या अभिधेयार्थ के ज्ञान के लिए अपनाए जाने वाले संयोग आदि १२ साधन (दे० अभिधा) शब्द के निश्चित संकेतित अर्थ में सहायता देते हैं और दूसरी ओर लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों का निर्णय लक्षणा और व्यंजना की सहायता से हो जाता है। हिन्दी में शब्द-चयन को लेकर एक बात और समझ लेनी चाहिए कि न तो संस्कृत या विदेशी शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य किसी की शैली का तात्विक मापदण्ड हो सकता है, और न कठिनता-सरलता ही शब्दों की तत्समता-तद्भवता पर निर्भर हैं, बहुत कुछ विचारों की गूढ़ता और विषय-प्रतिपादन की गम्भीरता पर भी निर्भर होता है।

शब्द-प्रयोग की भाँति वाक्य-प्रयोग द्वारा भी शैली की साधना और परीक्षा होती है। दास जी ने अपने साहित्यालोचन में वाक्योच्च और समीकृत वाक्यों के उदाहरण देकर प्रभाव को अन्त की ओर केन्द्रित करने वाले वाक्यों को सुन्दर शैली के लिए उपादेय ठहराया है। पर जैनेन्द्र की शैली में हम देखते हैं कि छोटे-छोटे सहज

वाक्यों द्वारा ही पर्याप्त प्रभाव की सृष्टि हो जाती है। सब कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर है।

हमारे संस्कृत आचार्यों ने शैली का व्यक्तिवादी रूप अपनाकर उसका भौगोलिक वर्गीकरण किया था। इस प्रकार स्थान-विशेष की चार पद-संघटनाएँ या रीतियाँ (दे० यथा०) मानी गई थीं। शब्द और अर्थ के दस गुणों (दे० गुण) के सहारे इनमें सौन्दर्य की सृष्टि होती थी। वैदर्भी, गौड़ी पांचाली और लाटी (दे० यथा०) सभी नाम भौगोलिक आधार पर ही रखे गये थे। पीछे रसविशेष की पोषकता के कारण वैदर्भी और गौड़ी दो प्रमुख रीतियाँ शैली के विषयानुगामी विभाजन मात्र रह गई। और आगे चलकर वामन ने अपने काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में सौकुमार्य मार्ग में कवि के स्वभाव से आने वाले कौशल पर भी ध्यान दिया था (वृत्ति १।२६), पर दुर्भाग्य से रीति को काव्य की आत्मा मानकर भी (दे० रीतिसम्प्रदाय) रीति सिद्धान्त शैली जैसे व्यक्तिवादी आधार का स्पर्श न कर पाया।

शैली और शब्द-चयन में जीवन लगा देने पर भी फ्लौबर्ट के लिएशैली ही सबसे बड़ी कठिनाई बनी रही। यह देखकर तो पाटमोर की इस उक्ति की ही सराहना करनी पड़ती है कि कला की पवित्रता और सच्ची शैली के न रहने में ही है। सेम्युएल बटलर भी कहता है—"मैंने शैली के विषय में कभी कुछ जानने की चिन्ता ही नहीं की, और न जानना ही चाहता हूँ कि वह क्या है ? क्योंकि मुझे सार्वजनिक सहजता और स्वाभाविकता में ही पूरा आत्मविश्वास है। मैं यह समझ भी नहीं सकता कि कोई व्यक्ति अपनी और अपने पाठकों की क्षति किये बिना अपने विचारों को अपनी शैली के अनुकूल कैसे गढ़ सकता है।

आज की खड़ी बोली कविता के विशाल व्यावहारिक क्षेत्र की छः विशिष्ट शैलियाँ साप्ताहिक हिन्दुस्तान के परीक्षांक में डा० सत्येन्द्र ने निम्न प्रकार से गिनाई हैं—

(१) साहित्यिक-संस्कृतगर्भित-शैली;

अजी धन्य हो कवि-कोकिल तुम,
आज नहीं तो कल अवश्य ही नन्दन वन में आग लगेगी।
भस्मसात् होने वाला है नीड़ तुम्हारा। —नागार्जुन

या

रही विहार-रसा विरसा भू
यही विहार-रसा अभिनन्दित।
रही महात्माजन के वश से। —मदनवात्स्यायन

(२) अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू शैली;

(३) समझौते वाली हिन्दुस्तानी शैली;

संघर्ष चक्र में पिसता सा
अदना जर्रा बेचारा मैं । —विनोदशंकर ठाकुर

(४) बोलचाल की जन-वाणी वाली शैली;

नहीं पढ़ाई अजी पढ़ाई है, कुछ लोभा नहीं कि दौड़े लूटा, यों आनन-फानन में काम हो गया, सचमुच तुम भी मियाँ त्रिलोचन ।

ऐसे हो कि क्या कहें, बस, जब सिर पर बोझा, आया लगे कांखने, तुमको लगे सूझने तीनों लोक, और यह सारी अक्की बक्की भूल गई, औरों ने माना तुमको सक्की ।

परले दर्जे का········· —त्रिलोचन शास्त्री

(५) ठेठ गाँव के शब्दों के प्रति आकर्षण वाली शैली,

एक बीते के बराबर
यह हरा, ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा, शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सजकर खड़ा है । —केदारनाथ अग्रवाल

(६) खुलकर अंग्रेज़ी शब्दों को अपनाने वाली इंगलिस्तानी शैली;

मेरा कन्धा पकड़कर मेरा असिस्टैंट फोरमैन कह रहा है—
भई, छः बज गये, कर दो, लाग बुक पर दस्तख़त हम लोग चलें,
मेरी कोहनी पकड़कर मेरा चार्जमैन कह रहा है—
दस मिनट भाई दस्तख़त कर दीजिए, ज्यादा हो गये ।
फर्स्ट शिफ्ट का फोरमैन सीढ़ियों पर से आधी देह निकालकर ।

—प्रतीक में प्रकाशित

शोक—इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक् । —साहित्यदर्पण

इष्ट-नाश आदि के कारण चित्त के विकल हो जाने का भाव । यह करुण-रस का स्थायी-भाव है ।

शोक-गीति—संक्षिप्त गीतियाँ, जो युद्ध, प्रेम और मृत्यु जैसे विविध विषयों से सम्बन्धित शोक और विलाप विशेषतः मृत बन्धु की स्मृति को व्यक्त करती है । शोकावेग के स्थान पर शान्त क्षणों में स्मृत आवेश के साथ जो गम्भीर शोकगीतियाँ लिखी जाती हैं, अधिक कलापूर्ण और लोकप्रिय होती हैं । पहले ये छन्द विशेष में लिखी जाती थीं, कालिदास ने अज-विलाप और रति-विलाप के लिए एक ही सुन्दरी छन्द को चुना था । पीछे चलकर ये रूढ़ियाँ अपनी धाक खो बैठीं । हिन्दी में इनका नितान्त अभाव है । प्रियप्रवास का यशोदा-विलाप या ऐसे ही अन्य विलाप शोक-

गीति की उस मार्मिकता तक नहीं पहुँचते। कामताप्रसाद गुप्त ने अंग्रेज़ी कवि ग्रे की प्रसिद्ध एलिजी का रूपान्तर ही अपने ग्रामीण-विलाप में प्रस्तुत कर दिया है। प्रसाद का आँसू अवश्य इस दिशा में एक सुन्दर रचना है।

इसके पीछे पन्त आदि बहुत से कवियों ने आँसूवाद या वेदनावाद पर करुण-गीत लिखे हैं, और यह हमारी विरह-कविता की परम्परा का ही विकास है। (दे० गीतिकाव्य)।

शोभा (१)—**रूपयौवनलालित्ययोगाद्यैरंगभूषणम्।**
शोभा प्रोक्ता······ —साहित्यदर्पण

रूप, यौवन, लालित्य और सुख-भोग आदि से सम्पन्न शरीर की सुन्दरता। यह नायिका का एक अयत्नज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)।

शोभा (२)—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होनेवाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

शोभा (३)—**शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता।**
नीचे घृणाधिके स्पर्धा मतः शोभेति तां विदुः।
—साहित्यदर्पण

शूरता, चतुरता, सत्य, महान् उत्साह, अनुरागिता (प्रेममयी भक्ति), नीच में घृणा और उच्च में स्पर्धा—इन सब बातों को पैदा करने वाला मानसिक धर्म। इसकी गणना नायक के सात्विक गुणों में है। (दे० सात्विक गुण)।

श्रम—**खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः**
—साहित्यदर्पण

मार्ग में चलने या रति आदि से उत्पन्न खेद। यह साँस को बढ़ाता और नींद देता है। यह एक संचारी भाव है। देखिए

टूटी तलवार वह
टेककर आगे बढ़ता था आह भर के
—(काव्यालोक से)

श्रवण-पूर्वराग—मिलन से पहले ही पारस्परिक गुण श्रवण द्वारा ही नायक-नायिका का अनुराग। विशेष दे० पूर्वराग।

श्रव्य-काव्य—सुनने योग्य। यह काव्य के भेदों-दृश्य और श्रव्य में से एक है। पद्य-गद्य जो कुछ भी पढ़ा-सुना जाए, श्रव्य कहलाता है।

श्री—प्रत्येक पाद में एक गुरु वाला उक्ता जाति का समवृत्त छन्द।

श्रीगदित—**प्रख्यातवृत्तमेकांकप्रख्यातोदात्तनायकम्**
प्रसिद्धनायिकं गर्भविदर्शाभ्यां विवर्जितम्।

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम्।
मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम्।

—साहित्यदर्पण

—उपरूपक के २८ भेदों में से एक भेद। यह प्रसिद्ध कथा, एक अंक, प्रसिद्ध उदात्त नायक-नायिका वाला और गर्भ-विमर्श संधिरहित, होता है। इसमें श्री शब्द और भारती वृत्ति की बहुलता रहती है। दर्पणकार इसका उदाहरण क्रीड़ा-रसातल बताते हैं। इसमें नटी लक्ष्मी का रूप रख कुछ गाती-पढ़ती है, इससे इसे श्री-गदित कहते हैं। कुछ आचार्यों के मत से यह भारती वृत्ति वाला एकाकी ही है।

श्रुतिकटु—टवर्ग आदि की प्रधानता से कानों को अप्रिय लगने वाला काव्य दोष (दे० यथा०)। वीर रस में ऐसी रचना के भावानुकूल होने के कारण यह गुण हो जाता है। जैसे "त्रिया अलक चक्षुःश्रवा डसै परत ही दृष्टि," या "चक्कि चक्कि पिय सामुहे, लक्खि लक्खि यह रूप," यहाँ शब्दोंके कर्णकटु होने से श्रुति कटु दोष है। गुप्त जी की 'पर क्या नविपयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता' पंक्ति भी इस दोषसे मुक्त नहीं है। इसे दुःश्रवत्व भी कहते हैं।

श्रौती—उपमा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० उपमा।

श्लिष्ट परम्परित—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

श्लेष (१)—**श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।**
वर्णप्रत्ययलिंगानां प्रकृत्योः पदयोरपि।
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः। —साहित्यदर्पण
शब्दैःस्वभावादेकार्थैःश्लेषोऽनेकार्थवाचनम्। —साहित्यदर्पण

एक शब्दालंकार तथा एक अर्थालंकार, जिसमें अभिधा से ही अनेकार्थों की प्रतीति होती है। श्लिष्ट (अनेकार्थ वाले) पदों से—वर्ण, प्रत्यय, लिंग, प्रकृति, पद से विभक्ति, वचन और भाषा के श्लिष्ट होने से—अनेक अर्थों का निरूपण शब्द-श्लेष होता है। अर्थ-श्लेष स्वभावतः एकार्थक शब्दों से अनेकार्थ निकालने में होता है। शब्द को तोड़कर दो अर्थ निकालने से भंग या सभंग श्लेष होता है, और बिना तोड़े दो अर्थ निकालने से अभंग श्लेष जैसे—

जोगी ह्वै रहत विलसत अवनी के मध्य,
कनकन जोरैं, दान-पाठ पर वार है। —सेनापति

यहाँ 'भोगी ह्वै रहत' में दाता पक्ष में भोग भोगता हुआ रहता है और सूम पक्ष में साँप बनकर रहता है। इसलिए यहाँ 'भोगी' में अभंगश्लेष है। दूसरी पंक्ति में 'कनकन जोरैं' में दाता पक्ष में कनक (सोना) नहीं जोड़ता और सूम पक्ष में कण-

कण जोड़ता है—ये दो अर्थ कनकन शब्द को दो तरह तोड़कर निकाले गए हैं, अतः यहाँ सभंग श्लेष है। ये दोनों ही शब्द श्लेष के उदाहरण हैं, क्योंकि यहाँ पर इनके स्थान पर दूसरे पर्यायवाची शब्द 'साँप' या 'अणु-अणु' रख देने से दो अर्थ नहीं निकलते अर्थ श्लेष में ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहाँ स्वभावतः एकार्थक शब्द से दो अर्थ निकाले जाते हैं, जैसे—

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतौ ऊँचो होइ॥

यहाँ 'नीचो ह्वै' और 'ऊँचो होइ' पदों के स्थान पर चाहे कुछ भी पर्यायवाची रखदिए जाएँ, यही दोनों अर्थ निकलते रहेंगे।

सामान्य शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार के अतिरिक्त श्लेष का एक दूसरा उपयोग भी है। यह श्लिष्ट परम्परित रूपक में ही नहीं, बल्कि विरोधाभास, परिसंख्या, उपमा आदि अनेकों अलंकारों में सहायक बनकर भी आता है और उस अलंकार की पुष्टि करता है। वहाँ इसके निजी चमत्कार का तो आभास मात्र होता है, पर उस अलंकार की निष्पत्ति में यह बड़ा सहायक होता है।

श्लेष (२)—श्लेष शब्द शिथिलता का विपरीत है, इसका अर्थ है श्लिष्टता या गाढ़बन्धता। भरत तथा दंडी द्वारा बताए गए काव्य तथा वैदर्भी मार्ग के दश गुणों में से प्रथम गुण है। कोमल वर्णों के उपयोग से तथा अल्पप्राण अक्षरों के प्रचुर प्रयोग से काव्यबंध शिथिल होता है, इसके विपरीत महाप्राण वर्णों के प्रयोग से गाढ़बन्धता आती है, इसी को श्लेष गुण कहते हैं। 'ल' के प्रचुर प्रयोग से शैथिल्य की भी प्रचुरता हो जाती है, क्योंकि सम्भवतः वह सब से अधिक शिथिल वर्ण है।

स

संकर—**अंगांगित्वेऽलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।**

संदिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः । —साहित्यदर्पण

एक उभयालंकार, जो शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के परस्पर विमिश्रित होने पर होता है। इसमें इन अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष नहीं होती, बल्कि नीर-क्षीर न्याय से दो अलंकार परस्पर बिल्कुल मिलकर एक नये चमत्कार एक नये अलंकार की ही सृष्टि करते हैं। संकर तीन प्रकार का होता है। पहला कई अलंकारों के अंगांगीभाव में होने से अंगागी भाव संकर कहा जाता है। दूसरे एक ही आश्रय में कई अलंकारों की स्थिति होने से एकवाचकानुप्रवेश संकर होता है। तीसरे एकाधिक अलंकारों की संदिग्धपूर्ण स्थिति में सन्देह संकर होता है। क्रमशः उदाहरण—

(१) **हौं रीझी लखि रीझि हौं, छविहि छबीले लाल ।**

सोन जुही-सी होत दुति, मिलत मालती माल ।। —बिहारी

यहां द्वितीय पाद की धर्मलुप्तोपमा वर्णविकार के कारण प्त अंगी अलंकार तद्गुण का पोषण करती है। अतः अंगांगी भाव संकर है।

(१) **तुव पद पंकज आसरे मन-मधुकर लग जाय ।** —गुलाब

यहां पद-पंकज और मन-मधुकर में एक ही आश्रय में रूपक और छेकानुप्रास होने से एकवाचकानुप्रवेश संकर है।

(३) **फिर-फिर चित उत ही रहत, छुटी लाज की लाव,**

अंग अंग छबि भौंर में, भयो भौंर की नाव । —बिहारी

यहां सखी वचन सखी से मानने पर रूपक और वही नायक से मानने पर पर्यायोक्ति का सन्देह होने से सन्देह संकर है। दोहे में इसका समाधान नहीं है।

कुछ लोग समप्रधान संकर अलग मानते हैं पर वह संसृष्टि से विशिष्ट नहीं।

संकलन त्रय—यूरोपीय नाट्य-शास्त्र में निर्दिष्ट अभिनय, काल और स्थान की एकता का नियम। अरस्तू ने यद्यपि अभिनय की एकता पर ही विशेष बल दिया था, पर शेष दोनों भी उसी के नाम से प्रचारित की गईं। सारे यूरोप में इनकी धाक रही। अभिनय की एकता का अर्थ था कि अनावश्यक दृश्य या चरित्र न रखे जाएँ

और सब घटनाएँ एक केन्द्र से संघटित रहें। काल की एकता का अर्थ है कि अभिनय में वस्तुतः लगने वाला समय २४ घंटे से अधिक तो हो ही नहीं, उससे निकटतम हो। स्थान की एकता का अर्थ है कि अभिनय एक नगर या एक ऐसे स्थल तक ही सीमित रहे, जहां सभी आवश्यक पात्र कार्यवश आ जाएँ। स्पष्ट ही ये बन्धन अत्यन्त अस्वाभाविक थे और उनका पालन सर्वत्र नहीं हो सका। थोड़े से समय में सारी घटनाओं को समेटना असम्भव हो जाता है और इसी प्रकार एक ही कमरे में राजा से लेकर गरीब तक का प्रवेश भी उसे अस्वाभाविक बना देता है। हिन्दी नाटक सौभाग्य से इस अस्वाभाविक बन्धन के चक्र में नहीं पड़े। ड्राइडिन ने अरस्तू के इस सिद्धान्त की धज्जियां उड़ाई थीं। शेक्सपीयर ने भी टेम्पेस्ट के अतिरिक्त अन्यत्र इसकी पूरी अवहेलना की थी। पीछे इब्सन की आंधी में यह सिद्धान्त रुई की भांति उड़ गया।

संकीर्णत्व—दूसरे वाक्य के पदों का दूसरे वाक्य में प्रवेश कर देने से उत्पन्न दोष (दे० यथा०) क्लिष्टत्व एक वाक्य में ही होने से इससे भिन्न है। इसका उदाहरण स्पष्ट है, जैसे 'क्रोध खाओ, खाना छोड़ो' यहां उलटा कर दिया गया है।

संकृति—२४ वर्णों वाले वर्णिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्त जाति।

संकेत-स्थान—नायक-नायिका द्वारा मिलन के लिए निश्चित किया गया गुप्त स्थान। विशेष दे० अभिसार-स्थान।

संक्षेप—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

संक्षेप-लेखन—कटा-छंटा संक्षिप्त विवरण। यह किसी लंबे गद्यांश या पत्र-व्यवहार आदि का प्रायः तिहाई लंबा होता है, इसमें मूल के सभी मुख्य भाव आ जाते हैं, इससे तर्कों की शृंखला रहती है और यह अपने आप में पूर्ण संक्षिप्त प्रबन्ध सा होता है।

संख्यावक्रता—इसे वचनवक्रता भी कहते हैं। काव्यवैचित्र्य की सिद्धि के लिए जहाँ वचनों का विपर्यय किया जाता है वहाँ यह वक्रता होती है। कालिदास ने दुष्यंत द्वारा भौंरे को धन्य बताते हुए 'मैं तो बे मौत मारा गया' न कहकर 'हम' का प्रयोग कराया है। इसी प्रकार बालरामायण में 'शास्त्राणि चक्षुर्नवम्' प्रयोग में शास्त्र को बहुवचन में प्रयुक्त कर नेत्र में एक वचन रख चमत्कार की सृष्टि की गई है।

संग्रह—गर्भ नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० गर्भ।

संघटनौचित्य—माधुर्य तथा ओज गणों की सिद्धि के लिए अलग-अलग पद-संघटन की आवश्यकता होती है। पदों की सम्यक् रूप से घटना अथवा रचना को

संघटना कहते हैं। ध्वन्यालोककार के मत से (दे० ध्वन्यालोक ३।५) असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घ समासा ये तीन संघटनाएँ होती हैं।

संघटनौचित्य में रस के औचित्य पर तो विशेष दृष्टि रखनी ही होती है, वक्ता (काव्य-नाटकादि के पात्र), वाच्य (प्रतिपाद्य विषय) तथा विषय (काव्य, नाटक आदि काव्य-भेद) के औचित्य पर भी विशेष ध्यान रखना होता है। ध्वन्यालोक में बताया गया है कि दीर्घसमासा संघटना का अत्यधिक अभिनिवेश रस की झटिति प्रतीति में बाधा पहुँचाता है। इसी प्रकार से अन्य तीन गौण पदार्थों के औचित्य पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

संघर्ष—वह आंतरिक या बाह्य द्वंद्व, जो सभी नाटकों विशेषतः त्रासद नाटकों का सार-तत्व होता है।

संचारी भाव—स्थिरता के साथ विद्यमान रति आदि स्थायी भावों में आविर्भूत (उत्पन्न) और तिरोभूत (लुप्त) होकर निर्वेदादि भाव अनुकूलता के साथ व्याप्त होते हैं, इसलिए विशेष (आभिमुख्य) रूप में आते-जाते रहने के कारण इन भावों के संचारी भाव कहा जाता है। व्यभिचारी भाव भी इनका ही दूसरा नाम है। ये संख्या में तैंतीस हैं। यद्यपि महाकवि देव 'छल' को चौंतीसवाँ संचारी भाव मानते हैं, पर आचार्य शुक्ल उसे 'अवहित्था' में समेट लेते हैं। वैसे ये हृदय की अस्थायी भावनायें हैं और सूक्ष्म अंतर करने बैठा जाय, तो इनकी संख्या अपरंपार हो जाय। इनको व्यभिचारी भाव भी कहते हैं।

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः।

—साहित्यदर्पण

इनके तैंतीस भेद ये हैं—निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, अलसता, अमर्ष, निद्रा, अवहित्था, उत्सुकता, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, संत्रास, लज्जा, हर्ष असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिंता और वितर्क (भेद यथा० दे०)

अनियत अर्थात् अंत तक अनपेक्षित रति आदि स्थायी भाव भी संचारी बन जाते हैं। शृंगार में अविच्छिन्न रूप से स्थित रहने के कारण रति ही स्थायी भाव है किन्तु हास्य रस का स्थायी भाव हास बीच में उत्पन्न होकर विलीन हो जाय, तो वह संचारी ही कहा जायगा, क्योंकि जब तक वह रस की अवस्था तक न पहुँचे, रसपर्यन्त पुष्ट न हो, स्थायी नहीं हो सकता। शृंगार और वीर में हास और वीर, क्रोध और शान्त रसों में जुगुप्सा संचारी भाव हो जाते हैं। इसी प्रकार और भी यथायोग्य समझना चाहिए।

किसी कारण पात्र विशेष में कुछ देर के लिए स्थिरता को प्राप्त होने पर भी उन्माद आदि संचारी भाव स्थायी नहीं कहे जाते, क्योंकि वे किसी पात्र में आद्यंत स्थिर नहीं रहते। रसों में सभी विभावादि का मिला-जुला आस्वाद होता है, पर जैसे मुरब्बे आदि कहीं-कहीं मिर्च चीनी आदि एक वस्तु की प्रधानता प्रतीत होती है। यह रस में उसकी अलग सत्ता सिद्ध कर देता है।

संचारी भाव निर्वेद और शान्त रस के स्थायी भाव निर्वेद (शम) में यही अंतर है कि परमार्थ चिंतन और संसार की असारता के ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायी होता है। पर इष्ट की अप्राप्ति सासांरिक कष्टों से घबराहट, और इसी कारण विषयों से अरति वाला निर्वेद संचारी होता है, यह करूणविप्रलंभ शृंगार और करूण दोनों रसों में संचारी बन जाता है।

संदानितक—तीन निरंतर छन्दों में किसी विषय का वर्णन। विशेष दे० विशेषक।

संदिग्धत्व—किसी शब्द के दो अर्थों को लेकर लेखक के अभीष्ट अर्थ के विषय में संदेह हो जाय, तो ऐसे शब्द का प्रयोग इस दोष (दे० यथा०) का उदाहरण बनता है। यह पदांश, पद और अर्थ तीनों का दोष है।

संदिग्ध्यप्राधान्य—मम्मट के मध्यम काव्य गुणीभूतव्यंग का पाँचवाँ भेद। विशेष दे० गुणीभूत व्यंग।

संदेह (१) शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

संदेह (२) वस्तु या कथानक का वह तत्व जो पाठक को भावी घटना के विषय में उत्सुक और संदिग्ध बनाये रखता है। प्रत्येक कलाकार को अपनी वस्तु (दे० यथा०) के आकर्षक बनाने के लिए इसका उपयोग करना पड़ता है और गुत्थियों के धीरे-धीरे खुलते जाने से पाठक का चाव बना रहता है।

संदेह (३) **प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।**
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें उपमेय में उपमान का चमत्कारपूर्ण संशय होता है। इसके तीन भेद हैं—शुद्ध, निश्चयमध्य और निश्चयांत, जिनका अर्थ नाम से स्पष्ट है। इतना ध्यान रहे कि रस्सी में सांप का वास्तविक संदेह कवि-कल्पित चमत्कारपर्ण संदेह अलंकार नहीं हो सकता। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

क्या शुभ्र हासिनी शरद घटा अवनी पर आकर है छायी।
अथवा गिर कर नभ से कोई सुरबाला हुई धराशायी॥

(गोपाल शरण सिंह)

यहाँ चाँदनी को लेकर ये चमत्कारपूर्ण संदेह किये गये हैं। यह शुद्ध संदेह का

उदाहरण है। निश्चयमध्य में संदेह होते जाते हैं, पर वैसा होने से निराकरण भी होता जाता है और अंत में संदेह बना रहता है। निश्चयांत में संदेह होता है पर प्रकृत के कुछ ऐसे लक्षण खोज लिये जाते हैं, जो अप्रकृत मे नहीं होते। निश्चयांत संदेह में आश्रयैक्य होने के कारण यह निश्चय (दे० यथा०) से पृथक् होता है। (और दे० उत्प्रेक्षा)

संधि—नाटक में कार्य अर्थप्रकृति (दे० यथा०) की पाँच अवस्थाओं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—के आधार पर किए गए कथानक के यथाक्रम पाँच विभाग, ये हैं मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। (भेद दे० यथा०) दर्पणकार एक प्रयोजन में अन्वित कथांशों के अवांतर सम्बन्ध को संधि कहते हैं। अरस्तू आदि प्राचीन विद्वानों ने वस्तु के तीन ही विभाग रखे थे। पर शक्सपियर में ब्रैडले स्पष्ट ही पाँच विभाग देखते हैं, जिनका बहुत कुछ सम्बन्ध नाटक के पाँच अंकों से पाया जाता है। संस्कृत नाटकों में आरम्भ से ही पाँच विभाग किये गये थे और भरत ही पाँच अंकों की व्याख्या करते हैं। इब्सनोत्तर युग की दुनियाँ के नाटक अब फिर तीन अंकों को ही अपना रहे हैं। (विशेष दे० अर्थप्रकृति, अंक, वस्तु)

संधिकष्टत्व—संधि करने से शब्द में कठोरता आ जाने पर होने वाला वर्ण दोष, (दे० यथा०) पर यह हिन्दी में संधि के प्रति विशेष रुझान न होने से कम ही होता है।

संधि-विश्लेष—शब्दों को अलग-अलग रखने वाले नियमों वाली संधि के अतिशय प्रयोग या केवल छन्दोभंग बचाने के लिए किया गया संधिभंग, इस दोष का उदाहरण बनता है। पहला हिंन्दी में नहीं होता।

संध्यश्लीलत्व—संधि हो जाने से ऐसा शब्द बन जाय, जो अश्लील हो, तो यह वर्ण दोष (दे० यथा०) उत्पन्न हो जाता है।

संफेट (१)—विमर्श नामक नाटक-संधि का एक अंग। विशेष दे० विमर्श।

संफेट (२)—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

संबन्धातिशयोक्ति—अतिशयोक्ति अर्थालङ्कार का एक भेद। विशेष दे० अतिशयोक्ति।

संबोध—एक अंग्रेजी अलङ्कार जिसमें किसी व्यक्ति या मानवीकृत विचार को सम्बोधित किया जाता है। हिन्दी की नई कविता में इसका बहुत प्रचलन है। जैसे—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली। (प्रसाद)

मंगलाचरण में सरस्वती, गणेश आदि के आवाहन की रीति तो पुरानी ही है।

संबोध गीत—किसी वस्तु विशेष को सम्बोधित कर किया गया कवि द्वारा

अपने भावों और विचारों का कवित्व और संगीतपूर्ण उद्गार। ये गीतियां यूरोप में हौरेस और पिंडार नामक कवियों द्वारा अपनायी विशेष शैली के कारण उनके नामों से पुकारी जाने लगी थीं, पर वे पुराने रूप अब उठ गये हैं नई सम्बोध गीति कल्पना और आवेश के उच्च स्तर पर उदात्त भाषा में रची जाती है, और किसी वस्तु विशेष का सम्बोधन पहले-पहले आ जाना अनिवार्य हो गया है।

हिन्दी में सम्बोध गीतियों की कमी नहीं है। प्रसाद की 'किरण', निराला की 'यमुना के प्रति' और ऐसे ही पन्त की कुछ संबोध गीतियां अत्यन्त लोकप्रिय हैं (दे० गीति काव्य)।

संभावन--एक अर्थालङ्कार, जिसमें कुछ सिद्धि के लिए कुछ सम्भावना हो, जैसे--

एहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि समेत सकोच कवि, कहे सीय सम तूल। --तुलसी

संभोग--शृंगार रस के दो भेदों में से एक इसे संयोग भी कहते हैं। विशेष दे० शृंगार।

संयुता--स ज जा ग शोभइ संयुता, प्रत्येक पाद में सगण, जगण, जगण और गुरु (।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ) वाला पंक्ति जाति का समवृत्त छन्द।

संयोग--शृंगार रस के दो भेदों में एक इसे संभोग भी कहते हैं। विशेष दे० शृंगार।

संलक्ष्यक्रमध्वनि--ध्वनि-प्रतिध्वनि के समान आगे-पीछे के क्रम से व्यंग की स्थिति बताने वाली ध्वनि। यह शब्दशक्ति मूलक अनुरणन और अर्थ और शब्द दोनों के ही अनुरणन से तीन प्रकार की हो जाती है। पहली शब्दमूला के अलंकार या वस्तु के ही शब्दों द्वारा ध्वनित होने से दो भेद होजाते हैं। जैसे सूरके "सून्य भीति बिनु चित्र रंग बिनु, बिनु खभ रच्यो चितेरे" में व्यतिरेक अलंकार है। और शब्दमूला वस्तुमात्र व्यंग्य का उदाहरण है जैसे नायिका पथिक से कहे कि इस पथरीले गाँव में बिछौने तो नहीं हैं, पर यदि उन्नत पयोधर (मेघ, स्तन,) देख ठहरना चाहो तो ठहर जाओ।" यहाँ बिना अलंकार वस्तु मात्र से ही नायिका का तात्पर्य ध्वनित होता है।

अर्थमूला के स्वतः सम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध और कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध ये तीन भेद हैं, जो वस्तु और अलंकार से छः और उनमें भी वस्तु और अलंकार के भी व्यंग्य हो जाने से बारह हो जाते हैं। यहाँ दो-तीन उदाहरण भी पर्याप्त से अधिक होंगे। जैसे "राजा की तलवार क्रुद्ध कालिका के कटाक्ष-सी है," में उपमा से ध्वनित होता है कि राजा क्षण में शत्रुओं को मार डालेगा। यहाँ स्वतः संभवी अलंकार से वस्तु की व्यंजना है। और दे०राजा ने युद्ध में विजयलक्ष्मी को चोटी

पकड़ खींच लिया और शत्रुओं ने कंदराओं को गले लपेट लिया" इसमें कविप्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध वस्तु से "मानो केशग्रहण देख कन्दराओं ने उन्हें गले लगाया" यह उत्प्रेक्षा अलंकार और "शत्रु भागकर नहीं छिपे, बल्कि पराजय विचार कन्दराएँ भी उनको नहीं छोड़ती" यह अपन्हुति अलङ्कार ध्वनित होता है। और दे० "सहस्रों धूर्त स्त्रियों से भरे तुम्हारे हृदय में समाने का स्थान पा यह (तन्वी) अपने को और भी दुर्बल कर रही है," में दुबले शरीर को और भी दुर्बल करके भी स्थान न पाने में विशेषोक्ति व्यंजित होती है, जब कि दुबले शरीर का समा जाना यह पूर्वार्ध स्वयं हेतु अलङ्कार है, इसलिए यहाँ कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार की व्यंजना है।

उभय (शब्द, अर्थ) शक्तिमूला का एक ही भेद है। (दे० ध्वनि, कविता, साहित्य सम्प्रदाय)

संलापक—**संलापकेऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः**
पाषण्डःस्याद्रसस्तत्र शृंगारकरुणेतरः।
भवेयुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः।
न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी।
—साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। इसमें ३-४ अंक, पाखण्डी नायक, और शृंगार-करुण के सिवा और रस होते हैं। भारती या कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होती हैं। नगर निरोध, सकपट संग्राम और विद्रव (दे० वीथी) होते हैं। दर्पणकार मायाकापालिक इसका उदाहरण बताते हैं।

संवृतिवक्रता—संवृति का अर्थ है छिपाना। जहाँ विचित्रता की साधनामें कोई वस्तु सर्वनाम आदि द्वारा छिपा दी जाय वहाँ संवृतिवक्रता होती है (वक्रोक्तिजीवित २।१६) संस्कृत में 'किमपि' शब्द इस वक्रता के उदाहरणों के रूप में प्रयुक्त होता था। हिन्दी में भी उसी का समानार्थक कुछ शब्द ऐसी वक्रता का द्योतक होता है, देखिए—

तुलसी नहिं सन्तोष तौ पुनि 'कछु' कहहू।
जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥

यह 'कुछ' शब्द किसी अश्रवणीय वस्तु की व्यंजना के साथ ही एक आक्षेप कर रहा है, जो अन्यथा सुलभ नहीं।

संवेदनावाद—शब्दों की नाद-शक्ति के सहारे कविता और संगीत को पास लाने वाली काव्य-शैली। यह वाद भी अन्य बहुत से वादों की भाँति फ्रांस से उठा है। ये लोग नादों के मूर्त्त विधान के लिए किये जाने वाले शब्द चुनाव में अर्थ भी

आवश्यक नहीं मानते। इन लोगों के मत से यह योजना विषय को ठीक उसी भाँति सामने रखती है, जैसे संवेदना (इंप्रेशन) उत्पन्न होती है। 'कुंज पुंजों में भरी है भृंग की गुन् गुन् गुहारें', (लेखक) 'कंकण किंकिणि नूपुर ध्वनि सुनि' (तुलसी) और 'घड़ घद्धरं घड़घद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं'' (सूदन) वाली अमृत ध्वनि इसके उदाहरण हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने चिन्तामणि (पृ० २३१) में संवेदनावाद और मूर्त्तविधानवाद के संयुक्त प्रयोग के सहारे कमिंग्ज़ द्वारा लिखी गई 'सूर्यास्त' कविता का विशद उदाहरण दिया है। संक्षेप में--

'सं--दंश

स्वर्ण गुन जाल

शिखर पर

रजत

पाठ करता है' आदि।

इसका अर्थ है 'समुद्र की खारी हवा काटती-सी है। डूबते सूर्य की किरणें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पीली मधु-मक्खियों के फैले हुए झुंड-सी लगती है।'' व्याख्याएँ हैं--'दंश' से चमड़ा फटने, पानी की ठंडक और मधुमक्खी के डंक की वेदना प्रकट की गयी है, 'स्वर्ण' में सूर्य की किरणों और मधु-मक्खियों के पीले रंग का आभास है, गुन् में गुंजार का, जाल में झुण्ड का, स्वर्ण में सूर्य और रजत में समुद्र का संकेत है, आदि।

संशय--नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

संसृष्टि--मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते। --साहित्यदर्पण

एक उभयालंकार, जो शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के परस्पर विमिश्रित होने पर होता है। संसृष्टि में सभी अलंकारों की स्थिति तिल तंदुल न्याय से एक दूसरे से भिन्न होती है और इस नाते यह दूसरे उभयालंकार संकर (दे० यथा०) से भिन्न है। जैसे--

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाडिम का समझकर भ्रान्ति से।
देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
पूछता है अन्य शुक यह कौन है?

यहाँ पूर्वार्द्ध में तद्गुण और उत्तरार्द्ध में भ्रम अलंकारों के अलग-अलग होने से संसष्टि अलंकार है।

संस्कारी––१६ मात्राओं वाले मात्रिक छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० मात्रा जाति।

संस्मरण––आत्मकथा के रूप में लिखे गये स्मृति-लेख। इसमें आत्मकथा की भांति लेखक के व्यक्तिगत जीवन का पूरा विवरण नहीं होता, बल्कि किसी घटना की, भले ही लेखक का उससे नाममात्र का ही सम्बन्ध हो, याद का विवरण होता है। हिन्दी में गोपालराम गहमरी के संस्मरण अधिक प्रसिद्ध हुए थे।

संहार––भाणिका नामक उपरूपक के ७ अंगों में से एक। विशेष दे० भाणिका।

सखी––चौदह सखी म वा य अंता। चौदह मात्राओं और मगण या यगण के अंत में होने पर बनने वाला मानव जाति का सम-मात्रा-छन्द।

सगण––लघु-लघु-गुरु (।।ऽ) वाला वर्णसमूह। विशेष दे० गण।

सट्टक––**सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम्**
न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः।
अंका जवनिकाख्या स्तुः स्यादन्यन्नाटिकासमम् ––साहित्यदर्पण

उपरूपक के अठारह भेदों में से एक भेद। यह प्राकृत भाषा में ही होता है, प्रवेशक विष्कंभक नहीं होते। इसमें प्रचुर अद्भुत रस होता है। इसके अंकों को जवनिका कहते हैं। शेष बातें नाटिका (दे० यथा०) जैसी होती हैं। दर्पणकार इसका उदाहरण कर्पूरमंजरी बताते हैं।

सम––**समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः** ––साहित्य दर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें अनुरूपता के कारण योग्य वस्तु की प्रशंसा होती है। जैसे––

(१) **"अज और इंदुमती के जोड़े की प्रशंसा में पुरवासी कहने लगे कि लो यह चाँदनी निर्मेघ चन्द से मिल गई", "लो यह गंगा अनुरूप जलनिधि में मिल गई।" यहाँ दोनों योग्यों के मेल की प्रशंसा के कारण सम अलंकार है।**

(२) **चिर जीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।**
को घटि ये वृषभानुजा, ये हलधर के वीर॥

सम-अभेद––रूपक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

सम-तद्रूप––रूपक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

समता––यह भरत द्वारा काव्य के सामान्य गुणों तथा दंडी द्वारा वैदर्भ मार्ग के गुणों में गिना गया एक गुण है। शब्द-बन्धों में जहाँ समता अर्थात् एकरूपता रहती है, वहाँ यह गुण विद्यमान रहता है। बन्धों के तीन भेद निरूपित किये गये हैं। १. मृदुबंध, जहाँ अल्पप्राण अक्षरों की बहुलता होती है, २. स्फुटबंध, जहाँ विकट वर्ण विद्यमान रहते हैं तथा ३. मध्यबंध, जिसमें उक्त दोनों प्रकार के बंधों का मिश्रण

रहता है, इसी से कुछ लोग इसे मिश्रबंध भी कहते हैं। समता इसी तीसरे प्रकार वाले बंध में रहती है, प्रथम दो में तो विषमता रहती है। प्राचीन आचार्यों के मत से वैदर्भ कवि 'समता' का उपासक होता है। सारांशतः काव्य की सर्वश्रेष्ठ रीति वही हो सकती है, जहाँ शब्दबंध की दृष्टि से समता हो। न तो मृदुबन्ध उसे शिथिल बनाए और न स्फुटबंध अपनी जटिलता के कारण सुकुमारता का सर्वथा अभाव कर दे।

सममात्रा छन्द—चारों पादों में समान मात्राओं वाले छन्द। एक मात्रा से लेकर ३२ मात्राओं तक इन छन्दों की ३२ जातियाँ हो जाती हैं। ३२ से अधिक मात्रा वाले छन्द मात्रा दंडक कहे जाते हैं। दे० मात्रा जाति।

समय—निर्वहण नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० निर्वहण।

समर्पण (१)—भाणिका उपरूपक के सात अंगो में से एक। विशेष दे० भाणिका।

समर्पण(२)—किसी ग्रन्थ के प्रारम्भ का एक संक्षिप्त लेख, जिसमें यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि लेखक इसे किस मित्र, सम्बन्धी या संरक्षक के नाम में अर्पित कर रहा है।

समवकार—**वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्।**
संधयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽकास्तत्र चादिमे।
सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याताः देवमानवाः।
फलं पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ।
वीथ्यंगानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश।
गायत्र्युष्णिङ् मुखान्यत्रच्छंदांसि विविधानि च।
त्रिशृंगारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः।
वस्तुद्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमांकगम्।
द्वितीयेऽके चतसृभिर्द्वाभ्यामंके तृतीयके।

—साहित्यदर्पण

रूपक के दस भेदों में से एक भेद। इसमें कहानी देवासुर सम्बन्धी प्रसिद्ध ही होती है। विमर्श को छोड़ शेष चार संधियां होती हैं। तीन अंक होते हैं। यहां बारह देवता और मनुष्य उदात्त नायक होते हैं, और सब का फल अलग-अलग होता है। इसमें वीर रस तो प्रधान होता है और सब रस भी होते हैं, पर गौण रहते हैं। कैशिकी को छोड़ अन्य वृत्तियां होती हैं। इसमें बिन्दु (दे० यथा०) और प्रवेशक

(दे० यथा०) नहीं होते। यथासम्भव तेरह वीथ्यंग (दे० यथा०) होते हैं। विविध छन्द होते हैं। इसमें पहले अंक की कथा चौबीस घड़ी की हो, दूसरे अंक की आठ घड़ी की और तीसरे की चार घड़ी की। धर्म शृङ्गार (शास्त्रानुकूल), अर्थ शृङ्गार (धन के लिए) और काम शृंगार (मनोरंजन के लिए)—ये तीनों शृंगार, स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवज तीनों कपट और चेतन, अचेतन और चेतनाचेतन (हाथी आदि) द्वारा किया गया तीनों प्रकार का विद्रव यहां दिखाना चाहिए। जिसमें बहुत से अर्थ समवकीर्ण (निबद्ध) हों, वह समवकार है। दर्पणकार संस्कृत में इसका उदाहरण 'समुद्र-मंथन' बताते हैं।

समवृत्त—चारों पादों में समान वर्ण संख्या, समान गुरु लघु क्रम और समान गणों वाले वर्णिक छन्द। एक अक्षर से लेकर २६ अक्षर तक इन वृत्तों की २६ जातियाँ हो जाती हैं। २६ से अधिक अक्षरों वाले समवृत्त दंडक कहे जाते हैं। दे० वृत्त जाति।

समस्त रूपक—रूपक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

समस्त वस्तु विषय—रूपक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० रूपक।

समस्ता—समासवृत्ति का ही अन्य नाम। विशेष दे० समासवृत्ति।

समाधान—मुख नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० मुख।

समाधि – (१) दंडी के शब्दों में जहाँ लोक-सीमा के अनुरोध से किसी वस्तु एक धर्म एक दूसरी वस्तु में ठीक तरह से आरोपित किया जाय, वहाँ समाधि गुण होता है, यह भी उनके द्वारा वैदर्भ मार्ग के लिए स्वीकृत दस गुणों में से एक है, यद्यपि भरत ने इसे काव्य के दस सामान्य गुणों में गिना है। दंडी ने इस गुण को काव्य का सर्वस्व माना है। यह ऐसा गुण है कि सारा कवि सम्प्रदाय इसका आश्रय लेता है।

यह गुण अंग्रेजी के विशेषण-विपर्यय से थोड़ा-बहुत साम्य रखता है। वैसे तो नेत्र खुलते या बन्द होते हैं, पर यदि कमलों को खुलता या बन्द होता हुआ बताया जाय तो यह समाधि गुण की उद्भावना होगी।

समाधि—(२) **समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात्।**

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो सुगम कार्य में भी देववश दूसरी वस्तु हो जाने पर होता है। जैसे—

हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गरजा, कपि बढ़ि लाग अकास॥

यहाँ हनुमान् के लिए सुगम लंकादाह ४९ पवनों के देववश चल उठने से

और सुगम होता दिखाया गया है।

समानधर्म—उपमा अर्थालंकार के अंग साधारण धर्म का ही अन्य नाम। विशेष दे० साधारण धर्म, उपमा।

समान सवैया—सोलह-सोलह मत्त भ अंता, छन्द समान सवैया सोहत। सोलह-सोलह पर यति वाली बत्तीस मात्राओं और अन्त में भगण से बनने वाला लाक्षणिक जाति का सम मात्रा छन्द। इसे सवाई भी कहते हैं।

समानिका—रा ज गा समानिका, प्रत्येक पाद में रगण, जगण और गुरु (SIS, ISI, S) वाला उष्णिक् जाति का समवृत्त छन्द।

समानी—मल्लिका नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मल्लिका।

समाप्त पुनरात्तत्त्व—बात के पूरी हो जाने पर बेकार में उसके एक अंश को उठा लेने से पैदा होने वाला दोष (दे० यथा)। यह वाक्य दोष तो है ही, अर्थ दोष भी है। इसे निर्मक्तपुनरात्तत्व भी कहते हैं।

समालोचना—साहित्य या कला की कृति पर विचार या उसका मूल्यांकन। उसके गुण-दोषों की सक्षिप्त विवेचना पहले कुछ राह चलती सूक्तियों से हुआ करती थी, धीरे-धीरे इसका विकास हुआ। किसी की आलोचना करने का अर्थ दोष निकालना या टिप्पणी कसना-सा हो गया है, पर समालोचना केवल दोष निकालना ही नहीं, बल्कि 'टकर' के मत से योग्य समालोचक गुण कम नहीं परखता। समालोचना चाव पैदा करने और रुचि सँभालने में बड़ी काम आती है और हम द्विवेदी और शुक्ल की देन भूल नहीं सकते। आज पत्र-पत्रिकाओं की समालोचना में, जो समीक्षा (दे० यथा०) अधिक होती है, इस शक्ति का सदुपयोग नहीं हो रहा है। समालोचक के लिए आलोच्य विषय का ज्ञान, निष्पक्षता, सहानुभूति और मर्यादित शिष्टता आवश्यक गुण हैं। कुछ लेखक समालोचक को शुरू से ही शत्रु मानते हैं और कुछ उससे उदासीन रह उसकी चिन्ता नहीं करते। पर तीसरे प्रकार के उसे मित्र मान उसके परामर्श से लाभ उठाते हैं।

समालोचना के बाबू गुलाबराय और आचार्य शुक्ल के मत से निम्न कई प्रकार हैं। निर्णयात्मक समालोचना में गुण-दोष विवेचना कर उसका मूल्य निर्धारण किया जाता है। व्याख्यात्मक समालोचना मूल्य निर्धारण न कर आलोच्य ग्रन्थ की बातों को व्यवस्थित रूप में सामने रख उनका स्पष्टीकरण करती है और वैज्ञानिक की भांति वर्गभेद तो करती है, पर ऊँच-नीच नहीं बतलाती। ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों को समेटने पर यही ऐतिहासिक समालोचना कही जाने लगती है। अन्तः वृत्तियों का अनुसंधान करने पर यह मनोवैज्ञानिक समालोचना के नाम से पुकारी जाती है। वस्तुवादी समालोचना आलोचक की अपनी बात न कह

वस्तु की निर्वैयक्तिक विवेंचना करती है और दूसरी ओर प्रभाववादी आत्मलक्षी समालोचना सब कुछ आलोचक को 'आत्म' को ही मानकर चलती है।

रामदहिन मिश्र का विभाजन निम्न प्रकार का है—(१) निगमनात्मक (डिडक्टिव) साहित्य की गतिशीलता पर विश्वास न रखने वाले—(२) विवेचनात्मक (इंडक्टिव)–साहित्य की गतिशीलता पर विश्वास करने वाले–(३) प्रभावात्मक,-आलोचक पर पड़े प्रभाव के अनुसार मूल्यांकन करने वाले (४)–निर्द्धारणात्मक,-कलाकार के समर्थक और (५)–सौन्दर्य दर्शनात्मक-सौन्दर्यतत्व के अनुसार चलने वाले।

समालोचना का एक अन्य महत्वपूर्ण भेद तुलनात्मक समालोचना है। प्रारम्भिक काल में सूर-तुलसी और देव-बिहारी के सम्बन्ध में तुलनात्मक रूप से बहुत कुछ लिखा गया था। अभी हाल में शचीरानी गुट्टू ने अपने 'साहित्य दर्शन' के २३ अध्यायों में 'कालिदास और शेक्सपीकर', 'तुलसी और मिल्टन', 'टाल्सटाय और टैगोर', 'प्रेमचन्द और गोर्की', निराला और ब्राउनिंग', 'शेली और पन्त', 'रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आनल्ड', 'हार्डी और प्रसाद, जैसे युग्मकों की तुलनात्मक आलोचना उपस्थित करके इस मार्ग को प्रशस्त किया है।

हिन्दी के समालोचकों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० पु० बख्शी, कृष्ण विहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा आदि नाम प्रारम्भिक युग में लिये जा सकते हैं। आगे चल कर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास और बाबू गुलाबराय ने इस परम्परा में प्रौढ़ता लाने की चेष्टा की। इसके बाद इस शास्त्रीय परम्परा में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा और डा० सत्येन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। रसवादी समालोचकों में डा० नगेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी और नन्ददुलारे वाजपेयी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचकों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डा० देवराज और नलिन विलोचन शर्मा तथा प्रगतिवादी आलोचकों में राहुल, डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान के नाम लिये जाते हैं। हिन्दी में और भी अनेकों प्रौढ़ समालोचक हैं और इस दिशा में अच्छी प्रगति होती जा रही है।

समासवृत्ति—रुद्रट की सम्मति में समासयुक्त पद संघटना को वृत्ति कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है–समस्ता और असमस्ता। समस्ता के भी अधिक, न्यून तथा मध्य समास के प्रयोग की दृष्टि से गौड़ीया, पांचाली तथा लाटीया ये तीन भेद भी क्रमशः रुद्रट ने बताए हैं। उनके मत से वृत्ति रीति का ही एक पर्यायमात्र है, केवल समास के आधार पर उसका नया वर्गीकरण उन को इस नाम में अभिप्रेत रहा है, अन्यथा उन्होंने भी रीति के प्राचीन विवेचन को स्वीकार किया है। (विशेष दे० रीति, वृत्ति)।

समासोक्ति—**समासोक्तिःसमैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः**
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ।

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें स्तुत और अप्रस्तुत में समान रूप से अन्वित कार्य, लिंग और विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाता है। यह समास (संक्षिप्त) उक्ति होती है, क्योंकि समान विशेषणों आदि से बलात् अप्रस्तुत की प्रतीति हो जाती है। उदाहरण—

(१) **तच्यों आंच अति विरह की, रह्यो प्रेम रस भीजि ।**
नैननि के मग जल बहै, हियौ पसीजि पसीजि ।।

--विहारी

यहां प्रस्तुत विरह वर्णन तथा अश्रुमोचन वर्णन से बलात् अर्थ निकालने की प्रतीति होती है। यहां कार्य-साम्य से समासोक्ति है।

(२) **अस्ताचल को रवि करता है, संन्ध्या समय गमन ।**
विरह व्यथा से हो जाती है, वसुधा सजल नयन ।।

यहा रवि गमन से नायक प्रस्थान और वसुधा से नायिका की प्रतीति हो जाती है। यहा लिंग साम्य से समासोक्ति है।

(३) **सालंकार सुवर्णयुत, रस निर्भर गुण लीन ।**
भाव निबन्धित जयतिजय कवि भारती नवीन ।।

—जसवन्त जसो भूषण

कहाँ कवि-भारती के श्लिष्ट विशेषण प्रस्तुत नायिका की भी प्रतीति कराते हैं। यह विशेषण साम्य वाली समासोक्ति विशेषण श्लिष्ट होने से तो होती है, औपम्यगर्भ और साधारण से भी होती है।

समाहित—एक अर्थालंकार, जो भावशांति के गुणीभूत हो किसी दूसरे का बन जाने पर होता है। समाहित का अर्थ है परिहार या दूर हो जाना। जैसे—"पहले तुम्हारे शत्र बड़ी बातें बना रहे थे तलवार घुमा-घुमाकर गर्जन-तर्जन कर रहे थे, उनमें बड़ा मद था। पर तुम्हारे आते ही वह सारा मद कहाँ उड़ गया? यहाँ मद नामक भाव की शान्ति राजविषयक रति भाव का अंग है।

समीक्षा—पत्र-पत्रिकाओं में किसी पुस्तक आदि की आलोचना में प्रकाशित होने वाला संक्षिप्त लेख। यह प्रायः परिचयात्मक होता है, और उस ग्रन्थ के साधारण गुण-दोष, छपाई-सफाई, मूल्य आदि की विवेचना करता हुआ, पाठकों के लिए उसकी उपादेयता या अनुपादेयता सिद्ध करता है।

स्थान विशेष में समय-समय पर दिखाए जाने वाले सामयिक नाटकों, प्रदर्श-

नियों और फिल्मों आदि के विषय में भी ऐसे लेख निकलते हैं। (दे० आलोचना, समालोचना।)

समीहा—प्रतिमुख नामक नाटक संधि का एक अंग। विशेष दे० प्रतिमुख।

समुन्दर—सरसी छन्द का अन्य नाम विशेष दे० सरसी।

समुच्चय—**समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके।**
खलेकपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपिचेत्॥
गुणौ क्रिये वा युगपत् स्यातां यद्वा गुणक्रिये। —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो कार्य के साधक किसी एक के होने पर भी दूसरे के भी उसी कार्य के साधक होने पर होता है। जैसे—"हे मलय पर पैदा हुए और गोदावरी तट से आये हुए पवन, यदि तुम्हीं मेरा अग जलाओगे, तो फिर मदांध जंगली काली कोयल क्या करेगी?"

(२) दो गुण और दो क्रियाओं या गुण और क्रिया के साथ होने पर भी समुच्चय अलंकार होता है। जैसे—"तरुणि, तुम्हारे नेत्र लाल हुए और प्रिय का मुख मलिन हो गया। तुम्हारा सिर नीचा हुआ तो उसके हृदय में कामाग्नि जल उठी।" यहा पहले गुणों का समुच्चय है, फिर क्रियाओं का। और देखिए—

(१) **बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।**
सौंह करैं भौंहनि हँसै देन कहे नट जाय॥

(२) **रूप गुन जोवन जलूस प्यार पी को तव,**
जो मही को जुरी सब जोम की जमाति है। —दूलह

यहां गर्व के लिए सभी कारण मुख्य हैं।

समुच्चयोपमा—एक अर्थालंकार जिसमें उपमेय की एक ही उपमा के साथ अनेक अर्थों से समता का वर्णन होता है। जैसे—

"मृदुल मुकुल-सा मंजु मनोहर शिशु का प्रादुर्भाव हुआ।"
—गोपालशरण सिंह

यहां शिशु की मृदुलता, मंजुलता और मनोहरता रूप तीन धर्मों से समता की गयी है।

सरस—दो पांच कल दो पांच कल, क्रम से चतुदर्श–रच सरस। दो-पाच, दो पांच के क्रम से चौदह मात्राओं से बनने वाला मानव जाति का सम-मात्रा-छन्द ।

सरसी—सोलह, ग्यारह कल ग ल अन्ता सरसी छन्द प्रमाण। १६–११ पर यति वाली २७ मात्राओं और अन्त में गुरु-लघु से बनने वाला नाक्षत्रिक जाति का सम-मात्रा-छन्द। इसे कबीर और समुन्दर भी कहते हैं।

सरणि—शब्दों का प्रयोग। संक्षेप और शोभनता के साथ भावों को

प्रकाशित करने के लिए किया गया उचित शब्दों का चुनाव और उनको सजाना।

सर्ग—महाकाव्यों के अध्याय। ऋषिप्रणीत महाकाव्यों में इनको आख्यान कहते हैं। प्राकृत महाकाव्यों में आश्वास और अपभ्रंश महाकाव्यों में कुडवक। (विशेष देखिए महाकाव्य)

सर्वतोभद्र—काव्य में अक्षरों का ऐसा चयन, जिससे विशेष प्रकार से विन्यास द्वारा सर्वतोभद्र चक्र बन सके। (विशेष देखिए चित्रकाव्य)

सर्वश्राव्य—नाटक में सबके सुनने योग्य संवाद। इसे प्रकाश-कथन भी कहते हैं। (विशेष देखिए नाट्योक्ति)

सवाई—समान सवैया छन्द का अन्य नाम। (विशेष देखिए सवैया)

सवारुण—न ज ल सवारुण, प्रत्येक पाद में नगण, जगण और एक लघु (।।।, ।ऽ।, ।) वाला उष्णिक् जाति का समवृत्त छन्द। इसे सुवारू भी कहते हैं।

सवैया—२२ वर्णों से लेकर २६ वर्णों तक के समवृत्त छन्दों का एक साधारण नाम। इसलिए हंसी, मंदारमाला, मदिरा, मोद, सुरेन्द्रवज्रा, वागीश्वरी, मत्तगयंद, चकोर, शैलसुता, गंगोदक, दुर्मिल, मुक्तहरा, किरीट, वाम, अरसात, सुन्दरी, अरविंद और कुन्दलता (दे० यथा०) सभी इसी कोटि में आते हैं।

सहचर-भिन्नत्व—शोभन पदार्थों के साथ अशोभन पदार्थ जोड़ देने से उत्पन्न अर्थ-दोष। जैसे "दुर्गति में डूबा हुआ सज्जन, गलितस्तनी कामिनी और सभा में पूजित दुष्ट, ये तीनों मेरे चित्त को क्षुब्ध करते हैं," यहाँ सज्जन और कामिनी दोनों शोभन होने से साथ चल सकते हैं, पर यहाँ दुष्ट को भी साथ समेट लिया गया है।

सहरा--विवाह के समय वरकन्या पक्षों की पारस्परिक कृतज्ञता और आभार-प्रदर्शन तथा वरकन्या को आशीष देने के लिए लिखी गई कविता।

सहेट—नायक-नायिका द्वारा मिलन के लिए निश्चित दिया गया गुप्त स्थल। (विशेष देखिए अभिसार-स्थान)

सहोक्ति—**सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः**
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदाभवेत्
—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिस में श्लिष्ट या अश्लिष्ट अभेदाध्यवसायमूला तथा कार्य-कारण के पौर्वापर्व वाली अतिशयोक्ति के गर्भ में रहने पर सहार्थ वाचक शब्दों की सहायता से एक शब्द दो अर्थों का वाचक होता है। जैसे—

(१) यौवनागम में इसके अधरोष्ठ और प्रियतम दोनों साथ ही रागयुक्त हुए—यहाँ राग में श्लेष होने तथा इस अभेदाध्यवसायमूला अतिशयोक्ति के कारण और 'साथ ही शब्द' रहने से सहोक्ति हुई।

(२) मुनि नाथ के गात रुमांचन सार्थाहि, वो सहसा सिव चाप उठायो।
नरनाथन के मुखमंडल सार्थाहि, जो अवनीतल ओर नमायो।
मिथिलेश सुता मन सार्थाहि त्यों पुनि खेंचि के जो छिन मांहि चढायो।
भृगुनाथ के गर्व अखंडित साथ, सो खंडित कै रघुनाथ गिरायो॥
—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

यहां कार्य-कारण पौर्वापर्य रूपा अतिशयोक्ति से गर्भित सहोक्तियों की माला है। सहार्थशब्दों का प्रयोग न होने पर भी सहार्थ विवक्षा में सहोक्ति ही होती है।

सहृदय—सहृदय के अनेक लक्षणों में अभिनवगुप्त द्वारा लोचन के पृ० ११ पर दिया गया यह लक्षण सर्वाधिक स्पष्ट, व्यापक तथा विशद है कि काव्य के नित्य अनुशीलन-अभ्यास या अध्ययन-चिन्तन से जिनका मनोमुकुर नितान्त विशद हो जाता है तथा जो वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता—तादात्म्य-क्षमता-रखते हैं, वे ही सहृदय हैं। अतएव सहृदय के लिए कवि के हृदय के साथ साम्य स्थापित करना परमावश्यक है। संस्कृत की एक प्रौढ़ा कवयित्री विज्जका ने सहृदय की एक अत्यन्त रोचक तथा चमत्कारपूर्ण परिभाषा दी है, वे कहती हैं कि कवि के अशब्द गोचर (गूढ़, व्यंग्य) अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा अपने हृदयोल्लास की सूचना नहीं देता, प्रत्युत जिसके रोमांचपूर्ण अंग हृदय की आनन्द-लहरी का परिचय मौन रहकर ही दे देते हैं, वही सच्चा सहृदय है। कविजगत् में सहृदय का भी एक विशिष्ट स्थान है। काव्य के मर्मज्ञों की—सच्चे सहृदयों की—कमी भले ही हो किन्तु कवि अपने भावों का प्रकाशन ऐसे ही व्यक्तियों के लिए करता है। स्वांतः सुखाय रचना करने की प्रतिज्ञा करने वाले तुलसी को भी मानना पड़ा था कि जिन काव्य-प्रबन्धों का आदर 'बुध' नहीं करते, उनमें किया गया व्यर्थ श्रम बालश्रम भर है। वक्रोक्तिवादियों तथा ध्वनिवादियों के सम्प्रदायों में जहाँ चमत्कारपूर्ण अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहती है, उन अर्थों को हृदयंगम कर प्रसन्न होने वाले सहृदयों का महत्व और भी अधिक हो जाता है। इसका महत्व उन सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।

सांग—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। (विशेष दे० रूपक)

साकांक्षत्व—साकांक्ष (आवश्यक) पद के अनुपस्थित रहने से उत्पन्न अर्थ दोष। (दे० यथा०)

सात्वती—सत्वप्रधान वृत्ति को सात्वती वृत्ति कहते हैं। सत्व शब्द के दो अर्थ लगाए गए हैं तथा इसका निरूपण भी दो प्रकार से किया गया है। पहला अर्थ तो मन है। अभिनवगुप्त मनोव्यापार रूपा सात्विकी वृत्ति को सात्वती बताते हैं, पीछे से भोज तो इसे सात्विकी ही कहने लगे। सत्व का दूसरा अर्थ वीरत्वपूर्णता

लिया गया है तथा सच्चे पराक्रमी पुरुष की वीररसात्मिका चेष्टाओं को सात्वती वृत्ति माना गया है। भरत के मत से इसमें हर्ष ही हर्ष रहता है तथा शोक का सर्वथा अभाव रहता है। इसमें न्यायवृत्त का विधान होता है अर्थात् संग्राम की चर्चा में जहां आरभटी में छल, माया और प्रपंच को प्रधानता दी जाती है, यहां नैतिकता और चरित्र के साथ-साथ युद्ध-नियमों के पालन का ध्यान रखा जाता है। इस वृत्ति में वीर, अद्भुत तथा रौद्र रसों की प्रचुरता रहती है। उद्धत पुरुषों से युक्त होने पर भी न्यायवृत्त के आचरण से यह आरभटी से भिन्न हो जाती है। सत्व, शौर्य, दया तथा सरलता गुणों वाले धर्मवीर तथा वस्तुतः पराक्रमी धीरोदात्त नायक के व्यापार से ही इसका विशेष सम्बन्ध होता है।

सात्वती बहुला सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः
सहर्षाः क्षुद्रशृंगारा विशोका साद्भुता तथा।

—साहित्यदर्पण

सात्विक गुण—शोभा विलासो माधुर्यं गांभीर्यं धैर्यतेजसोः।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्वजा पौरुषा गुणाः।

—साहित्यदर्पण

नायकों के सत्व समुद् भूत आठ गुण होते हैं। (१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) गांभीर्य, (५) धैर्य, (६) तेज (७) ललित, और (८) औदार्य। ये गुण रसो के अनुभव के बाद उत्पन्न होने वाले स्तम्भ आदि आठ सात्विक भावों से भिन्न हैं। वे स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप में होते हैं, जब कि ये केवल पुरुषों में पाये जाते हैं। (आठों भेद दे० यथा)

सात्विक भाव—विकाराःसत्वसंभूताः सात्विका परिकीर्तिता।—साहित्यदर्पण

सत्व (आत्मा में विश्रांत रस का प्रकाशक, अन्तःकरण का धर्म) गुण से उत्पन्न विकार। वैसे तो ये एक प्रकार के अनुभाव (दे० यथा०) ही हैं, पर सत्वसमद्भूत होने के कारण इनको अलग गिना जाता है। ये आठ हैं—स्तम्भ (शरीर-गति रुक जाना), स्वेद (पसीना छूटना), रोमांच (रोंगटे खड़े होना), स्वरभंग (घिग्घी बँधना, ठीक शब्द न निकलना), कंप (कंपकंपी), विवर्णता (आकृति का रंग बदल जाना) अश्रु (आँसू बहाना) और प्रलय (तन्मयता में अचेत हो जाना) लछिराम ने निम्न कवित्त में आठों के उदाहरण समेटे हैं।

ह्वै रही अडोल थहरात गात बोले नाहिं,
बदल गई है छटा बदन सँवारे की।
भरि भरि आवे नीर, लोचन दूहूंन बीच,
सराबोर स्वेदन में सारी रंग तारे की।

पुलक उठे हैं राम कछुक अचेत फ़ेरि,
कवि लछिराम कौन जुगुति विचारे की।
बानक सौ डगर अचानक मिल्यौ है लगि,
नजर तिरीछी कहूं पीत पटवारे की॥

—काव्यालोक से

साधनानुगम—शिल्पक नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० शिल्पक।

साधारण दण्डक—२६ वर्णों या ३२ मात्राओं से बड़े छन्दों का एक भेद। दे० दण्डक।

साधारण धर्म—उपमा अर्थालंकार का एक अंग। विशेष दे० उपमा।

साधारणीकरण—सामाजिक के हृदय में दृश्य-श्रव्य रस के योग के विषय में तादात्म्य या अभेद-प्रतीति। विशेष दे० रस।

साध्यवसाना—लक्षणा नामक शब्द-शक्ति का एक भेद। विशेष दे० लक्षणा।

साध्वस—भाणिका नामक उपरूपक का एक अंग। विशेष दे० भाणिका।

साम—नायिक द्वारा नायिका का मान तोड़ने के लिए अपनाए जाने वाला एक उपाय। विशेष दे० मानभंग।

सामाजिक—काव्य-नाटक-साहित्य आदि के पाठक, श्रोता और दर्शक का एक साधारण नाम। (दे० रस)

सामान्य—**सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः।**

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकर, जो सदृश गुणों के कारण प्रकृत वस्तु का अन्य वस्तु के साथ भेद प्रतीत न होने पर होता है। जैसे (१) केशपाश में मल्लिका सुमन लगाए और चन्दन से देह को लेपे हुए शुक्लाभिसारिकाएँ चाँदनी में निश्चिन्त हो जाती हैं। मीलित अलंकार में अच्छे गुण से बुरा गुण छिप जाता है, यहाँ दोनों के समान गुणों के कारण भेद प्रतीति नहीं होती।

(२) **पैन्है सेत सारी बैठ फानुस के पास प्यारी।**
कहत बिहारी प्रान प्यारी धौं कितै गई॥

सामान्या—धीरा, नृत्यादि कला प्रवीण, सर्वसामान्य वेश्या नायिका। यह न निर्गुण पुरुष से द्वेष करती है, न गुणी से अनुराग। प्रिय पुरुष भी धनहीन हो जाय तो माता द्वारा उसे भी निकलवा देती है, स्वयं नहीं, जिससे पुनः धनागम होने पर उससे मेल कर सके। चोर, मूर्ख अनायास धन पाने वाले वेष बनाने वाले सन्यासी आदि इसको प्यारे होते हैं। कभी-कभी यह कामवश होकर सत्य ही अनुरक्त होती है किन्तु चाहे यह अनुरक्त हो या विरक्त, इसमें रति सुदुर्लभ है।

साम्यमूलक—अलंकारों का एक वर्गीकरण। विशेष दे० अलंकार।

सार—उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनःसारमुच्यते

—साहित्यदर्पण

एक श्रृंखलामूलक अर्थालंकार, जिसमें श्रृंखला रूप में आए पदार्थों का परस्पर उत्कर्ष या अपकर्ष बताया जाता है। क्रमशः उदाहरण—

(१) काव्यों में नाटक, नाटकों में शकुन्तला, शकुन्तला में चौथा अंक और चौथे अंक में भी श्लोक चतुष्टय रम्य है।

(२) तृण ते तूल रु तूल तें हरवो जचक जान।

—काव्य-शिक्षा

सार—(२) प्रत्येक पाद में एक गुरु और एक लघु वाला अत्युक्ता जाति का समवृत्त छन्द।

सार—(३) सोलह बारह कल यति देकर सार ललित ग ग अते, १६-१२ पर यति वाली २८ मात्राओं और अन्त में दो गुरु से बनने वाला यौगिक जाति का सम मात्राछन्द।

सारूप्य—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

सारोपा—लक्षणा नामक शब्द-शक्ति का एक भेद। विशेष दे० लक्षणा।

सावयव—रूपक नामक अर्थालंकार का एक भेद। इसे सांग भी कहते हैं। विशेष दे० रूपक।

साहसिक उपन्यास—एक पुरुष को नायक मानकर उसकी यात्रा तथा अनुभवों को केन्द्रित बनाकर लिखा गया उपन्यास। इसमें प्रधान पात्र ही सब कुछ होता है और उसी की गाथा वर्णित की जाती है।

साहाय्य—नाटक में रसानुकूल प्रयुक्त होने वाले ३३ नाट्यालंकारों में से एक विशेष दे० नाट्यालंकार।

साहित्य—व्यापक साहित्य शब्द नाम-रूप (शब्द-अर्थ) का सहयोग (सहित होने का भाव) ही नहीं है, बल्कि रवीन्द्र के शब्दों में वह मनुष्य और मनुष्य का अतीत और वर्तमान का, दूर और निकट का अन्तरंग-मिलन भी है, जो अन्य से सम्भव नहीं। वह युगयुगान्तर की वस्तु है और परम वांछनीय तथा परम दुर्लभ है। एमर्सन उसे भव्य विचारों का लेखा कहते हैं, तो फोर्ड मेडक्स उसे मनोरंजन आनन्द के लिए दुनिया के बहुसंख्यक लोगों द्वारा पढ़ी जाने वाली पुस्तक-समष्टि बताते हैं। डा० सूर्यकांत शास्त्री, मैथ्यू आर्नल्ड की जीवन की आलोचना वाली काव्यपरिभाषा को साहित्य की परिभाषा ठहराते हैं। वे नेति-नेति प्रक्रिया द्वारा बढ़कर साहित्य में स्थायिता

रागात्मक तत्व, व्यक्तित्व का प्रतिफलन, उसके द्वारा मनोवेगों का तरंगन (जब कि विज्ञान द्वारा मस्तिष्क का) आदि उपकरण बताते हैं और उसके मनोवेगों को क्षण-भंगुर और उसकी भावना को चिरस्थायी पाते हैं। उसमें कल्पना (मिथ्या) और सत्य दोनों का साथ होता है।

सहित शब्द से भाव में ष्यञ् प्रत्यय द्वारा साहित्य शब्द व्युत्पन्न होता है, जो समन्वय, साहचर्य और हित-साधना का अर्थ देता है। यद्यपि स्काट जेम्स ने ही क्विंसे के ज्ञान-साहित्य (उपदेशात्मक, शिक्षा और नैतिकता प्रधान) और शक्ति-साहित्य (सौन्दर्य-प्रधान, प्रेरक मनोरंजक) वर्गीकरणों का उल्लेख करते हुए पिछले साहित्य को ही सत्साहित्य बताया है, पर साहित्य की सौन्दर्य और मनोरंजन-साधना तथा लोक-हित-साधना का यह झगड़ा बहुत पुराना है। होरेस और ड्राइडन भी शिक्षा और आनन्द दोनों ही पहलुओं पर तुल्य बल देते हैं, और रस्किन भी कला (साहित्य भी) से नैतिकता को अविभाज्य पाते हैं। हमारे तुलसी भी गंगा के समान उसी ग्रन्थ (भणिति) को सुन्दर मानते हैं, जो सर्वजनहिताय हो। रवीन्द्र भी अपने 'साहित्य' में कला और नैतिकता का अपरिहार्य सम्बन्ध बताते हैं, और शरच्चन्द्र महोपाध्याय आदि विद्वान् भी यही सोचते हैं। पन्त जी भी भले ही पल्लव की भूमिका में सहित के साथ होने वाले ष्यञ् प्रत्यय का परिहास उड़ा लें, पर जैसा पं० रामदहिन मिश्र ने अपने काव्यालोक में स्पष्ट कर दिया है, वे जनहित को छोड़ नहीं सकते। (और दे० कविता)।

दास जी के शब्दों में ऐतिहासिक दृष्टि से किया गया किसी साहित्य का अध्ययन उसके परम्परागत जीवन और परिवर्तनशील रूप पर प्रकाश डालता है और किसी जाति का साहित्य उसकी क्रमिक उन्नति का फल होता है। जाति, स्थिति और काल ही साहित्य के विकास में सहायक होते हैं। भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों की छाप उस पर पड़े बिना नहीं रहती। जाति पर पड़ा विदेशी प्रभाव भी साहित्य में बिंबित हो जाता है।

साराशतः साहित्य वह लिखित वस्तु-जात है, जिसका काम सूचना देना मात्र नहीं, बल्कि हड्सन के शब्दों में वह भाषा द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति, जीवन के किसी पहलू का कलापूर्ण प्रतिनिधान है। व्यापक साहित्य में सभी लिखित सामग्री दैनिक समाचारपत्र तक आ जाते हैं, पर उसका संकीर्ण अर्थ गद्य-पद्य के मनोरंजक और कलापूर्ण विभागों तक ही सीमित है। डा० सूर्यकान्त ने साहित्य के तीन तत्वों (कल्पना, बुद्धि और भाव) का विस्तृत विवेचन किया है। मनुष्य के आनन्द की पराकाष्ठा कल्पना में है। बुद्धि के सहारे यह अपना सन्देश (जीवन का लक्ष्य) देता है। उचित, विशद, शक्तिमान्, स्थिर और विविध गुणों वाले भाव या मनोवेग उसके सन्देश को युग-युगान्तर का बना देते हैं और हेय का ध्वंस कर नित्य श्रेय को उन्नत करते हैं। वही

साहित्य का लक्ष्य है।

साहित्य-विद्या—अलंकारशास्त्र का ही एक नाम। विशेष दे० अलंकार-शास्त्र।

साहित्य-सम्प्रदाय-सम्बन्ध—क्षेमेन्द्रके "**औचितीमनुधावन्ति सर्वेध्वनि रसादयाः**
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः।

श्लोक के अनुसार भारतीय साहित्य सम्प्रदायों का पारस्परिक सम्बन्ध बताने के लिए डा० राघवन के प्रसिद्ध ग्रन्थ से उद्धृत करके श्री रामनरेश वर्मा ने अपनी 'वक्रोक्ति और अभिव्यंजना' के पाँचवें परिशिष्ट में एक सम्बन्ध चित्र दिया है, जो इन सम्प्रदायों के पारस्परिक सम्बन्ध पर पूरा प्रकाश डालता है।

सिंहविक्रीड—जहां नौ य हो छन्द शास्त्रार्थ वेदी तहां सिंहविक्रीड भावैं समारंजकों को। नौ यगणों से बनने वाला साधारण वर्ण दण्डक छन्द।

सिंहोन्मत्ता—बसन्ततिलका छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० बसन्ततिलका।

सिद्ध—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त होने वाले ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

सीता—रा त मा या रा बनाओ छन्द सीता सोहना। रगण, तगण, मगण, यगण और रगण से बनने वाला अतिशक्करी जाति का समवृत्त छन्द।

सुन्दरी (१)—सगणा जब आठ मिले उनमें गुरु 'सुन्दरि सुन्दर छन्द बने तो, सात सगणों और एक गुरु से बनने वाला अतिकृति जाति का समवृत्त छन्द। इसे सुखदानी भी कहते हैं।

सुन्दरी (२)—स स जा ग रहैं अयुग्म में, युग में सा भर लाग सुन्दरी, प्रथम तृतीय चरणों में दो सगणों, जगण और गुरु तथा द्वितीय चतुर्थ चरणों में सगण, मगण, रगण, लघु और गुरु से बनने वाला अर्द्धसमवृत्त छन्द।

सुकुमारता—कोमल तथा परुष वर्णों के मिश्रण को सुकुमारता के नाम से पुकारते हैं तथा भरत द्वारा काव्य के दस सामान्य गुणों तथा दंडी द्वारा वैदर्भ मार्ग के गुणोंमें गिना गया यह एक गुण है। इसके विपरीत परुष वर्णों के प्रचुर प्रयोग से हृदय उद्दीप्त होता है उसे दीप्तत्व कहते हैं। अतएव जहां निष्ठुर अक्षर प्रायः न हों, उसे सुकुमारता कहते हैं—

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते —दण्डी १।६९

सुखदानी—सुन्दरी नामक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० सुन्दरी।

सुखान्त नाटक—मनोरंजक अगंभीर नाटक, जिसका अन्त सुखकर ही हो। अंग्रेज़ी शब्द कामैडी का यह अनुवाद सर्वग्राही न होने पर भी अधिक प्रचलित हो गया है। कुछ विद्वान् इसे कामद नाटक और ट्रेजेडी को त्रासद नाटक नाम से पुकारते हैं।

अक्षर-साम्य होने पर भी और अच्छे लगने पर भी ये शब्द मूल के बिलकुल निकट नहीं पहुंचे। यह ध्यान रखना होगा कि भारत में दुखान्त नाटक 'उरुभंग' को छोड़ दूसरा नहीं लिखा गया था, क्योंकि यहाँ काव्यगत न्याय में अत्यधिक विश्वास था, और पापी को दण्ड मिलना अनिवार्य था। यह भी ठीक है कि परिभाषा के अनुसार ठीक-ठीक नाटक इनमें से एक भी नहीं होते और दोनों का परस्पर सम्मिश्रण होता रहता है। त्रासद में मनोरंजक-तत्त्वों के आ जाने पर उसे कामद-विश्राम (कौमिक रिलीफ) कहते हैं, इसी प्रकार कामद में भी घटना के प्रकर्ष और विकास में बाधा डालना आवश्यक हो जाता है और त्रासद-तत्त्वों का उपयोग करना होता है। दुखान्त नाटक में अन्त दुखमय अवश्य होना चाहिए।

सुगती—कल सात गा, अन्त सुगता, सात मात्राओं और अन्त में गुरु से बनने वाला लौकिक जाति का सम-मात्रा-छन्द।

सुनन्दिनी—मंजुभाषिणी छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मंजुभाषिणी।

सुपथ—स्वागता छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० स्वागता।

सुप्रतिष्ठा—५ वर्णों वाले छन्दों की जाति का नाम। विशेष दे० वृत्तजाति।

सुभग—दस दसहु यति ते चालीस फल जान, रच सुभग अभिराम, रच तगण पुनि अन्त, १०, १०, १० और १० पर यति वाली ४० मात्राओं और अन्त में तगण से बनने वाला सम मात्रा दण्डक-छन्द।

सुमालती—सुमालति जा ज, प्रत्येक पाद में दो जगण। (।ऽ।, ।ऽ।) वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द।

सुमुखी—जकार मिलें जब सात तथा लघु एक गुरु इक सो सुमुखी, सात जगणों, लघु और गुरु से बनने वाला विकृति जाति का समवृत्त छन्द। इसे मल्लिका और मानिनी भी कहते हैं।

सुमेरु—१९ मात्राओं, प्रथम-अक्षर लघु और अन्त में यगण होने तथा तगण, रगण और जगण के न होने से बनने वाला महापौराणिक जाति का सममात्रा छन्द।

सुरलता—सर्व गुरु (ऽऽ) मात्रागण को करण या सुरलता कहते हैं। विशेष दे० गण।

सुरेन्द्र वज्रा—ता ता ज ता रा भ र गा ग सोहै सुरेन्द्रवज्रा कविवृन्द मोहै। दो तगणों, जगण, तगण, रगण, भगण, रगण और गुरु से बनने वाला आकृति जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ११, ११ पर यति होती है।

सुवारु—सवारुण छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० सवारुण।

सूक्ष्म—**संलक्षितोऽपिसूक्ष्मोर्थः आकारेणेंगितेन वा।**
कयापि सूच्यते भंग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते॥ —साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो आकारचेष्टा से पहचाना हुआ सूक्ष्म अर्थ किसी युक्ति से सूचित करने पर होता है। जैसे (१) "विदग्धा नायिका ने दूती की संकेत काल जानने की जिज्ञासा समझ हँसते हुए अपना लीलाकमल मूँद दिया।" इस प्रकार यहाँ सन्ध्याकाल (कमल निमीलन काल) सूचित किया गया है।

(२) **कोस में चलायो कर कमल को कोस है।** —दूलह

मुट्ठी कोस (कोछे) में चलाई। कमल बन्द होने पर मिलन का संकेत है।

सूची—तालिका, छन्द-शास्त्र में प्रत्यय (दे० यथा०) का एक भेद, जिसके द्वारा किसी विशेष जाति के वर्णिक या मात्रिक छन्दों की कुल संख्या का पता लगता है। वर्णिक छन्दों की सूची का नियम निम्न विवरण से सुगमता से जाना जाएगा।

वर्ण संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
भेद संख्या	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६

इस प्रकार ७ वर्णों के छन्द के कुल भेद १२८ होते हैं और ८ वर्णों के छन्दों के उससे दूने २५६, इसी प्रकार आगे भी जाना जा सकता है।

मात्रिक छन्दों की सूची का नियम निम्न विवरण से सुगमता से जाना जाएगा—

मात्रा संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
भेद संख्या	१	२	३	५	८	१३	२१	३४

इस प्रकार मात्राओं के छन्दों के भेद १३ होते हैं और ७ मात्राओं के छन्दों के भेद २१, इन दोनों को जोड़कर ३४ भेद ८ मात्राओं के छन्दों के होते हैं, इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

सूची को संख्या भी कहते हैं।

सूत्रधार—निर्देशक, नाटक में नांदी के बाद आने वाला पात्र। इसका कार्य वस्तु की सूचना देना होता था। इसके साथी का नाम पारिपार्श्विक होता था। नट या नटी नामक साधारण अभिनेता भी इसके सहायक बनते थे। कहीं-कहीं नट और सूत्रधार एक ही देखे जाते हैं और वस्तुतः प्रधान नट (अभिनेता) ही सूत्रधार होता भी है। स्थापक (दे० यथा०) तो बाद में सूत्रधार में मिल ही गया। पुराने कठ-पुतलियों के द्वारा होने वाले नाटकों में कठपुतलियों के सूत्र इसके हाथ में रहने के कारण इसका नाम सूत्रधार पड़ गया। बाद में यह नाटक के अभिनेताओं के मुखिया का नाम हो गया। यह केवल नाटक के आमुख या प्रस्तावना में ही आता है। नये नाटकों ने प्रस्तावना के साथ इसे भी उड़ा दिया है।

सैंधव--नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त १० लास्यांगों में से एक। विशेष दे० लास्यांग।

सोमराजी--य दो सोमराजी, प्रत्येक पाद में दो यगण वाला गायत्री जाति का समवृत्त छन्द।

सोरठा--सम तेरह विषमेश, दोहा उलटे सोरठा, विषम (१, ३) पादों में ११ मात्राएँ और तुक होने तथा सम (२, ४) पादों में १३ मात्राएँ होने अर्थात् दोहे के सम पाद विषम और विषम पाद सम बन जाने पर बनने वाला अर्द्धसम मात्रा-छन्द।

सौम्य शिखा--अनंगक्रीडा छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० अनंगक्रीडा।

सौरभक—प्रथम चरण में सगण, जगण, सगण और लघु, द्वितीय चरण में नगण, सगण, जगण और गुरु, तृतीय चरण में रगण, जगण, भगण और गुरु, तथा चतुर्थ चरण में सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु से बनने वाला विषम वृत्त छन्द। इसका तृतीय पाद भिन्न है, शेष उद्गता (दे० यथा०) के ही समान है।

स्तम्भ—स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः

—साहित्यदर्पण

भय, हर्ष, रोग आदि के कारण हाथ-पैर आदि की चेष्टा का रुक जाना। यह एक सात्विक भाव है।

स्त्री—कामा छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० कामा।

स्थापक—नाटक में नांदी और पूर्वरंग की समाप्ति के बाद सूत्रधार के चले जाने पर आने वाला वैसी ही भूषा वाला पात्र। इसका कार्य वस्तु, बीज, मुख या पात्र आदि की सूचना देना है। वस्तु दिव्य हो, तो यह देवता का रूप बनाकर आता है, अन्यथा मर्त्य रूप। सूत्रधार के तुल्य होने के कारण इसे भी पीछे सूत्रधार ही कहने लगे। (दे० सूत्रधार)

स्थायीभाव—विरुद्ध या अविरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके, वह आस्वाद का मूलभूत भाव। जैसे माला के अनेक गुरियों में एक ही सूत्र अनुगत होता है, इसी प्रकार अन्य भावों में अनुगत होने वाला स्थायी भाव किसी से तिरोहित नहीं होता, प्रत्युत पुष्ट हो जाता है।

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः
आस्वादोंकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः।

—साहित्यदर्पण

ये नौ होते हैं, जो क्रमशः एक-एक रस का प्रतिनिधित्व करते हैं। दसवें

स्वकीया—विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।

—साहित्यदर्पण

विनय-शीला, सरल, गृह-कार्य में तत्पर और पतिव्रता स्त्री स्वकीया नायिका कहलाती है। इसके तीन भेद हैं—१. मुग्धा, २. मध्या और ३. प्रगल्भा। और इनके उपभेदों को जोड़ कुल १३ भेद होते हैं। (भेद दे० यथा०)

स्वगत-कथन—पात्र के चरित्र और अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए पुराने नाटककार इस उपाय को अपनाते थे, जिसमें कोई पात्र आप ही आप कुछ कहकर अपनी बात दूरस्थ श्रोताओं के निकट स्पष्ट कर देता था और निकटस्थ अन्य पात्रों से छिपा लेता था। इस उपाय की चरम प्रतिष्ठा आकाशभाषित आदि के साथ भाण आदि एकपात्री नाटकों में चरम सीमा तक पहुँच गई। इब्सन के बाद यथार्थवादी नाटकों के उद्भव ने इस अस्वाभाविकता को दूर कर दिया। किन्तु अभिव्यंजनावाद के झोंके में पात्र के आन्तरिक संघर्ष को अभिव्यक्त करने के लिए कुछ अप्रकट रूप में स्वगत कथन को पुनः प्रयोग में लाया गया है।

कथावस्तु को आगे बढ़ाने वाले इस उपाय का प्रयोग पुराने ग्रीक नाटकों में न होता था और कोरस से काम चलाया जाता था। फिर एक विश्वासपात्र की सृष्टि की गई। नाटककार अपनी टिप्पणी देने के इस अचूक साधन के मोह में प्रायः पड़ते रहे हैं। (दे० नाट्योक्ति)

स्वच्छन्द-छन्द—मुक्तक छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मुक्तक छन्द।

स्वच्छन्दतावाद—काव्य को पुरानी बँधी रीतियों से हटाकर केवल मुक्त कल्पना और भावों की अप्रतिबद्ध गति को अपनाने वाली काव्यधारा। फ्रांसीसी राज्य-क्रांति के बाद सामान्य नवचेतना के अरुणोदय में उन्नीसवी शताब्दी में यह धारा इंगलैंड में खूब पनपी और वर्डसवर्थ, कालरिज, शैली, कीट्स, टेनीसन आदि अनेक चोटी के कवियों ने इसे अपनायो।

स्वच्छन्दतावाद का अपना अलग दर्शन है। चूँकि समाज अनेकों कांटे व्यक्ति की राह में बिछा देता है, इसलिए प्राकृतिक मुक्त जीवन में ही स्वच्छन्दता मिलने की सम्भावना है। यह स्वच्छन्दता तर्क में नहीं बल्कि कल्पना और मनोवेगों में देखने को मिलती है। यूरोप में इसका विकास प्रतिष्ठित ग्रन्थों में अन्धभक्ति दिखा उनकी रूढ़ि पर चलने वाले नव प्रतिष्ठित ग्रन्थवाद या शास्त्रीयतावाद (क्लासिसिज्म) की प्रतिक्रिया में हुआ। स्वच्छन्दतावादियों ने अपेक्षतया सरल प्राकृतिक विषयों और सहज स्वाभाविक भाषा को अपनाया। प्रकृतिवाद (दे० यथा०) से इनका सीधा सम्बन्ध रहा। हिन्दी में श्रीधर पाठक का नाम इस परम्परा के उन्नायकों में लिया जा सकता है।

स्वप्न—**स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।**
कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ।

—साहित्यदर्पण

नींद में डूबे मनुष्य का विषयानुभव । यह एक संचारी भाव है । देखिए—

खुल गए कल्पना के नेत्र महीपाल के
सीख पड़ी वृद्धा पराधीना दीना बंदिनी
आर्यभूमि— —आर्यावर्त

स्वभावोक्ति—**स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ।**

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जो किसी वस्तु के रूप स्वभाव चेष्टाओं आदि का ऐसा यथावत् वर्णन करने पर होता है, जो कवि को ही सुलभ रहता है और शेष दुनिया के लिये दुर्लभ और दुरूह । जैसे—

कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुकि ठुमुकि हरि चलहिं पराई ।
धूसर धूरि भरे तनु आए, भूपति बिहंसि गोद बैठाए ।। आदि

स्वभावोक्ति अलंकार है या नहीं, इस विषय को लेकर विद्वानों में बड़ा विवाद रहा है । भामह इसे अलंकार मानते हैं, और इसका चमत्कार तत्स्वरूप वर्णन आदि में समझते हैं (२।९२-९४) । दण्डी भी उसी परम्परा में उसे आद्य अलंकार मानते हैं—

नानावस्थपदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ।।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।

रुद्रट भी अलंकारों के अपने वर्गीकरण (१. वास्तव, २. औपम्य, ३. अतिशय, और ४. श्लेष) में इसे पहला स्थान देते हुए इसे अलंकार मानते हैं । उद्भट भी क्रियाप्रवृत्त मृग, डिंभ (बच्चे) आदि की क्रीड़ाओं के वर्णन को स्वभावोक्ति बताते हुए उसे अलंकार मानते हैं । सरस्वती कण्ठाभरणकार भोजराज भी उक्त परम्परा से दूर गये बिना ही वाङ्मय को वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, और रसोक्ति इन तीन टुकड़ों में बाँटकर रसोक्ति को सर्वाधिक ग्राह्य बताते हैं । (सरस्वतीकंठाभरणः ३।४, ५-८) । पर कुंतक अकेले ही इस पूरी परम्परा को अपने अकाट्य तर्कों द्वारा परास्त करते हुए प्रतीत होते हैं । उनका कहना है कि स्वभाव वर्णन के सिवा और कुछ वर्णन तो हो ही नहीं सकता । फिर वे स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं, बल्कि अलंकार्य मानते हैं—

शरीरं चेदलंकारः किमलं कुरुते परम् ।
आत्मेव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ।

—वक्रोक्तिजीवित १।१३

स्वभावोक्ति का पुराना नाम जाति था और बाण ने नवोऽर्थो जातिरग्राम्या में सम्भवतः उसी का निर्देश किया है।

स्वरभंग—**मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ।**

—साहित्यदर्पण

नशा, हर्ष और पीड़ा आदि के कारण गले के भर आने पर स्वर का तार टूट जाना। इसे गद्गद् भी कहते हैं। यह एक सात्विक भाव है।

स्वर-साम्य—परिस्थिति के अनुसार उपयोगी अक्षरों का चयन। (दे० वृत्त्यनुप्रास, उपनागरिका, कोमलावृत्ति)

स्वरूपोत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० उत्प्रेक्षा।

स्वांग—शारीरिक विकृति द्वारा की गई नकल। विशेष दे० नकल।

स्वागता—स्वागता र न भ दो गुरु जानो। रगण, नगण, भगण और दो गुरु से बनने वाला त्रिष्टुप जाति का समवृत्त छन्द। इसे गङ्गाधर तथा सुपथ भी कहते हैं।

स्वाधीन पतिका—रतिगुण से आकर्षित होकर प्रिय जिसका साथ न छोड़े, ऐसी विचित्र विलासों वाली नायिका। यह अवस्था के अनुसार किये जाने वाले नायिका के आठ भेदों में से एक है।

स्वाधीनभर्तृका—स्वाधीन पति का नायिका की अन्य नाम। विशेष दे० स्वाधीन पतिका।

स्वेद—**वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिधर्मश्रमादिभिः ।** —साहित्यदर्पण

सुरत, आतप और परिश्रम आदि के कारण देह से निकलने वाला जल। यह एक सात्विक भाव है।

हंसगति—ग्यारह नौ कल रुचिर हंस गति देखहु,' ११-९ पर यति के क्रम से बीस मात्राओं (महादेशिक जाति) का सममात्रा छन्द।

हंसी—(१) मा मा ता ना ना ना सा गा, बुधवर कथन करत यह हंसी। दो मगण, तगण, तीन नगण, सगण और गुरु से बनने वाला आकृति जाति का समवृत्त छन्द। इसमें ८, १४ पर यति होती है।

हंसी (२)—बसु मुनि सु हंसी अन्त लगा, १५ मात्राओं, ८-७ पर यति और अन्त में लघु और गुरु होने से बनने वाला तैथिक जाति का सम-मात्रा-छन्द। इसे चौबोला भी कहते हैं।

हतवृत्तत्व—छन्द के नियमानुकूल होने पर भी सुनने में ठीक न लगने, उसके रस विपरीत हो जाने या अन्त में ऐसे लघु वर्णों के होने से जो दीर्घ न हो सकें, यह वर्ण दोष (दे० यथा०) उत्पन्न हो जाता है।

हरि गीतिका—श्रृङ्गार रवि (१२) कल अन्त लग हरिगीतिका निर्मित करो। १६-१२ पर यति वाली २८ मात्राओं और अन्त में लघु गुरु से बनने वाला यौगिक जाति का सम-मात्रा-छन्द। यह पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं और छब्बीसवीं मात्राओं के ह्रस्व होने तथा अन्त में रगण होने से अधिक रुचिर रहती है।

हरिप्रिया—सूरज (१२) त्रिक दिसि (१०) विराम, अन्ते चरण गुरु धाम, रचो रे हरिप्रियाहिं, चंचरीक जानो; १२, १२, १२ और १० पर यति वाली ४६ मात्राओं और अन्त में गुरु से बनने वाला सम-मात्रा दण्डक छन्द। इसे चंचरीक भी कहते हैं।

हरिलीला—मुकुन्द छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० मुकुन्द।

हर्ष—**हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनः प्रसादोऽनुगद्गदादिकरः**

—साहित्यदर्पण

इष्ट की प्राप्ति पर मन की प्रसन्नता। इसमें आँसू, गद्गद् होना आदि क्रियाएँ होती हैं। यह एक संचारी भाव है। देखिए—

यह दृश्य देखा कवि चन्द न तो उसकी,
फड़कीं भुजाएँ कड़ी तड़की कवच की। —आर्यावर्त

हल्लीश—हल्लीशः एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दशवा स्त्रियः ।
वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्वला ।
मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः ।

—साहित्यदर्पण

उपरूपक के १८ भेदों में से एक भेद। इस एकाकी में ७-८ या १० स्त्रियां, एक उदात्त भाषी पुरुष, कैशिकी वृत्ति, मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा बहुत ताल-लय होती है। दर्पणकार केलिरैवतक इसका उदाहरण बताते हैं।

हसित (१)—दे० हास्य।

हसित (२)—हसितं तु वृथा हासो यौवनोद्भेदसंभवः । —साहित्यदर्पण

यौवन के आगमन से उत्पन्न अकारण हास। यह नायिका का एक स्वभावज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

हाकलि—त्रै चौकल गुरु हाकलि है, चौदह मात्राओं, तीन चौकलों के बाद गुरु, से बनने वाला मानव जाति का सम-मात्रा-छन्द। चार-चार मात्राओं का एक साथ पड़ना चौकल कहलाता है।

हारी—गंग छन्द का अन्य नाम। विशेष दे० गंग।

हालावाद—हाला (मदिरा) वाला, मधुशाला और प्याला आदि प्रतीकों द्वार मधुचर्या का वर्णन कर अनन्त की ओर संकेत करने वाली शैली। फिट जेरल द्वारा किये गये उमरखय्याम की रुबाइयात के अनुवाद ने अंग्रेजी कविता को भी इधर आकर्षित किया और उसके द्वारा हिन्दी में भी इसकी लहर आई। हिन्दी में इसके प्रवर्तक हरिवंशराय बच्चन हैं, जिनकी मधुशाला, मधुकलश आदि कविताएँ युवकों के हृदय का हार बन गई हैं। वैसे तो पंत ने भी मधुशाला का एक अनुवाद किया है। (दे० प्रतीकवाद, प्रकृतिवाद, रहस्यवाद)

हाव—भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः ।
हाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ।

—साहित्यदर्पण

भौंह, नेत्र आदि के व्यापार से संभोगेच्छा को बताने वाला और मनोविकारों का थोड़ा प्रकाश करने वाला भाव। यह नायिका का एक अंगज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

हास—वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो हास इष्यते ।

—साहित्यदर्पण

वाणी आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित होना। यह हास्य रस का स्थायी भाव है।

हास्य—विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि से आविर्भूत होने वाला, 'हास' स्थायी, श्वेत वर्ण और प्रमथ (शिवगण) देवता वाला रस। आलम्बन-जिसके आकार, वाणी, चेष्टा आदि से हँसी आए; उद्दीपन—उसकी चेष्टा आदि; अनुभाव—अक्षिसंकोच, मुख का स्मित हो जाना आदि; और संचारी भाव–निद्रा, आलस्य, अवहित्था, आवेग, चपलता, श्रम, हर्ष आदि। साहित्यदर्पणकार इसके छः भेद बताते हैं—बड़े आदमियों में स्मित और हसित मध्यम लोगों में विहसित और अवहसित और निम्न लोगों में अपहसित और अतिहसित। नेत्रों का थोड़ा-सा विकसित होना और होठों का थोड़ा-सा फड़कना 'स्मित' है। उक्त क्रियाओं के साथ दांत भी दीखें तो 'हसित' है, इन सब के साथ मधुर शब्द भी हो तो 'विहसित' है, कंधे सिर आदि में कँपकँपी भी हो तो 'अवहसित' है, आँखों में पानी भी आ जाय तो 'अपहसित' है, और इधर-उधर हाथ-पैर भी पटके जायँ तो 'अतिहसित' है।

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्
हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः।
विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः
तदत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्।
अनुभावोऽक्षिसंकोचवदनस्मेरतादयः
निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः।
ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः।
ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम्।
किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरः कम्पमवहसितम्।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्ग (च) भवत्यतिहसितम्।

—साहित्यदर्पण

उदाहरण—

विंध्य के वासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि मे मुनि वृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं शिला सब चन्द्र मुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

यहाँ दुखारी तपस्वी आलम्बन, शिला को स्त्री बनाने वाले राम का आगमन उद्दीपन, गूढ़ स्मित अनुभाव, चपलता-हर्ष आदि संचारी और हास स्थायी भाव है।

हीरक—तेईस मत्त आदि गुरु अन्त रगण हीर में। २३ मात्राओं, आदि में

गुरु और अन्त में रगण से बनने वाला रौद्राक जाति का सम-मात्रा छन्द। इसमें ६, ६, ११ पर यति होती है।

हेतु (१)—नाटक में रसपोष के लिए प्रयुक्त ३६ नाटक-लक्षणों में से एक। विशेष दे० नाटक-लक्षण।

हेतु (२)—**अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह।**

—साहित्यदर्पण

एक अर्थालंकार, जिसमें हेतु और हेतुमान् का अभेद से कथन होता है। जैसे—'नायिका यौवन का विलास है, लावण्य का मधुर हास है पृथ्वी का भूषण है और युवकों का वशीकरण मन्त्र है।' यहाँ नायिका वशीकरण का हेतु है, पर उसे वशीकरण ही कह दिया गया है। इसी प्रकार उसके विलास, हास और भूषण में भी अभेदाध्यवसायमूलक हेतु अलंकार है।

हेतु-अपन्हुति—अपन्हुति नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० अपन्हुति।

हेतूत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा नामक अर्थालंकार का एक भेद। विशेष दे० उत्प्रेक्षा।

हेला—**हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात्स एव तु।**

—साहित्यदर्पण

प्रथम मनोविकार (दे० भाव) के अत्यन्त स्फुटित होने पर लक्षित होने वाला भाव। यह नायिका का एक अंगज अलंकार है। (दे० नायिकालंकार)

परिशिष्ट १

ग्रन्थ-सारिणी*

संस्कृत

अग्निपुराण	वेदव्यास
अभिनवभारती	अभिनवगुप्त
अलंकारसर्वस्व	रुय्यक
औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
कविकंठाभरण	क्षेमेन्द्र
काव्यप्रकाश	मम्मट (हिन्दी टीकाकर हरिमंगल मिश्र)
काव्यमीमांसा	राजेश्वर
काव्यादर्श	दंडी
काव्यालंकार	भामह
काव्यालंकार	रुद्रट (टीकाकार नमिसाधु)
काव्यालंकार सारसंग्रह	उद्भट
काव्यालंकारसूत्र	वामन (टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर)
चन्द्रालोक	जयदेव
चमत्कारचन्द्रिका	विश्वेश्वर
चित्रमीमांसा	अप्पय दीक्षित
दशरूपक	धनंजय
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन (टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर)
नाट्यशास्त्र	भरत
रसगंगाधर	पंडितराज जगन्नाथ
हिन्दी रसगंगाधर	पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी
लोचन (ध्वन्यालोक की टीका)	अभिनवगुप्त
वक्रोक्तिजीवित	(कुन्तक)
व्यक्तिविवेक	महिम भट्ट
सरस्वती कंठाभरण	भोजराज
साहित्य-चिन्तामणि	वेमभूपाल

*यह आवश्यक नहीं कि लेखक ने इनमें से प्रत्येक ग्रन्थ का उपयोग किया हो; कुछ का उपयोग तो स्पष्ट ही अप्रत्यक्ष और गतानुगतिक रहा है।

साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ कविराज (हिन्दी विमला टीका)
साहित्यमीमांसा	रुय्यक
साहित्यसंजीवनी	श्रीनिवास दीक्षित
साहित्यसूक्ष्मसरणि	श्रीनिवास दीक्षित

हिन्दी

अलंकार-पीयूष	डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'
अलंकार	भगवानदीन 'दीन'
अशोक के फूल	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
आदर्श और यथार्थ	पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव
आधुनिक कवि (भूमिका)	महादेवी, पंत, रामकुमार वर्मा
आधुनिक कवि	डा० सत्येन्द्र
आधुनिक हिन्दी काव्य का इतिहास	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
आधुनिक हिन्दी काव्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल
आधुनिक हिन्दी साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	कृष्णशंकर शुक्ल
आलोचना और उसके सिद्धान्त	डा० सोमनाथ गुप्त
आलोचना के पथ पर	कन्हैयालाल सहल
आलोचना तत्व	नलिनीमोहन सान्याल
उपन्यास-कला	विनोदशंकर व्यास
कविप्रिया	केशवदास
कल्पलता	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
कहानी-कला	विनोदशंकर व्यास
काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद
काव्य कल्पद्रुम	कन्हैयालाल पोद्दार
काव्य के रूप	गुलाबराय
काव्य-दर्पण	रामदहिन मिश्र
काव्य-निर्णय	भिखारीदास
काव्य में अभिव्यंजनावाद	लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
काव्य में रहस्यवाद	रामचन्द्र शुक्ल
काव्य-शिक्षा	श्रीधरानन्द
काव्यालोक	रामदहिन मिश्र
काव्यालोचन के सिद्धान्त	शिवनन्दन सहाय

चिन्तामणि	रामचन्द्र शुक्ल
छन्द प्रभाकर	जगन्नाथ दास 'भानु'
छायावाद	प्रताप साहित्यालंकार
छायावाद और प्रगतिवाद	देवेन्द्रनाथ शर्मा
छायावाद-रहस्यवाद	गंगाप्रसाद पाण्डेय
जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त	लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
त्रिशंकु	अज्ञेय
नवरस	गुलाबराय
नया हिन्दी साहित्य	प्रकाशचन्द्र गुप्त
नयी समीक्षा	अमृतराय
नाट्य-कला मीमांसा	सेठ गोविन्ददास
नाट्य-विमर्श	गुलाबराय
परिमल (भूमिका)	निराला
पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त	पन्त
पिंगल-पीयूष	परमानन्द शास्त्री
प्रगति और परम्परा	डा० रामविलास शर्मा
प्रगतिवाद	शिवदानसिंह चौहान
भारती भूषण	अर्जुनदास केडिया
भारतीय साहित्यशास्त्र	बलदेव उपाध्याय
भाषा-भूषण	जसवन्तसिंह
भ्रमरगीत सार	रामचन्द्र शुक्ल
महादेवी का विवेचनात्मक गद्य	गंगाप्रसाद पाण्डेय
युग और साहित्य	शान्तिप्रिय द्विवेदी
रसकलश	हरिऔध
रसज्ञ-रंजन	महावीरप्रसाद द्विवेदी
रसमंजरी	कन्हैयालाल पोद्दार
रामचरितमानस की भूमिका	रामदास गौड़
रूपक-रहस्य	श्यामसुन्दरदास, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
वक्रोक्ति और अभिव्यंजना	रामनरेश वर्मा
वाङ्मय विमर्श	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
विचारधारा	डा० धीरेन्द्र वर्मा
विचारधारा	डा० अमरनाथ झा

विचार और अनुभूति	डा० नगेन्द्र
विचार और वितर्क	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
विचार और विवेचन	डा० नगेन्द्र
संचारिणी	शान्तिप्रिय द्विवेदी
समीक्षा की समीक्षा	प्रभाकर माचवे
सामयिकी	शान्तिप्रिय द्विवेदी
साहित्य	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
साहित्य और साधना	डा० भागीरथ मिश्र
साहित्य-चिन्तन	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
साहित्य-चिन्ता	डा० देवराज
साहित्य-दर्शन	शचीरानी गुर्टू
साहित्य-पारिजात	मिश्रबन्धु
साहित्य-मीमांसा	डा० सूर्यकान्त
साहित्य-विवेचन	क्षेमचन्द्र सुमन, योगेन्द्रकुमार मल्लिक
साहित्य-संदर्भ	म० प्र० द्विवेदी
साहित्य-समीक्षा	डा० रामकुमार वर्मा
साहित्य-सर्जना	इलाचन्द्र जोशी
साहित्यालोचन	श्यामसुन्दर दास
साहित्यालोचन के सिद्धान्त	रामनारायण यादवेन्दु
सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय
हिन्दी एकांकी	डा० सत्येन्द्र
हिन्दी कविता में युगान्तर	डा० सुधीन्द्र
हिन्दी काव्यधारा	राहुल सांकृत्यायन
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	डा० भगीरथ मिश्र
हिन्दी गीतिकाव्य	ओमप्रकाश अग्रवाल
हिन्दी नाट्यशास्त्र का इतिहास	डा० सोमनाथ गुप्त
हिन्दी साहित्य	श्यामसुन्दर दास
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी	नन्ददुलारे वाजपेयी

अंग्रेजी

A Critical Study of English Poetry	Grierson and Smith
A Dictionary of English Literature	Watt
Aesthetics	B. Croce
A Glossary of Literary Terms	D. S. Norton and P. Rughton
An Apology for Poetry	Sydney
An Essay of Dramatic Poesy	Dryden
Appreciations	Pater
Art	Clibe Bell
Aspects of Modern Poetry	E. Sitwell
Aspect of Novel	E.M. Forster
Craft of Fiction	P. Lubbok
Crown of Wild Olive (Introduction)	Ruskin
Encyclopædia Americana	
Encyplopædia Brittanica	
English Muse	O. Elton
English Prose Style	H. Read
Essays	M. Arnold
Essay on Poetry	Pope
Handbook of Literary Terms	H. C. Yelland, S. C. J. Jones & K.S.W. Easton
History of Criticism	Saintsbury
History of English Literature	Compton Rickett
History of English Literature	Legoui & Cazamian
Introduction to the Study of Literature	Hudson
Judgement and Appreciation of Literature	T.G. Tucker
Making of Literature	James-Scott
Modern Drama	J.W. Marriott
New Criticism	Spingharm
On the Sublime	Longinus
Outlines of Literature	J. Drinkwater

Oxford Companion of American Literature
Oxford Companion of English Literature
Phases of English Poetry —H. Read
Poetics —Atistotle
Practical Criticism —I.A. Richards
Preface to Lyrical Ballads —Wordsworth
Principles of Literary Criticism —I.A. Richards
Reply to the Preface to Lyrical Ballads—Coleridge
Republic —Plato
Secrets of Style —Henry Bett
Shakespearean Comedy —Charlton
Shakespearean Tragedy —Bradley
Short History of English Literature —Legouis
Structure of English Novel —E. Muir
Survey of English Literature —O. Elton
Symbolist Movement in Literature —A. Symons
The English Novel —J. Maddison and K. Garwood
The Forms of Poetry —L. Untermayer
The Idea of Great Poetry —Abercrombie
The Making of English —Bradley
The Nineteen Twenties —A.C. Ward
Theory of Drama —Nicol
Tom Jones (Preface) —Fielding
Tragedy —F.L. Lucas
Twentieth Century —A.C. Ward
What is Art —Tolstoy
Essays in World Classics Series and miscellaneous other essays and articles.

परिशिष्ट २

मूल अंग्रेजी-शब्द तथा ग्रंथ में प्रयुक्त उनके समकक्ष हिन्दी शब्द.

Allegory	अन्योक्ति, रूपक काव्य
Allegorical lyrics	रूपक गीति
Archaism	आर्ष-प्रयोग
Article	लेख
Aside	जनांतिक, अपवार्य
Atmosphere	वातावरण
Autobiography	आत्मकथा
Ballad	आख्यानक-गीति
Barbarism	बर्बर-प्रयोग
Bibliography	ग्रन्थ-सारिणी, अनुक्रमणिका
Biography	जीवन-चरित्र
Blank verse	अतुकान्त
Burlesque	नकल
Caricature	स्वाँग
Character	पात्र
Characterization	चरित्र-चित्रण
Chorus	कोरस
Classicism	शास्त्रीयतावाद
Climax	प्रकर्ष
Comedy	सुखान्त नाटक, कामद
Comic relief	कामद-विश्राम
Conflict	संघर्ष
Context	प्रकरण
Criticism	समालोचना
Copyright	प्रतिलिप्यधिकार
Curtain	यवनिका
Dedication	समर्पण

Detective	जासूसी उपन्यास
Dialogue	कथोपकथन
Diary	दैनंदिनी
Diction	सरणि
Didecticism	उपदेशात्मकता
Digest	नवनीत-पत्रिका
Digression	विषयान्तर
Drama	नाटक
Dramatic conventions	नाटकीय रूढ़ियाँ
Dramatic Irony	नाटकीय व्यंग
Elegy	शोक-गीति
Emotion	भाव, मनोविकार
Epic	महाकाव्य
Epistle	पत्र-गीति
Epithalamium	सहरा
Escapism	पलायनवाद
Experimentalism	प्रयोगवाद
Expressionism	अभिव्यंजनावाद
Free verse	मुक्तक छन्द
Heroic	वीर-आख्यान, रासो
History	इतिहास
Idealism	आदर्शवाद
Impressionism	प्रभाववाद, संवेदनावाद
Intellect	विचार भावना
Interior monologue	अन्तस्थ स्वगत-भाषण
Katharsis	कैथार्सिस
Literature	साहित्य
Lyric	गीति
Mental monologue	अन्तस्थ, स्वगत-भाषण
Monologue	स्वगत-भाषण
Mysticism	रहस्यवाद
Naturalism	प्रकृतिवाद, प्राकृतवाद